तूफान के दौर से
पंजाब

लेखक

क्षितीश

दि वर्ड पब्लिकेशन्स

प्रथम प्रकाशन : सितम्बर १९८४

द्वितीय प्रकाशन : दिसम्बर १९८४

'दि वर्ड' पब्लिकेशन्स द्वारा
८०७/९५, नेहरू प्लेस
नई दिल्ली-११००१९ (फोनः ६४१०४५४) से प्रकाशित

'दि वर्ड' द्वारा फोटोसेट एवं मुद्रित

रु० ६८ (सजिल्द)
रु० ४८ (अजिल्द)

दूसरा संस्करण

इन्दिरा गांधी की हत्या की भविष्यवाणी इतनी जल्दी सत्य हो जाएगी, यह कल्पना नहीं थी। मन को झकझोर डालने वाली इस निर्मम हत्या के पश्चात् देश में जो माहौल बना है, उसमें लीपापोती की नहीं, खरेपन की जरूरत है। यदि अब भी सचाई को सही रूप में पेश नहीं किया गया तो वह राष्ट्र के भविष्य के लिए खतरनाक साबित होगा।

इतनी जल्दी पुस्तक का दूसरा संस्करण पाठकों के स्नेह का द्योतक है। प्रथम संस्करण प्रकाशित होने के बाद घटनाचक्र इतनी तेजी से घटा कि उस पर एक नई पुस्तक लिखी जा सकती है। दूसरी पुस्तक तो नहीं, दूसरा संस्करण आपके हाथ में है। नया जो कुछ कहना था वह इस संस्करण के अन्तिम परिवर्धित अध्याय में कह दिया गया है।

१ दिसम्बर, १९८४

— क्षितीश

अनुक्रम

तीन प्रश्न

एक विदेशी ने एक जापानी विद्यार्थी से पूछा – "तुम संसार का सबसे बड़ा महापुरुष किसे मानते हो?"

विद्यार्थी ने उत्तर दिया – "महात्मा बुद्ध को"।

विदेशी ने दूसरा प्रश्न किया – "अगर कोई महात्मा बुद्ध पर हमला करे तो तुम क्या करोगे?"

"हम उसका सिर काट देंगे" – विद्यार्थी का उत्तर था।

तीसरा प्रश्न – "यदि महात्मा बुद्ध जापान पर हमला करें तब तुम क्या करोगे?"

उत्तर था – "हम महात्मा बुद्ध का सिर काट देंगे।"

दूसरे संस्करण की भूमिका

विश्वास आदमी में आदमी का होता है

३१ अक्तूबर के इंदिरा गांधी के हत्या काण्ड और उसके बाद के दंगों के केवल १५ दिन बाद समाचार पत्रों में एक सिख प्रोफेसर का लेख छपा। उन का भाई भी उन ४-५ दिनों के दंगों में मारा गया था। उस लेख में उन्होंने लिखा था कि मेरी वृद्धा भाभी पूरे भारत को सूनी आंखों से ताक रही है और वे पूरे भारत के सिखों की ओर से पूछ रही हैं – 'बताओ अब हमारा भविष्य क्या है।'

भाभी के इस सवाल को मैं आज के भारत का यक्ष प्रश्न मानता हूं। अगर हम इसका समाधान नहीं कर पाए तो हमारा वही होगा जो युधिष्ठिर के चारों भाइयों का हुआ था। भारत आज जैसा है वैसा नहीं रहेगा।

लेकिन एक और यक्ष प्रश्न है जो मेरी बेटी उस प्रोफेसर से पूछना चाहती है। इंदिरा गांधी को बेअंत और सतवंत पर अपनी रक्षा के लिए पूरा भरोसा था। बावजूद बड़े अधिकारियों के शक के इंदिरा गांधी ने उन्हें हटाने नहीं दिया। इन्हीं 'बहादुर' रक्षकों ने साजिश कर के और घात लगा कर, बिना बचाव की निहत्थी इंदिरा गांधी को, उनके घर के सामने छलनी कर दिया। है ऐसे विश्वासघात का दुनिया के इतिहास में कोई उदाहरण ? ब्रूटस और जूलियस सीज़र दोनों पुरुष और योद्धा थे ! बघनखों से शिवाजी ने जिस अफजल खां को फाड़ दिया उसके हाथ में भी कटार थी और दोनों जानते थे कि वे खेल क्या खेल रहे हैं।

मेरी बेटी का यक्ष प्रश्न है कि बेअंत और सतवंत ने इंदिरा गांधी के साथ जो किया उसके बाद क्या सिखों पर भरोसा किया जा सकता है ? ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका में इस 'बहादुरी' पर जश्न मनाने वालों से लेकर जालंधर और लुधियाना में हिंदुओं को जबर्दस्ती मिठाई खिलाने वालों को गुरुओं का बंदा कहा जा सकता है ? क्या उन्हें किसी भी सभ्य समाज में जगह दी जानी चाहिए ?

बताने की जरूरत नहीं है कि बेअंत और सतवंत कोई सिख समाज के प्रतिनिधि नहीं थे और उनके किए का पाप सभी सिखों पर नहीं है। लेकिन इसी दलील से यूथ कांग्रेस के गुंडे और उनके बदमाश लुटेरे साथी भी क्या हिंदू समाज के प्रतिनिधि रह जाते हैं ? क्या उनके कारनामे पूरे भारत की करतूत थी ? तो फिर आज सिखों को पंजाब ही अपनी शरणस्थली क्यों लगता है ? पंजाब में हैं सिख ५२ प्रतिशत, पर पूरे देश में वे सिर्फ दो प्रतिशत हैं। बहुसंख्यक हिंदू समाज की नीयत में खोट होती और अगर वे खालिस्तान को राई नहीं समझते तो इंदिरा गांधी की हत्या के बाद पंजाब के अलावा सिख कहीं बच सकते थे ? सचाई यह है कि ज्यादातार सिखों को उनके हिंदू पड़ौसियों और दोस्तों ने

बचाया है जबकि अकाल पुरुष के तखत के जत्थेदार के लिए यह बताना जरूरी था कि उन्होंने इंदिरा गांधी की हत्या पर शोक प्रकट करने वाला कोई बयान नहीं दिया है। फिर भारत और हिंदू समाज की भलमनसाहत में सिखों के विश्वास की सभी चूलें क्यों हिल गई हैं ? और अगर वे सही हैं तो इंदिरा गांधी की हत्या के बाद भारत और हिंदू बहुसंख्यकों को सिखों पर भरोसा क्यों करना चाहिए ? ये दोनों यक्ष प्रश्न हैं और इनका उत्तर हिंदू को भी देना है और सिख समाज को भी।

सिखों को बुरा लगता है कि देश के ज्यादातर लोगों के मन में संत भिंडरांवाले आतंकवादी खलनायक थे और स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई को मोटे तौर पर पूरे देश का समर्थन था। इसी तरह अकालियों और अपने को समझदार मानने वाले सिखों की समझ में आना मुश्किल है कि इंदिरा गांधी अकालियों को छकाने वाली और स्वर्ण मंदिर में 'सैनिक हमला' करने वाली खलनायिका ही नहीं थीं। संत भिंडरांवाले की तरह वे जान बचाने के लिए अकाल तखत में छुप कर नहीं बैठी थीं। वे प्रचंड बहुमत से निर्वाचित देश की प्रधानमंत्री थीं और उनकी देशभक्ति और बहादुरी में इनके दुश्मनों को भी कोई संदेह नहीं था। ऐसी इंदिरा गांधी को धोखे से मारना देश को अगर अपने साथ हुआ विश्वासघात लगता है तो यह कोई हिंदू सांप्रदायिक प्रतिक्रिया नहीं है। पूरे सभ्य संसार ने इस हत्या में विश्वासघात देखा है।

इंदिरा गांधी की हत्या से कुछ और गहरी और बड़ी मान्यताएं भी जुड़ी हुई हैं। हिंदुओं में आम धारणा है कि सिख गुरुओं ने हथियार उनके धर्म की रक्षा के लिए उठाए थे और सिख धर्म के रक्षक हैं। दूसरी धारणा यह है कि सिख भारत की खड्गधारी भुजा है और वे सदियों से देश के लिए लड़ते रहे हैं। सिख गुरु हिंदू थे और ज्यादातर सिख धर्म और देश की रक्षा के लिए हिंदू परिवारों में से गए जवान थे। ऐसे सिखों में से कुछ लोग जब अलगाव का नारा देकर हिंदुओं को मारने लगे और विदेशी मदद से खालिस्तान बनाने की कोशिश होने लगी तो हिंदुओं को शक से ज्यादा दुख हुआ। बेअंत और सतवंत के हाथों इंदिरा गांधी की हत्या इसीलिए गैर कांग्रेसी हिंदुओं और गैर हिंदू भारतीयों को भी भारत और मूल मानवीय धर्म के साथ विश्वासघात लगता है।

पिछले दिनों एक सभा में, इस पुस्तक के विमोचन के समय खुशवंत सिंह ने कहा कि एक सिख के नाते उनका सिर शर्म से झुका है। और मैंने कहा कि एक भारतीय के नाते मेरा भी। सिर्फ इंदिरा गांधी की हत्या पर नहीं बल्कि उसके बाद हुए नरसंहार पर भी। खुशवंत सिंह ने कहा था कि हमें मिल कर तय करना चाहिए कि यह देश अब फिर विभाजित नहीं होगा। ऐसे विभाजन को रोकने का एक ही तरीका है कि महाभारत की तरह कौरवों-पांडवों और दोनों तरफ से लड़ कर मरे लोगों का सामूहिक श्राद्ध किया जाए और पंजाब को लेकर पिछले चार साल से जो चल रहा था उसके लिए पूरा देश प्रायश्चित्त करे। शुरुआत के लिए सिख मान लें कि उन्होंने बदला ले लिया और हिंदू मान लें कि उन्होंने सबक सिखा दिया। राष्ट्रीय त्रासदी और शोक की इस घड़ी में मन से किया गया प्रायश्चित्त ही जहर निकाल कर मन और शरीर को शुद्ध कर सकता है। मलबे को हटा कर आपसी विश्वास की नींव पर फिर से नई ईंट रखी जा सकती है। क्या इसके लिए हम तैयार हैं ?

जिन सिखों के विश्वास की चूलें हिल गई हैं उनसे बात कीजिए तो इंदिरा गांधी की हत्या को वे न टाले जा सकने वाले एक तथ्य की तरह बता कर सिखों पर हुए अत्याचार पर आ जाते हैं। सुन कर दुख होता है कि ३१ अक्तूबर से ४ नवंबर तक के दंगों ने उन्हें किस बुरी तरह झिंझोड़ दिया है। और आम तौर पर विश्वास और उत्साह से बलबलाने वाले लोग किस कदर भयभीत हैं। इन लोगों का पंजाब और दोगली अकाली राजनीति से बरसों से रिश्ता कटा हुआ है। ये सिख जरूर हैं, लेकिन

किसी पंजाबी हिंदू से भी कम पंजाबी हैं। फिर क्यों वे अपने गैर पंजाबी परिवेश और जड़ों को छोड़ कर पंजाब जाने की बात करते हैं? क्या उन्हें ढाढ़स बंधाने और फिर से बसाने के लिए शिरोमणि कमेटी, अकाली दल और पंजाब के रईस जाट सिख आगे आ रहे हैं? एक गैर जाट और मध्यप्रदेशी सिख ने मुझे बताया कि पंजाब के बाहर के सिखों का एक जत्था संत भिंडरांवाले से मिलने गया था। इस जत्थे ने संत जी से कहा था कि पंजाब में वे जो कर रहे हैं उससे अपने शहर, गांव और प्रांत में उनकी हालत खराब होती है। अगर उनके साथ भी हिंदू वही करने लगें जो हिंदुओं के साथ पंजाब में संतजी के मरजीवड़े कर रहे हैं तो वे क्या करेंगे? संत जी ने कहा 'कि बाहर के इन सिखों के लिए वे अंतिम अरदास करेंगे।'

जालंधर से आए एक पंजाबी हिंदू ने बताया कि गैर पंजाबी सिखों पर जो गुजरी उससे पंजाब के जाट सिख कोई बहुत चिंतित और परेशान नहीं दिखते। वे लालों (हिंदू) और भापों (शहरी गैर जाट सिखों) में वैसे भी कोई खास फर्क नहीं करते। किसी मजहबी सिख से पूछिए तो वह बताता है कि सैनिक कार्रवाई और उसके बाद के सरबत खालसा के लिए समान रूप से दोषी किसी जाट को तनखइया घोषित नहीं किया गया जबकि गैर जाटों में राष्ट्रपति जैल सिंह और बूटासिंह को भी नहीं छोड़ा गया। काफी गैर पंजाबी सिख मानते हैं कि प्रमुख ग्रंथियों ने अगर इंदिरा गांधी की हत्या के बाद दो टूक बयान दिया होता और दुनिया भर के सदमे और शोक में भागेदारी की होती तो हम लोगों पर इतना कहर नहीं गिरता। लेकिन पंजाब में बैठे ग्रंथियों और अकालियों को समझ नहीं आता कि उनकी सरायों और राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक हित-स्वार्थों से अलग देश भर में सिख बिखरे हुए हैं। शायद उनके लिए तो हम पर ज्यादतियां राजनैतिक तवे पर सेंके जाने वाली कुछ और रोटियां हो जाएंगी।

घावों और चोटों को भुनाने की अकाली राजनीति आजादी के पहले की सांप्रदायिक राजनीति की कोख से जन्मी और लोकतंत्र में पली पनपी है। यह कहना गलत है कि खालिस्तान का नारा पिछले दो-तीन सालों में उठा। मुसलमानों को मिले पाकिस्तान की तरह सिखों के लिए खालिस्तान पर अंग्रेजों और जिन्ना से बाकायदा बातें हुई हैं जिनके दस्तावेज मौजूद हैं। लेकिन तब भौगोलिक और जनसंख्यीय कारणों से अंग्रेज उसे बना नहीं सकते थे, जिन्ना को वह मंजूर नहीं था और सिख खास पंजाव से निकाले जाने से स्तब्ध, हतप्रभ और शरणार्थी थे। वे अपनी मर्जी से और अपना नफ़ा-नुकसान देख कर भारत में रहे लेकिन बाद में अकाली नेताओं ने कुछ ऐसे बरतना शुरू किया जैसे उन्होंने भारत पर एहसान किया हो। १९७३ में पारित आनंदपुर साहिब प्रस्ताव विकेंद्रीकरण और राज्यों की स्वायत्तता का राजनैतिक दस्तावेज नहीं है। अगर होता तो पश्चिम बंगाल में राज करती मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और तमिलनाडु में अलग देश की मांग से निकली द्रविड़ मुनेत्र कड़घम जनता पार्टी के राज में उस पर जरूर विचार करतीं क्योंकि ये दोनों पार्टियां राज्यों को स्वायत्त बनाना चाहती हैं। लेकिन अकाली मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल की कोशिशों के बावजूद उस पर बहस करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। आनंदपुर प्रस्ताव संघीय व्यवस्था को सचमुच संघीय बनाने का आह्वान नहीं, खालसा का वर्चस्व चाहने वाला मसविदा है। वह राज्य को स्वायत्त नहीं, धार्मिक बनाना चाहता है इसीलिए उसे कोई दूसरी राजनैतिक पार्टी विचार के हाथों से नहीं उठाती।

आनंदपुर साहिब प्रस्ताव, पंजाब में हरित क्रांति से आई विपुलता के बाद आया! उसका इरादा पंजाब की विपुलता का देश में वितरण रोकना और उस पर अकाली कब्जा कायम करना था। बेशक जाट सिख किसानों की मेहनत से हरित क्रांति हुई लेकिन क्या देश के साधनों और विकास की नीति

के बिना वह हो जाती ? क्या भाखड़ा-नंगल अकेले पंजाब ने बनाया था या कि उसके लिए धन केन्द्र अर्थात् सारे देश ने लगाया था ? हरित क्रांति के साधन पंजाब के नहीं पूरे देश के थे। लेकिन अकालियों ने ऐसा रवैया अपनाया जैसे उनकी निजी संपत्ति छीन कर कंगलों में बांटी जा रही हो। धीरे-धीरे एक ऐसा वातावरण पंजाब में बना कि जो सिखों का है वह तो धरोहर और योग्यता से उनका है ही, लेकिन जो वे चाह रहे हैं उसे भी हंसी-खुशी न देना उनके साथ अन्याय है। यानी 'चित भी मेरी, पट भी मेरी, और बंटा मेरे बाप का।' संत भिंडरांवाले इसी रवैए को अपना कर हीरो बने। उनकी उद्दंडता और दंभ ने सिखों को बाकी हिंदुस्तानियों से अपने को श्रेष्ठ मानने को प्रेरित किया। अब मामला यह था कि एक तरफ तो अकाली सिखों के खिलाफ हो रहे अत्याचारों और अन्याय पर छाती पीटते थे और दूसरी तरफ संत भिंडरांवाले सिखों को चुनिंदा कौम बता कर आतंक की बंदूक के जरिए देश को कंपकंपाना चाहते थे।

ये दोनों रवैए साथ नहीं जा सकते थे और इसीलिए खुशवंत सिंह सरीखे इतिहासकार को भी उस दिन मानना पड़ा कि सिखों के साथ आजाद भारत में न अत्याचार हुआ है न भेदभाव, बल्कि वे जरा ज्यादा मिले प्यार-सम्मान से लड़िया गए हैं। खुद खुशवंत सिंह अगर स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई से विवेक खो बैठे तो इसीलिए कि वे भी उसे राष्ट्र से ऊपर मानते थे और वहां से संत भिंडरांवाले और उनके मरजीवड़े जो भी कर रहे थे उसे इतना धर्म विरुद्ध नहीं मानते थे कि कार्रवाई के लिए कमर कस के तैयार हों। देश भर के हिंदुओं और गैर हिंदू भारतीयों को जिस रवैए ने सबसे ज्यादा परेशान किया वह यही था कि संत भिंडरांवाले और मरजीवड़े स्वर्ण मंदिर से और स्वर्ण मंदिर का चाहे जो करें, अकाली दल, शिरोमणी कमेटी और प्रमुख ग्रंथी कुछ न करते और सिख समाज भी चुप रहता। लेकिन वहां सैनिक कार्रवाई होते ही – यह दिल्ली की 'हिंदू' केंद्र सरकार के हुकुम पर 'हिंदू' सेना का 'सिख कौम पर हमला' हो जाता है। इससे भड़क कर सिख रंगरूट अगर विद्रोह करें तो उन्हें माफ किया जाना चाहिए, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री को माफी मांगनी चाहिए और बदले में सिख खालिस्तान की मांग भी उठाएं तो उसे जायज माना जाना चाहिए। सिखों को इंदिरा गांधी की हत्या पर जश्न मनाने में इसीलिए कोई बहशीपन नहीं लगा। खुद सिखों का इतिहास गवाह है कि गुरुओं और सिखों से बदला लेने वालों की तलवार से सिखी नहीं मिटी। फिर क्यों इंदिरा गांधी की हत्या को एक अप्रिय तथ्य की तरह नजरअंदाज करने की कोशिश हो रही है ? अगर इंदिरा गांधी की हत्या आत्म-निरीक्षण के लिए सिख नेताओं को प्रेरित नहीं करती और उनमें पछतावे और प्रायश्चित्त की भावना नहीं जगाती तो भारत ही नहीं, सभ्य संसार में उनके लिए क्या जगह होगी ? मैं जानता हूं कि इन दलीलों और अपेक्षाओं को हिंदू संप्रदायवादी कहा जाएगा। लेकिन धर्मनिरपेक्षता अगर हमारे लिए फैशन नहीं है और सर्व धर्म समभाव हमारी एक मूलभूत आस्था है तो ऐसे असुविधाजनक लेकिन ईमानदार सवाल पूछे जाने चाहिएं।

लेकिन ऐसा ही सवाल मैं राष्ट्रप्रेमी हिंदुओं से भी पूछना चाहता हूं। पागल हिंसा से सबक सिखाए जा सकते हैं यह पाठ उनके इतिहास, संस्कृति और धर्म में कहां है ? कौरव-पांडवों ने एक महाभारत लड़ कर सर्वनाश कर लिया। कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र में जीत कर खड़े युधिष्ठिर भी कितने पराजित और अकेले थे। और जिस कृष्ण ने जाति का जहर निकालने के लिए महाभारत करवाया उसी के यादव लोगों ने क्या सबक सीखा ? क्यों वे आपस में लड़ कर खत्म हो गए ? क्यों कृष्ण की रानियों को अर्जुन जैसा योद्धा डाकुओं से नहीं बचा पाया और क्यों अपने वंश का नाश देखने के बाद ही कृष्ण एक साधारण बहेलिए के बाण से मरे ? और क्यों युधिष्ठिर को छोड़ कर द्रौपदी समेत सारे

पांडव गल गए ? ईर्ष्या और प्रतिहिंसा दुधारी तलवारें हैं। इन्हें दोनों हाथों में लेकर जो बाहर के लोगों से लड़ते हैं वे आखिर अपने ही एक हाथ से दूसरा हाथ काट लेते हैं। क्या हिंदू अपने दोनों हाथ काट कर धड़ की तरह पड़े रहना चाहते हैं ?

इकत्तीस अक्तूबर से चार नवंबर तक पाशविक से भी गई गुजरी जो पागल हिंसा हमने देखी उससे क्या हिंदुओं की छाती कुछ ठंडी नहीं हुई ? और जिस हद तक वे समझते हैं कि सबक सिखाना जरूरी था क्या उतना ही बेकसूर खून उनके हाथों पर नहीं लगा है ? क्या वे इंदिरा गांधी के सूतक और सिर पर सवार हुए पागलपन से मुक्त होकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करने को तैयार हैं ? अपने धार्मिक उग्रवाद और आतंकवाद का समाधान सिख अगर नहीं निकाल पाएंगे तो उसकी कीमत उन्हें खुद चुकानी होगी। लेकिन अपनी प्रतिहिंसा की आग से खुद हिंदू कैसे बचेंगे ? उस प्रोफेसर की भाभी के यक्ष प्रश्न का उत्तर उन्हें देना है। अगर सिखों का इस देश में भविष्य नहीं है तो आज जो भारत हमने बनाया है उसका भी भविष्य नहीं है। और अगर सिख भारत में भरोसा नहीं पैदा कर सकते तो पूरी दुनिया तो क्या खालिस्तान में भी कोई बेअंत और सतवंत वही करेंगे जो दिल्ली में उन्होंने इंदिरा गांधी के साथ किया। आपसी भरोसा आदमी का आदमी में होता है, सिखों का हिंदुओं में या हिंदुओं का मुसलमानों में या मुसलमानों का ईसाइयों में नहीं होता। अगर होता तो धार्मिक राज्यों में हिंसा का नाम नहीं होता और धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना भी नहीं होती। जिस युधिष्ठिर ने यक्ष प्रश्नों के उत्तर दिए उसका धर्म ईर्ष्या और प्रतिहिंसा पर नहीं, आदमी में आदमी के भरोसे पर टिका था।

हिन्दी के वरिष्ठ पत्रकार श्री क्षितीश ने सिख इतिहास का मन्थन करके ऐसे तथ्य खोज निकाले हैं जिनसे सामान्य पाठक चौंक सकता है, पर तथ्य तो तथ्य हैं, वे बिना किसी व्याख्या के स्वयं बोलते हैं। किस प्रकार अध्यात्मवाद से खिसकते-खिसकते पंथ भौतिकवाद और सत्तावाद की ओर झुकता गया औरअन्त में राष्ट्रद्रोह तक उतर आया—इतिहास की इस भयंकर त्रासदी का ऐसा विशद विवेचन किसी अन्य पुस्तक में दिखाई नहीं दिया।

सी-४४७, निर्माण विहार
दिल्ली-११००९२

प्रभाष जोशी
(सम्पादक 'जनसत्ता')

ओ नये सवेरे के उपासक !

जिस दिन तेरे गगन में प्रथम प्रभात उदित हुआ था उसी दिन तूने हर्ष-विभोर होकर उसका स्वागत किया था ।

उषा की स्तुति में ऋचाओं के रूप में तेरी वैखरी वाणी का प्रथम उन्मेष हुआ था ।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की तेरी प्रार्थना सार्थक हुई थी ।

उसके बाद प्रकाश और अन्धकार की क्रीड़ा-स्पर्धा चलती रही – कभी एक जीतता, कभी दूसरा ।

तूने पतन की गहरी खाइयां देखीं और उत्थान के उच्चतम शिखरों का स्पर्श किया ।

पर ओ ! (रवि बाबू के शब्दों में–) 'पतन अभ्युदय बन्धुरपन्था युग युग धावित यात्री' – युग युग के यात्री ! तेरी यात्रा निरन्तर चलती आ रही है ।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है । दिन के बाद रात और रात के बाद दिन अवश्यम्भावी है ।

मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि कालरात्रि समाप्त हो गई है ।

पर नया सवेरा ?

वह अभी दूर है ।

उसकी किरणों का आलोक तेरे अन्तःकरण में भले ही फैला हो, बाहर का परिवेश अभी तमसाच्छन्न है ।

इस प्रकार की कालरात्रियां न जाने कितनी बार आईं, पर अकाल पुरुष की कृपा से तूने सब कालों में उन पर विजय पाई ।

ओ जन-गण-मन ! तेरी जय हो । जय हो ।

यह जिम्मेवारी तेरी है, केवल तेरी ।

आकाश के देवता धरती पर अवतार नहीं लेंगे, इस धरती के वासियों को ही आकाश के देवता बनना होगा ।

ओ नये सवेरे के उपासक !

यह नया सवेरा तुझे अपने हाथों से इस धरती पर उतारना होगा ।

अपनी महिमा को पहचान । इतिहास को स्मरण कर, उससे शिक्षा ले ।

तुझमें वह शक्ति है, यह मुझे विश्वास है ।

इसी विश्वास पर राष्ट्र जीवित है ।

१६ सितम्बर, १९८४
(६९वें जन्म दिवस पर)

— क्षितीश

१ वह कालरात्रि : नौबत क्यों आई ?

दहकते सूरज के सिवाय सब घरों के अन्दर थे ।

मई का अन्तिम और जून का प्रथम सप्ताह यों भी उत्तर भारत में, खासकर पंजाब में, भयंकर गर्मी का मौसम होता है । पर यह गर्मी केवल मौसम की नहीं थी । जमीन और आसमान दोनों मिलकर आग बरसा रहे थे, और इन दोनों के बीच रहने वाले लोग एक और सन्ताप से भी पीड़ित थे ।

बंगलादेश के उदय से जिनके हितों को चोट लगी थी, वे सब किसी तरह भारत से उसका बदला लेने के लिए मौके की तलाश में थे । जिन्होंने पाकिस्तान के निर्माण द्वारा भारत का विभाजन करके अपनी साम्राज्य-समाप्ति की किसी तरह भरपाई समझ कर सन्तोष कर लिया था, उनके मिथ्याभिमान को इस बात से चोट लगी थी कि भारत ने उनके बनाये पाकिस्तान को ही खण्डित कर दिया । स्वयं पाकिस्तान तो मर्माहत हुआ ही था, क्योंकि उसका अंगभंग हुआ था, ब्रिटेन और अमरीका भी कम मर्माहत नहीं हुए थे । इसलिए सब प्रच्छन्न रूप से खालिस्तान समर्थन में जुट गए । भारत में भी खालिस्तान के समर्थक यह कहने लगे कि भारत के सहयोग से बंगलादेश बन सकता है, तो पाकिस्तान, ब्रिटेन, कनाडा और अमरीका के सहयोग से खालिस्तान क्यों नहीं बन सकता । खालिस्तान समर्थकों ने यह कभी नहीं सोचा कि बंगलादेश की आजादी की लड़ाई में हिन्दुस्तान ने निर्णायक भूमिका क्यों अदा की । दोनों स्थितियों में कोई समानता नहीं । पश्चिमी पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान को अपना उपनिवेश बना रखा था । चुनावों में भारी बहुमत से विजयी होने पर शेख मुजीब को लोकतांत्रिक सिद्धान्त की दृष्टि से पाकिस्तान का प्रधानमंत्री बनना चाहिए था, पर उसे याह्या खां ने गिरफ्तार करके मारने की तैयारी कर ली थी—जेल में ही उसके मरने से पहले उसकी कब्र खोद ली गई थी । पाकिस्तान सेना ने लगभग एक करोड़ लोगों को शरणार्थी बना कर भारत में खदेड़ दिया था, जिसका सीधा असर भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ रहा था । ऐसे समय भारत सरकार को कार्रवाई के लिए विवश होना पड़ा था । खालिस्तान की माँग के पीछे सिखों के साथ भेदभाव की बनावटी बात के सिवाय और कोई आधार नहीं था ।

गत तीन साल से इसी मिथ्या भावना ने धीरे-धीरे आतंकवाद को बढ़ावा दिया ।

इस आतंकवाद ने हत्याओं, डकैतियों, लूटमार और अराजकता का ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि सारे पंजाब की जनता कराह उठी और 'त्राहिमाम्-त्राहिमाम्' पुकार उठी । बंगला देश के

उदय पर ज़िस इन्दिरा गांधी का भारतवासियों ने 'असुरसंहारिणी दुर्गा' कह कर यशोगान किया था, वे ही कहने लगे कि अब उस देवी को लकवा मार गया है।

भिंडराँवाले स्वयं समझे बैठा था और उसके साथी उसको यही कहते थे कि आप तो साक्षात् भगवान् हैं, आप का कोई क्या बिगाड़ सकता है?

परन्तु कुशल डाक्टर कभी कच्चे फोड़े पर चीरा नहीं लगाता। वह आपरेशन तभी करता है, जब फोड़ा पूरी तरह पक जाए। फोड़ा पूरी तरह पका है या नहीं, यह फैसला भी मरीज को नहीं, डाक्टर को ही करना होता है।

जब ज्ञानी प्रतापसिंह जैसे बुजुर्ग विद्वान् और सही मायनों में सन्त की; 'प्रीत लड़ी' के सम्पादक, प्रगतिशील विचारक, सहजधारी सिख सुमीत की; पंजाब और पंजाबियत के वर्चस्व को बढ़ाने के लिए अहर्निश चिन्तित और कार्यरत, सांसद प्रो विश्वनाथ तिवारी की; अमृतसर जिला जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री हरबंस लाल खन्ना की और 'हिन्द-समाचार' पत्र-समूह के सम्पादक श्री रमेश चन्द्र जैसे व्यक्तियों की निर्मम हत्या कर दी गई, तब पंजाब के जन-जन के मन से आवाज उठने लगी–अब पाप का घड़ा भर गया।

तभी दो जून को प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने राष्ट्र को आकाशवाणी और दूरदर्शन के माध्यम से सम्बोधित किया और अकालियों से हिंसात्मक आन्दोलन बन्द करके अपनी माँगों की समस्या को बातचीत से हल करने की अन्तिम अपील की और उधर सेना को कूच करने का आदेश दे दिया।

अकालियों को वह अपील 'अपील' नहीं कर सकी। कोई २४ घण्टे के अन्दर ७०,००० सैनिक पंजाब में पहुँच गए। उन्होंने न केवल स्वर्ण-मन्दिर के चारों ओर, वल्कि पंजाब के सभी जिलों में किसी भी अवांछनीय घटना के निवारण के लिए उपयुक्त स्थानों पर मोर्चे सँभाल लिये।

३ जून को, अमृतसर में पहले ३६ घंटे का, पीछे बढ़ाकर ६० घण्टे का कर्फ्यू लागू कर दिया। सब रेल, मोटर और विमान-यातायात अवरुद्ध कर दिया। प्रेस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। विदेशियों के प्रवेश पर रोक लगा दी। अटारी और बाघा की सीमा पर आवागमन रोक दिया। इसके साथ ही भारत-पाकिस्तान सीमा पर पंजाब क्षेत्र में सीमा सुरक्षा दल की बटालियन तैनात कर दी गई और पंजाब के साथ लगने वाले अन्य राज्यों की सीमाओं पर भी यह व्यवस्था कर दी कि उन राज्यों में आतंकवादी प्रवेश न कर सकें। इस तरह सारे पंजाब को सील कर दिया गया।

आपरेशन की पूरी तैयारी हो गई। सरकार को यह तो मालूम था कि आतंकवादियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के भारी हथियार जमा कर रखे हैं और उन्होंने मजबूत किलेबन्दी कर रखी है, परन्तु इस बारे में पर्याप्त सूचना नहीं थी कि उनकी संख्या कितनी है? मोर्चों की पूरी तफसील भी मालूम नहीं थी। फिर भी यह निश्चय था कि स्थिति अधिक न बिगड़ने पाए, इसलिए सैनिक कार्रवाई तेज गति से की जानी चाहिए।

इस सैनिक कार्रवाई का नाम स्वयं प्रधानमंत्री ने 'आपरेशन ब्लू-स्टार' रखा था जिसका आधार अकालियों का नीला झंडा और नीली पगड़ी रहा होगा।

इस आपरेशन की सारी कार्रवाई इतनी गोपनीय रखी गई थी कि सेना के पंजाब में प्रवेश से पहले न पंजाब के राज्यपाल श्री भैरवदत्त पांडे को उसकी जानकारी थी, न ही पुलिस महाअधीक्षक श्री प्रीतम सिंह भिंडर को। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के भी बहुत कम मंत्रियों को उसकी भनक थी।

सैनिक कार्रवाई में गति का क्या महत्व है, इसे बंगलादेश के उदाहरण से समझना होगा। सन्

१९७१ में जब पाकिस्तानी सेना ढाका में सब ओर से घिर गई तब उसकी रक्षा के लिए अमरीका ने सातवाँ बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेज दिया। उधर चीन ने पाकिस्तानी सेना के भागने के लिए गोपालपुर में अपना जलयान भेज दिया। प्रश्न यह था कि पाकिस्तानी सेना पहले आत्मसमर्पण करती है, या अमरीकी बेड़ा भारतीय सेना के विरुद्ध कार्रवाई करके पाकिस्तानी सेना को भागने का अवसर पहले देता है। समय की दौड़ थी।

तब भारतीय सेना ने तुरन्त ढाका के राष्ट्रपति भवन पर प्रहार किया। उसके गुम्बद पर ऐसा सटीक निशाना साधा कि वह ढह गया और उसमें रह रहे पाकिस्तानी गर्वनर को अपनी जान बचाने के लिए बंकर की शरण लेनी पड़ी। ऊपर से भारत ने अपने छाताधारी सैनिक उतार दिये। फील्ड मार्शल जनरल मानेक शा ने पाकिस्तानी सैनिकों के नाम सन्देश प्रसारित किया और इस संदेश के छपे पर्चे भी हवाई जहाज से फिंकवाये–"हमें सब मालूम है कि तुम कहाँ से और कैसे भागना चाहते हो। हमने उसकी पूरी नाकेबन्दी कर दी है। अब तुम किसी तरह बचकर नहीं निकल सकते। इधर हमारे ५ हजार छाताधारी सैनिक ढाका में उतर गए हैं। तुम सब तरफ से घिरे हुए हो। इसलिए अपने प्राण गँवाने से बेहतर है, आत्मसमर्पण कर दो।"

पाकिस्तान के ९० हजार सैनिकों ने भारतीय सेना के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया और इतिहास की अभूतपूर्व घटना घटित हो गई। अमरीकी बेड़ा और चीनी जलयान देखते रह गए। उसी प्रकार समय की दौड़ यहाँ भी थी।

भिंडराँवाले की योजना

भिंडराँवाले की व्यापक योजना यह थी:

पंजाब में ५२ प्रतिशत सिख हैं और ४८ प्रतिशत हिन्दू। इन ४८ प्रतिशत हिन्दुओं में भी लगभग २५ प्रतिशत हरिजन हैं। बाकी जो २३ प्रतिशत सवर्ण हिन्दू बचते हैं उनमें से एक-चौथाई को मौत के घाट उतार दिया जाए, तो बाकी तीन चौथाई हिन्दू अपने आप पंजाब छोड़ कर भाग जाएँगे। हरिजनों को मारने की जरूरत नहीं है, क्योंकि बाद में उनको डरा-धमका कर हम सिख बना लेंगे और बाद में उनसे ग़ुलाम-मजदूरों का काम लेंगे।

इस योजना का एक आवश्यक अंग ५ जून को पूरा होना था। उस दिन अमृतसर में ४,००० हिन्दू बुद्धिजीवियों के सफाये की योजना थी। उनकी 'ब्लू-लिस्ट' तैयार हो चुकी थी। इसी तरह अन्य नगरों के भी बुद्धिजीवियों को मारने की साजिश थी। पंजाब भर के मुख्य गुरुद्वारों में हथियार और प्रशिक्षित व्यक्ति पहुँचाये जा चुके थे। इन बुद्धिजीवियों में वकील, डाक्टर, इंजिनीयर, उद्योगपति और शिक्षाविद् शामिल थे। पूरे भारत में सिख सैनिकों और सिख समुदाय के सभी केन्द्रों में जासूसों और तोड़-फोड़ करने वालों का जाल पहले ही बिछाया जा चुका था। भिंडराँवाले-समर्थक लगभग २५० प्रशिक्षित उग्रपन्थी देश के प्रत्येक राज्य में भेजे जा चुके थे। देशभर में संचार-प्रणाली तथा सैनिक यातायात को ठप्प करने के लिए संवदेनशील ठिकानों पर विदेशी एजेण्ट और उग्रपन्थी तैनात कर दिए गए थे।

इस सामूहिक हत्या के लिए ५ जून की रात १० बजे से ६ जून की सुबह नौ बजे तक का समय रखा गया था। अपनाई गई राजनीति के अनुसार स्टेनगनों से लैस युवा

मरजीवड़े आधी-रात को ऐसे लोगों के घर जाकर दरवाजा खटखटाते और दरवाजा खुलते ही वे अपना काम शुरू कर देते।

पाकिस्तान ने विश्वास दिलाया था कि वह बाघा सीमा पर अपनी सेना की ५ डिवीजनें तैनात करेगी। इसमें बख्तरबन्द डिवीजनें भी शामिल होंगी। ये भारत पर हमला करने को तैयार रहेंगी।

इसके अलावा दस हजार पाक सैनिक निहंगों, सिख सैनिकों और प्रशिक्षित ग्रंथियों के भेष में संकेत मिलते ही भारत में घुस जाएंगें।

ये पाक सैनिक सीमावर्ती तीन जिलों–अमृतसर, गुरदासपुर और फिरोजपुर पर कब्जा कर लेंगे। इन जिलों पर कब्जा करने के बाद जम्मू-कश्मीर को जोड़ने वाली एकमात्र सड़क और रेलमार्ग को अवरुद्ध कर ११ जून को बाकायदा खालिस्तान की घोषणा कर दी जाएगी। अमृतसर उसकी राजधानी होगी। स्वर्णमन्दिर में खालिस्तान रेडियो स्टेशन बनेगा। जरनैलसिंह भिंडराँवाले इस खालिस्तान के राष्ट्रपति बनेंगे और मेजर जनरल शाबेगसिंह प्रधान सेनापति। पाकिस्तान, अमरीका और ब्रिटेन तुरन्त इस खालिस्तान को मान्यता दे देंगे।

कहा जाता है कि एक मित्रदेश की गुप्तचर सस्था ने भारत सरकार को इस सनसनीखेज षडयंत्र की सूचना दी थी और उसने पाकिस्तान के एक जनरल और भिंडराँवाले के बीच शक्तिशाली ट्रांसमिटर पर हुई बातचीत का टेप भी केन्द्र सरकार को दिया था।

स्वर्ण-मन्दिर में आपरेशन के बाद प्राप्त गुप्त दस्तावेजों से भी इस षडयंत्र की पुष्टि हुई।

तभी आगई ५ जून की शाम

दिन में कर्फ्यू की कड़ाई के कारण लोग घरों के अन्दर थे, तो दहकता सूरज बाहर, अब शाम को सूरज अस्ताचल को चला गया, तो लोग घरों से निकल कर छतों पर पहुंच गए। उस दिन अमृतसर शहर में किसी की आँख नहीं लगी। सदियों पुराने इस शहर में इतनी लम्बी रात भी कभी नहीं आई।

---

५ जून की रात को सारे पंजाब में कत्ले-आम की जो योजना थी उसका कुछ आभास इस घटना से लग सकता है जो तीन मास बाद पता लगी। 'ब्लिट्ज़' के १ सितम्बर, ८४ के अंक में छपी वह घटना इस प्रकार है–

"अमृतसर से लगभग २५ किलोमीटर दूर तरनतारन के पास मुरादपुरा गांव में ५ जून की रात को गांव के सरपंच सिकन्दर सिंह ने लाउडस्पीकर से घोषणा की कि दरबार साहिब में सेना ने कार्रवाई प्रारम्भ कर दी है, इसलिए पहले दी गई हिदायत के अनुसार हमको भी अपना काम शुरू कर देना चाहिए। .... गांव के ५ युवक–राजू, दर्शनसिंह, कुलदीपसिंह, कुलवंतसिंह और अजमेर सिंह बन्तासिंह के घर इकट्ठे हुए। वहां जमकर शराब पी और राजू के घर से दो तलवारें लेकर निकल पड़े। .... वृन्दावन को हमले का कुछ आभास था, इसलिए वह जानबूझकर छत पर सोया था, ताकि खतरे का संकेत मिलते ही वह सहायता के लिए शोर मचा सके। .... रात को १ बजे कुलदीप सिंह और कुलवंत सिंह दीवार फांद कर घर के अन्दर कूदे। ... बरामदे में वृन्दावन का १५ साल का लड़का मनोज खाट पर सो रहा था। दोनों हलावरों ने उसकी दोनों कलाइयां काट दीं। डर के मारे मनोज खाट के नीचे छिप गया। हमलावर शराब के नशे में खाट पर ही तलवार से वार करते रहे और जब उनको लगा कि मनोज मर चुका है, तब वे घर के अन्दर घुसे। ... अन्दर वृन्दावन की दो लड़कियां थीं–सीमा (१०) वर्ष और ममता (१२) वर्ष। दोनों पर तलवारों से हमला किया गया और वे दोनों मर गईं। जब वृन्दावन की पत्नी वीरा सहायता के लिए चिल्लाई तो हमलावरों ने उसकी बाईं टाग काट दी और

आतंकवादियों के विरुद्ध इतना बड़ा और इतना महत्वपूर्ण आपरेशन संसार के किसी देश में शायद ही हुआ हो। चकराता के पर्वतीय प्रदेश में स्वर्णमन्दिर की प्रतिकृति बनाकर कमांडो ने कार्रवाई करने का अभ्यास किया था। मई के अन्त में ही राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह उत्तर पूर्वी भारत की यात्रा अधूरी छोड़कर दिल्ली आ गए थे। प्रधान सेनापति श्री ए. एस. वैद्य भी श्रीनगर से बीच में ही आगए थे और पंचकुला के विशाल चण्डी मंदिर में जाकर आपरेशन से कई दिन पहले वहाँ सैनिक कार्रवाई का नियंत्रण-कक्ष स्थापित कर आए थे। आपरेशन की अनुमति देने से पहले प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति में कई घण्टे तक विचार-विमर्श हुआ था।

इस आपरेशन का निर्णय कितना कष्टदायक था और इसका परिणाम कितना दूरगामी होने वाला था, इसका अनुभव इसी बात से लगाया जा सकता है कि उस दिन रात भर अपने धैर्य के लिए विख्यात प्रधानमंत्री सो नहीं सकी थीं।

आतंकवादियों ने कैसी तैयारी कर रखी थी, इसकी एक झाँकी श्वेतपत्र के इस विवरण से मिल सकती है–

आतंकवादियों की तैयारी

आतंकवादियों ने असैनिक आवासीय इलाकों में सत्रह मकानों को चुनकर, जो मन्दिर के बाहरी परिसर से ५००से ८०० मीटर की दूरी पर थे, लगभग १०-१० व्यक्तियों की चौकियाँ बनाई हुई थीं। ये निगरानी तथा पूर्व-चेतावनी चौकियाँ वास्तव में हल्की मशीनगनों और अन्य स्वचालित तथा अर्द्ध-स्वचालित हथियारों और गोला-बारूद के भण्डार थे। इन चौकियों को समान संचार उपकरण दिए गए थे ताकि वे अपनी कमाण्ड चौकियों से तत्काल सम्पर्क कायम कर सकें। इसके अतिरिक्त, अन्य ऐसी इमारतों पर भी चौकियाँ बनाई गई थीं जो आसपास की इमारतों से काफी ऊंची थीं जैसे कि गुरु रामदास सराय के पूर्व में ओवरहेड वाटर टैंक, लंगर के साथ पश्चिम की ओर के दो टावर जिनकी अपनी-अपनी सीढ़ियाँ भी हैं और इन सीढ़ियों के वातायनों के स्थानों को बन्दूकों की पोजिशन लेने के रूप में इस्तेमाल किया गया। छतों, छज्जों और दीवारों पर तीन तरफ से रेत के बोरे लगाकर मशीन गन रखने के स्थान बना दिए गये थे। बरामदों के महराबों को चिनाई करके भ कि गया और उनमें छोटे-छोटे छेद रखे गए, ताकि उन छेदों से देखकर गोली चलाई जा सके। इन्हें प चौकियों के रूप में इस्तेमाल किया गया।

तैनातियों की प्रथम पंक्ति–

पूरब की ओर जिधर से वे सबसे अधिक खतरा महसूस करते थे सभी इमारतों की छ

एक बांह घायल कर दी। वीरा बेहोश हो गई। ... दूसरा लड़का अशोक बचकर भागा और पड़ौस में राजू के घुस गया। राजू हमलावरों के गिरोह में शामिल था और उनके साथ मद्यपान में भी शामिल था। उसने अशोक किया में बन्द कर दिया। ... इस बीच वृन्दावन का नौकर स्वर्ण और सबसे छोटा लड़का राजकुमार छिपे रहे। ह गया। १६ वर्षीय राजकुमार के पेट में तलवार घुसेड़ दी। उसकी अंतें बाहर निकल आईं। .... वृन्दावन के पड़ौसी ने बताया कि इसके बाद कुलदीप सिंह और कुलवंत सिंह दीवार फांद कर गुरुद्वारे की ओर भाग गए। .. वृन्दावन सहायता के लिए चिल्लाने की हिम्मत जुटा सका। पड़ौसी रूपलाल का लड़का धर्मवीर दौड़ कर ... हुई। केन्द्रीय सुरक्षा बल के जवानों को सूचना दी। ... ६ जून को कुछ सैनिक जवान आए और वे सरपंच सिंक... नमें से पकड़ कर ले गए। उससे पूछताछ करने पर पांचों अपराधियों का पता लगा। पुलिस उन्हें हवालात में ले गई, ... दिन बाद उन्हें छोड़ दिया ... प्रत्यक्षदर्शी गवाहों के बयानों के बावजूद पुलिस ने अपराधियों के नाम दर्ज नहीं ... केवल यह दर्ज किया कि अज्ञात लोगों ने हमला किया। कहा जाता है कि पुलिस ने इसके लिए एक लाख रु. था। ... वृन्दावन अपने एक साथी हरिमोहन के साथ निकटवर्ती सैनिक कैम्प में गया। वहां एक मेजर ने बताया हमने तो यह केस पुलिस को सौंप दियाथा, पर पुलिस ने अपराधियों को छोड़ दिया लगता है।"

हथियार जमा किए गए थे। इसके अतिरिक्त, उन इमारतों के हर तले की खिड़कियों पर रेत के बोरे लगाकर गोलीबारी के मोर्चे बना लिये थे।

तैनातियों की द्वितीय पंक्ति–

इसी तरह मन्दिर परिसर के आसपास की सभी इमारतों की छतों तथा बीच की मंजिलों पर हथियार जमाए गए थे और बहुत से वैकल्पिक मोर्चे तैयार किए गए थे।

अकाल-तख्त पर प्रमुख तैनाती–

चूँकि अकाल-तख्त पश्चिमी स्कन्ध में परिक्रमा के पीछे की ओर स्थित है, इसलिए इसके पूरब में स्थित खुले स्थान को "किलिंग ग्राउण्ड" के रूप में विकसित किया गया था और स्वयं अकालतख्त से यहां कारगर गोलीबारी की गई। गोलीबारी अकालतख्त से दायीं तथा बायीं ओर की ईमारतों व तोशाखाना से भी की गई। अकालतख्त की इतनी अच्छी तरह से किलेबन्दी की गई थी मानो वह किसी आधुनिक सेना का मोर्चा हो। तहखाने से ऊपर की ओर बन्दूकें लगाने की जगह बना ली गई थी और ये बन्दूकें फर्श, खिड़कियों, छत, रोशनदानों, पहली मंजिल और ऊपर की मंजिलों पर भी लगा दी गई थीं। आतंकवादियों ने बन्दूकें तान रखने के लिए दीवारों तथा संगमरमर को काट-काटकर छेद बना रखे थे।

आतंकवादियों के प्रतिरोध का स्वरूपः

सैनिक कार्रवाई के दौरान आतंकवादियों ने जिस तरह का प्रतिरोध प्रदर्शित किया उसका नमूना इस प्रकार हैः

निगरानी चौकियों की घेरेबंदी द्वारा पूर्व चेतावनी और आक्रामक कार्रवाई; और गोलीबारी पर चतुराईपूर्ण नियंत्रण तथा पहली और दूसरी रक्षा-पंक्तियों की वैकल्पिक स्थितियों का उपयोग। यह बिल्कुल साफ था कि हथियारों को बड़ी चतुराई से जमाया गया तथा गोलीबारी की गई। उदाहरण के लिए, जबकि राइफलों और स्वचालित हथियारों का इस्तेमाल निगरानी चौकियों से किया गया, पहली और दूसरी रक्षा पंक्तियों में स्टैन मशीन कारबाइनें ही मुख्य हथियार थे क्योंकि मुख्य परिसर के इर्द-गिर्द २५-३० गज से ज्यादा की दूरी शायद ही कहीं थी। गोलीबारी का बहुत प्रभावशाली तालमेल रखा गया। चुने गए मारक-स्थान (किलिंग ग्राउंड) पर सभी तरफ से गोलीबारी की जाती रही। सांमित टैंक-भेदी साधनों को बहुत अच्छी तरह से व्यवस्थित किया गया था और उनका इस्तेमाल केवल तभी किया गया जब कोई यांत्रिक वाहन उसकी रेंज में आया।

आतंकवादियों ने स्वर्ण-मंदिर को वास्तव में एक ऐसे किले में बदल दिया था, जहां से वे उन्हें चुनौती देने वाले किसी भी अर्द्ध-सैनिक अथवा सैनिक बलों पर आक्रमण कर सकें। उन्होंने सैनिक कार्रवाई और विस्फोटक पदार्थों तथा उन्नत हथियारों के प्रयोग का व्यापक प्रशिक्षण प्राप्त किया हुआ था। उन्होंने अपनी ही संचार व्यवस्था बना रखी थी और कई महीनों के लिए पर्याप्त मात्रा में अनाज जमा कर रखा था। भूतपूर्व अनुभवी सैनिकों द्वारा उन्हें प्रशिक्षण दिया गया था और युद्ध की योजना बड़े कौशल से बनाई गई थी, जिससे कि मंदिर परिसर के तहखानों, भूमिगत रास्तों, गुप्त जगहों, घुमावदार सीढ़ियों, निगरानी चौकियों तथा टावरों का सामरिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक उपयोग किया जा सके। कई प्रकार की वर्दियाँ पहने ये आतंकवादी अच्छे नियमित सैनिकों की तरह प्रशिक्षित था हथियारबंद थे। पंजाब में आतंकवादियों द्वारा की गई हत्याओं, बैंक डकैतियों और आगजनी के रीके से पता चलता है कि वे हथियारों के इस्तेमाल में कितना अच्छा प्रशिक्षण पाए हुए थे। उन्हें भाग कलने और पूजा-स्थानों में शरण प्राप्त करने का व्यापक संरक्षण प्राप्त था।

और ४ जून को सीमा सुरक्षा बल तथा केन्द्रीय रिजर्व पुलिस ने उग्रवादियों की मोर्चेबन्दी का लेने के लिए छिट-पुट गोलीबारी की थी। सोचा था कि शायद इससे स्थिति की गम्भीरता को समझ जाएं और सेना को स्वर्ण-मन्दिर में न घुसना पड़े, खून-खराबा न हो। पर ़कवादी भी कच्ची गोली नहीं खेले थे। ५ जून की शाम को लाउड-स्पीकरों पर बार-बार आतंकवादियों से आत्मसमर्पण की अपील की गयी। शुरू में १२९ व्यक्तियों ने आत्मसमर्पण किया

भी, पर इसके बाद आत्मसमर्पण की अपील का उन्होंने गोलियों से जवाब देना शुरू कर दिया।

शाम को ७ बज़े सेना ने स्वर्णमन्दिर की परिधि में उन महत्वपूर्ण इमारतों को हस्तगत करना प्रारम्भ किया जिन पर आतंकवादियों ने मोर्चेबन्दी कर रखी थी।

शाबेगसिंह के निर्देशानुसार आतंकवादियों ने हरमन्दिर साहब को उड़ाने के लिए सरोवर के पानी में शक्तिशाली विस्फोटक छिपा रखे थे। विदेशों में प्रशिक्षित विस्फोट-विशेषज्ञों के कवच के रूप में एक दर्जन मरजीवड़े मन्दिर के अन्दर और छत पर तैनात थे। ये विस्फोटक रात गहराने पर फटने थे। सेना के जनरलों को इसका पता था। शाम को मन्दिर परिसर का पूरी तरह जायजा लेने के लिए वे निकटवर्ती इमारतों की छतों पर चढ़े और पवित्र मन्दिर को बचाने के लिए उपाय सोचते रहे।

उन्होंने दो उपाय सोचे—एक तो स्वर्ण-मन्दिर के चारों ओर बिछे विस्फोटकों को बेकार करना और दूसरे गुरु रामदास सराय में टिके अकाली दल के नेता सन्त हरचन्द सिंह लोंगोवाल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के प्रधान जी. एस. तोहड़ा को अलग-थलग कर देना ताकि उनके प्राण बचाये जा सकें। क्योंकि उग्रवादी उनकी जान के भी गाहक थे।

यह भी याद रखने की बात है कि श्री तोहड़ा ने भिण्डराँवाले को मनाने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी। हालाँकि भिंडराँवाले पहले गुरु नानक निवास को और बाद में अकालतख्त को अपनी हिंसात्मक गतिविधियों का केन्द्र उनकी अनुमति के बिना नहीं बना सकते थे। जब भिंड़राँवाले नानक निवास छोड़कर पाकिस्तानी जनरल के परामर्श से अकालतख्त में जाकर जम गए, तब किसी पत्रकार ने श्री तोहड़ा से पूछा था कि जिस अकालतख्त को उसके निर्माता ने भी कभी अपना निवास स्थान नहीं बनाया वहाँ भिंडराँवाले कैसे जम गए, तब तोहड़ा ने कहा था—"भिंडराँवाले तो बादशाह हैं, वे कहीं भी ठहर सकते हैं।" पर जब भिंडराँवाले भस्मासुर बनकर इन सब वर-दाताओं के सिर पर ही हाथ रखकर उनके दिये वरदान की सत्यता की जाँच करने लगे, तब लोंगोवाल और तोहड़ा दोनों का पांनी उतर गया। जब से भिंडराँवाले ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के मंत्री गुरुचरण सिंह पर श्री सोढ़ी की हत्या की साजिश का आरोप लगाया था और तोहड़ा ने उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की थी, तबसे तोहड़ा और भिंडराँवाले में खिंचाव और बढ़ गया था। कहा जाता है कि तोहड़ा ने स्वयं पंजाब के राज्यपाल श्री पांडे के पास जाकर सैनिक कार्रवाई की स्वीकृति दी थी।

आपरेशन शुरू

तब खास तौर से प्रशिक्षण देकर तैयार किए गए आत्मघाती कमांडो का पहली बार प्रयोग किया गया। उनकी ५ टोलियाँ बनाई गईं। एक-एक टोली में ४ जवान और एक अफसर रखा गया। अफसरों को इसलिए रखा गया था कि कहीं उत्तेजना में आकर जवान हरमन्दिर की तरफ गोली न चला दें।

पहली टोली ५ गोताखोरों की थी। वह जलियाँवाला बाग की ओर घण्टाघर से प्रविष्ट हुई। उन्होंने तैराकी के काले सूट पहन रखे थे। उन्होंने अपने जूते उतारे, सिर कपड़े से ढके, उनमें से कइयों की दाढ़ी लहरा रही थी, उन्होंने झुक कर संगमरमर की सीढ़ियों को प्रणाम करके श्रद्धापूर्वक हाथ मस्तक से लगाए, और अपने मुँह से गुरुवाणी का उचारण करते हुए चुपचाप आगे बढ़े।

कोई युद्धोन्माद नहीं, कोई जयघोष नहीं। उन्हें चुपचाप दर्शनी ड्योढ़ी से खिसक कर परिक्रमा पथ से होते हुए सरोवर में घुसना था ताकि विस्फोटकों को हटा सकें। रात के साढ़े दस बजे थे।

लगता है कि आतंकवादियों को आपरेशन का सही समय मालूम था। वे घात में ही बैठे थे। कमांडो की टोली ज्योंही ड्योढ़ी में घुसी कि उन पर गोलीवर्षा होने लगी। एक-एक करके कमांडो बतखों की तरह ढेर होते गए। पर इस हल्ले में एक जवान सरोवर के तट तक पहुँच गया। उसके पेट में गोली लगी थी। वह वहीं गिर पड़ा। खून की धार उसके पेट से फूट पड़ी। वह अपने पीछे आने वाले साथियों को गिरते देखता रहा। तब तक और चारों तरफ से गोलियाँ बरसने लगीं। मैन-होलों में छिपे आतंकवादी कूद कर बाहर निकले, जवानों पर बम फेंके और लोहे के पिलबाक्सों के पीछे जा छिपे। कहर बरसना शुरू हो गया।

तुरन्त सरोवर को पार करने की योजना छोड़नी पड़ी। सैनिकों को आदेश हुआ कि वे गुरु रामदास सराय की ओर से सीधे अकालतख्त की ओर बढ़ें – जिसे आतंकवादियों ने पूरी तरह सैनिक व्यूह रचना करके अजेय दुर्ग बना रखा था और जो भिंडराँवाले तथा उसके उन साथियों का शरणस्थान था, जो प्राण रहते सब तरह से मरने-मारने पर उतारू थे।

यह विचित्र आपरेशन था। हरमन्दिर साहब पर तो गोली चलानी नहीं थी, सख्त ताक़ीद जो थी, भले ही हरमन्दिर साहब से गोलीबारी जारी थी। अब जो सैनिक टोली आगे बढ़ी उसके पास कोई घातक हथियार नहीं थे, केवल गैस के सिलिंडर थे, जिनसे गैस छोड़कर वे आतंकवादियों को बाहर निकालना चाहते थे। उनके पीछे-पीछे आग बुझाने के उपकरण पीठ पर बाँधे जवान भी आगे बढ़े। जिसका सीधा अभिप्राय यह था कि आतंकवादियों की गोलीबारी के कारण यदि इन गैस के सिलिंडरों में आग लग जाए, तो बुझाया जा सके।

परन्तु गैस के गोले भी आतंकवादियों को अपनी खोहों से नहीं निकाल सके, क्योंकि उन्होंने रेत के बोरों और ईंटों की दीवारों से ऐसी किलेबन्दी कर रखी थी कि गैस अन्दर पहुँच ही नहीं पाई। फिर हवा का रुख भी उलटा था।

सेनापतियों ने तुरन्त योजना में फिर परिवर्तन किया। अब उन्होंने ऐसी तेज लाइट लगाकर बख्तरबन्द गाड़ी परिक्रमा पथ पर भेजी कि एकदम चकाचौंध हो जाये। खुली आँख से देखने पर इतनी तेज रोशनी आदमी को अन्धा भी कर सकती थी। परन्तु यह तेज रोशनी भी उग्रवादियों को अकालतख्त से बाहर नहीं निकाल सकी। उलटे उन्होंने इतनी अंधाधुंध गोलीबारी शुरू कर दी कि परिक्रमा का पूरा पथ सीधा 'कत्लगाह' बन गया। आतंकवादियों ने हथगोलों की भरमार कर दी। मशीनगनों से गोलियों की बाढ़ लगा दी जो एक मिनट में ८०० राउंड गोलियाँ छोड़ रही थीं।

जितने अधिक जवान और अफसर इस स्थान पर मारे गए, वह कल्पनातीत था। अकालतख्त की छत से, झरोखों से, संगमरमर काट-काट कर बनाए गए छेदों से और अकालतख्त की हरेक मंजिल से भयंकर विषधर साँपों की तरह फुफकारती गोलियाँ आतीं और जवानों को धराशायी कर जातीं।

एक पर एक योजनाएँ विफल होती जा रही थीं। और उधर समय बड़ी तेजी से बीतता जा रहा था। अगर दिन निकलने से पहले अकालतख्त से यह अग्नि-वर्षा बन्द नहीं की जा सकी, तो एक और खतरा सामने मँडरा रहा था।

एक और खतरा

खतरा यह था कि ज्योंही पंजाब के गाँवों में पता लगेगा कि सेना स्वर्ण-मन्दिर में घुस गई है,

त्योंही गाँव के गाँव उलट पड़ेंगे। लाखों लोग भावुकता में आकर स्वर्ण-मन्दिर की ओर चल पड़ेंगे। यह कहना बहुत आसान है कि सेना थी तो सही, सबसे निबट लेती। पर एक सीमा होती है। सेना कितने लोगों से निबटती। फिर वह भीड़ यदि हिन्दुओं को मारना प्रारम्भ कर देती, तो जो पंजाब आतंकवादियों की गोलियों से ध्वस्त नहीं हुआ वह उस सम्प्रदायिकता की आग से विना भस्म हुए नहीं रह सकता था। यह खतरा काल्पनिक नहीं था, इसके प्रमाण मिलने शुरू हो गए थे।

आसपास के गाँवों से लोग अमृतसर आने लगे थे। हेलिकॉप्टर से निरीक्षण करते गश्ती-दस्ते जहाँ लोगो को इकट्ठा होते देखते वहीं वायरलेस से पुलिस अधिकारियों को यह संदेश पहुँचाते कि "गलियों, मुहल्लों और सड़कों पर जहाँ भी भीड़ जमा होते देखो, वहीं शूट करो।" परन्तु इसके बावजूद गाँवों में, जहाँ अब तक साम्प्रदायिक सौहार्द रहा था, तनाव बढ़ता जा रहा था।

अमृतसर से कोई २५ किलोमीटर दूर गोलवाड़ गाँव में बन्दूकें, लाठियाँ, कुल्हाड़ियाँ तथा अन्य पारम्परिक हथियार लेकर ३०,००० आदमी एकत्र हो गए और बाबा विद्धि चन्द महन्त के नेतृत्व में वे अमृतसर की ओर बढ़ने लगे। वे हिन्दुओं को मारते जा रहे थे तथा मन्दिर को बचाने की कसम खाते जा रहे थे। अजनाला के पास और अमृतसर के हवाई अड्डे राजासाँसी के पास भी भीड़ जमा होने लगी। तब उन्हें रोकने के लिए टैंक भेजने पड़े। इसी प्रकार बटाला और गुरुदासपुर के चारों ओर भी भीड़ जमा होने लगी थी।

भिंडराँवाले के पूर्व मुख्यालय चौक मेहता पर भी भारी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। वहाँ सेना का गशतीदल तुरन्त भेजना पड़ा। दूध और दुग्ध-जन्य पदार्थों के लिए विख्यात वेरका में पंजाब सशस्त्र पुलिस भीड़ को नियंत्रण में नहीं रख सकी। भीड़ ने दो सिपाहियों को मार दिया और उनकी राइफलें छीन लीं। अचानक एक गश्ती हेलिकॉप्टर ने भीड़ को आगे बढ़ते देख लिया और सेना की टुकड़ी भेजकर साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने नहीं दिया।

सेनानायक जानते थे कि ऐसे समय धीरे-धीरे भीड़ बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों भीड़ बढ़ती है, त्यों-त्यों उसका गुस्सा भी बढ़ता है। यदि उस समय कोई कठोर कदम न उठाया जाए तो अकेले अमृतसर के चारों ओर कितने ही जलियाँवाला बाग बन जाएँ।

सैनिकों ने सरोवर के इर्द-गिर्द के क्षेत्र में उत्तरी द्वार और दक्षिण में पुस्तकालय के भवन में प्रवेश किया। पुस्तकालय भवन में अनेक ठिकानों पर मशीनगनें लगी थीं जहाँ से आतंकवादी गोलीबारी कर रहे थे और हथगोले फेंक रहे थे। कार्रवाई के इस चरण में पुस्तकालय में आग दिखाई दी। आग को बुझाने के लिए सेना के अग्निशमन दल बार-बार दौड़े, लेकिन आतंकवादियों की मशीनगनों की गोलियों ने सारी कोशिशें नाकाम कर दीं। जब तक आतंकवादियों की गोलीबारी के ठिकानों पर काबू पाया गया, तब तक पुस्तकालय जल चुका था और उसके साथ के तोशाखाना को जो नुकसान पहुँचना था, पहुँच चुका था। तब तक मध्यरात्रि का १ बज चुका था। समय बड़ी तेजी से भागा जा रहा था।

लोंगोवाला और तोहड़ा का आत्मसमर्पण

सेनानायकों ने लोंगोवाल और तोहड़ा को निकालने के लिए फिर कमांडो की टोलियाँ भेजीं। उधर लाउडस्पीकरों से घोषणा की गई कि इस समय गुरु रामदास सराय से निकलने में कोई खतरा नहीं है, इसलिए तुरन्त आत्मसमर्पण कर देना श्रेयस्कर है।

सैनिकों ने अपनी जान हथेली पर लेकर लंगर और सराय को स्वर्णमन्दिर और अकालतख्त की ओर से काट दिया। आत्मसमर्पण की अपील पर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के कर्मचारियों ने और ..ाय में ठहरे मुसाफिरों ने, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, आत्मसमर्पण कर दिया। लगभग ३५० लोगों ने गुरु नानक निवास के पास आत्मसमर्पण किया। इन्हीं आत्मसमर्पण करने वालों में लोंगोवाल और तोहड़ा भी थे।

इनके आत्मसमर्पण को रोकने के लिए आतंकवादियों ने उनपर गोलियां बरसाईं और हथगोले फेंके। वे नहीं चाहते थे कि ये लोग आत्मसमर्पण करें। गोलियों और हथगोलों से आहत होकर ७० व्यक्ति मारे गए जिनमें ३० महिलाएँ और ५ बच्चे भी शामिल थे।

इन ७० लोगोंके मारे जाने का रहस्योद्घाटन पहली बार सरकारी श्वेत-पत्र से ही हुआ। इससे पहले यह तथ्य सामने नहीं आ पाया था। कितने हृदयहीन थे ये आतंकवादी! इन निरपराध लोगों ने, स्त्रियों ने और मासूम बच्चों ने आतंकवादियों का क्या बिगाड़ा था? ये तो मन्दिर को पवित्र और सुरक्षित स्थान समझकर अपनी श्रद्धा-भक्ति निवेदन करने गए थे। उन्हें क्या पता था कि आतंकवादी उनका बंधक के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे।

आतंकवादियों की इस गोलीबारी में वह गुरुचरण सिंह भी मारा गया जिस पर भिंडराँवाले ने सोढी की हत्या की साजिश का आरोप लगाया-था। वह बग्गासिंह भी मारा गया जो खुले आम धार्मिक आतंकवाद की आलोचना करता था। परन्तु कमांडो के जवान इस अग्नि-वर्षा में से लोंगोवाल और तोहड़ा को जीवित बचा लाने में सफल हो गए।

तब तक प्रातःकाल के ४ बज चुके थे। कालरात्रि का अन्तिम प्रहर प्रारम्भ हो गया था।

शुरू में अकालतख्त पर प्रहार करने का कोई इरादा नहीं था। किन्तु जब बारम्बार आत्मसमर्पण की अपील के जवाब में धुँआधार अग्नि-वर्षा जारी रही और एक के बाद एक सैनिक धराशायी होते गए, तब पहले हेलिकॉप्टरों ने उड़ान भरकर स्थिति का पूरा जायजा लिया और उसके बाद उनके संकेत के अनुसार बख्तरबंद गाड़ियाँ भेजी गईं। आतंकवादियों ने टैंकभेदी राकेट का प्रयोग किया, जिसकी सेना को भनक भी नहीं थी कि आतंकवादियों के पास ऐसे राकेट भी हो सकते हैं।

अकालतख्त पर कार्रवाई

तब परिक्रमा पथ में टैंक भेज दिये गए। पहले ही गोले से अकालतख्त का गुम्बद गिर गया। छत पर मोर्चा जमाये आतंकवादियों में भगदड़ मच गई। इधर टैंकों की छाया में सेना के जवान भी आगे बढ़े। सबेरा होने तक अकालतख्त में सभी बन्दूकधारियों के विरुद्ध कार्रवाई करने में सेना प्रभावी रूप से सफल हो गई।

अकालतख्त में छिपे आतंकवादियों के मशीनगनों के ठिकानों को शान्त करने के बाद सैनिक अकालतख्त में घुसे। इसके बाद प्रत्येक कमरे में मुठभेड़ शुरू हो गई। आतंकवादी पहली तथा नीचे की मंजिल की ओर भागने लगे।

इसके बाद एक धमाका हुआ। सैनिकों ने स्वयं आतंकवादियों के बीच आपस में निचली मंजिल तथा तहखाने में गोलीबारी की आवाजें सुनीं। ऐसा लगता है कि अधिकांश लोग अपनी जान देने के बजाय आत्मसमर्पण के पक्ष में थे। परन्तु भिंडराँवाले के साथी आत्मसमर्पण के सर्वथा विरुद्ध थे। दोनों पक्षों में आपस में गोलीबारी शुरू हो गई।

कुछ आतंकवादियों ने अकालतख्त से बाहर भागने की कोशिश की, ताकि वे कुछ भागों को सैनिकों के कब्जे से छुड़वा सकें, परन्तु उन्हें पीछे हटा दिया गया।

इसके बाद १० आतंकवादियों की एक टोली ने सफेद झंडा लिये हुए आत्मसमर्पण कर दिया। एक-एक कमरे में मुठभेड़ें चलती रहीं और सैनिकों ने अकालतख्त के मुख्य भाग को आतंकवादियों से मुक्त करा लिया, हालांकि अकालतख्त के तहखानों और निचली मंजिल से मुकाबला चलता रहा।

५ जून की रात को ही सेना को पता लग गया था कि भिंडराँवाला के आदेशानुसार समुन्द्री हाल में ही लोंगोवाल और तोहड़ा की हत्या करने और हरमन्दिर साहब को उड़ा देने की योजना है और इसके बाद अकालतख्त के तहखाने में बनी सुरंग से धूड़ा साहिब के गुरुद्वारे में पहुँच कर वहाँ से भिंडराँवाला और शाबेग सिंह किसी अज्ञात स्थान को भाग जाएँगे।

सेना ने इसीलिए पहले हरमन्दिर साहब को उड़ाने के लिए पानी के नीचे छिपाये गए विस्फोटकों को हटाने का प्रयत्न किया और उसके बाद लोंगोवाल और तोहड़ा को जीवित निकालने का। यदि सेना को अपनी उस कार्रवाई में घण्टे भर की भी देर हो जाती तो लोंगोवाल और तोहड़ा को मरवाकर भिंडराँवाला और शाबेग सुरंग से निकल चुके होते। भिंडराँवाला ने श्री संधु को इसी योजना की पूर्ति के लिए हरमन्दिर में भेज रखा था।

६ जून की दुपहर को सेना ने लाउडस्पीकरों पर पुनः आत्मसमर्पण की अपील की। फलस्वरूप २०० आतंकवादियों ने आत्मसमर्पण कर दिया, जिनमें से २२ व्यक्ति हरमन्दिर साहब से भी आए थे। प्रमुख ग्रन्थी तथा अन्य दो ग्रन्थी हरमन्दिर साहब में सकुशल पाये गए।

अकालतख्त के तहखाने और निचली मंजिल से लगातार जो प्रतिरोधी कार्रवाई चलती रही, उस पर भी ६ जून की रात को काबू पा लिया गया। प्रतिरोधक कार्रवाई पर पूरी तरह काबू पा लेने के बाद सैनिकों ने निचली मंजिल और तह्खाने की पूरी तरह तलाशी लेनी शुरू की। अकालतख्त की सबसे निचली मंजिल पर ३४ शव पाये गए—जिनमें भिंडराँवाले, उसके उत्तराधिकारी बनने वाले अमरीक सिंह तथा सेना से भ्रष्टाचार के आरोप में निकाले जाने के बाद प्रतिशोध की भावना से भिंडराँवाले के साथ शामिल होकर पूरी सैनिक व्यूह-रचना करने वाले शाबेग सिंह के शव भी थे ।

बाद में जब पत्रकार अकालतख्त के तहखाने में गए, तब घुटने-घुटने तक खाली कारतूसों के ढेर लगे थे—इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि अकालतख्त से कितनी भारी गोलीबारी हुई होगी।

सरकारी श्वेतपत्र के अनुसार कुल ५४४ उग्रवादी मारे गए और १२१ घायल हुए तथा ४७१२ गिरफ्तार किए गए। इनमें से स्वर्णमन्दिर परिसर में ४९३ आतंकवादी मारे गए और ८६ घायल हुए।

सेना के चार अधिकारी, चार जे. सी. ओ. और ८४ जवान स्वर्णमन्दिर आपरेशन में मारे गए। एक जे. सी. ओ. और ८ जवानों को छोड़कर बाकी सबकी जान स्वर्णमन्दिर परिसर में ही गई। १५ अधिकारी, १६ जे. सी. ओ. और २५३ जवान घायल हुए।

इतनी अधिक संख्या में सैनिकों का हताहत होना ही इस बात का सबूत है कि सैनिकों ने कितने संयम और धैर्य से काम लिया और इस बात का पूरा ध्यान रखा कि हरमन्दिर साहब को कोई क्षति न पहुँचे। यदि अकालतख्त को किला बनाकर वहाँ से गोलीबारी निरन्तर जारी न रहती और बारम्बार चेतावनी देने पर आतंकवादियों ने आत्मसमर्पण कर दिया होता, तो अकालतख्त को भी कोई क्षति न पहुँचती।

अमानवीय नृशंसता

आतंकवादियों की नृशंसता की कितनी ही कहानियाँ इस आपरेशन से पहले ही लोगों की जवान पर थीं । आपरेशन के दौरान भी अपनी अमानवीयता का परिचय देने से वे बाज नहीं आए । जब सेना की अपील पर गुरु नानक निवास से और गुरु रामदास सराय से महिलाओं और छोटे-छोटे बच्चों सहित बहुत से नागरिक समर्पण करने के लिए बाहर आए तो आतंकवादियों ने गोलियाँ चलाकर ७० व्यक्तियों की हत्या कर दी जिनमें ३० महिलाएँ और ५ बच्चे भी शामिल थे । दो कमीशन प्राप्त अफसरों को आतंकवादियों ने पकड़ लिया और घोर अमानवीय तरीके से उनकी हत्या कर दी । एक निहत्था डाक्टर जो स्वर्णमन्दिर में घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करने के लिए गया था, उसके हाथ काट डाले और फिर हत्या कर दी । एक जूनियर कमीशंड अफसर की चमड़ी काटकर उसके शरीर के अन्दर बम रखा और उसे आग लगा कर अकालतख्त की ऊपरी मंजिल से नीचे फेंक दिया ।

५ जून की कालरात्रि को केवल स्वर्णमन्दिर में ही आपरेशन नहीं हुआ, बल्कि पंजाब भर में ऐसे ४२ स्थानों पर सैनिकों ने आतंकवादियों से अधिकारियों के समक्ष आत्मसमर्पण करने की बार-बार अपील की । पर जब आतंकवादियों पर कोई असर नहीं हुआ, तो अलग-अलग चरणों में सेना इन परिसरों में घुसी और कार्रवाई प्रारम्भ की ।

कुछ स्थानों पर सामान्य प्रतिरोध हुआ, किन्तु मोगा और मुक्तसर के गुरुद्वारों में आतंकवादियों ने कड़ा मुकाबला किया । फरीदकोट, रोपड़, पटियाला और चौक मेहता पर भी आतंकवादियों ने सैनिकों पर गोलियाँ चलाईं । चौक मेहता, रोपड़ और पटियाला के गुरुद्वारों में काफी हथियार बरामद हुए । सबसे कड़ा मुकाबला गुरुद्वारा मुक्तसर में हुआ । पर ६ जून की शाम तक वहाँ भी कार्रवाई पूरी कर ली गई ।

६ जून की दोपहर के बाद ही समाचार-पत्रों ने यह समाचार सारे संसार में फैला दिया कि स्वर्णमन्दिर से उग्रवादियों का सफाया कर दिया गया है । पर अकालतख्त से और पंजाब के अन्य प्रमुख गुरुद्वारों से उग्रवादियों के सफाये की जो कार्रवाई ५ जून की रात को प्रारम्भ हुई थी, वह ६ जून की शाम तक, बल्कि ७ जून को सबेरे तक ही समाप्त हो सकी ।

पर इस कालरात्रि की कथा इस बात के बिना समाप्त नहीं की जा सकती –

आपरेशन ब्लू-स्टार के इंचार्ज मेजर जनरल रणजीत सिंह दयाल की ९४ वर्षीय बूढ़ी माँ शिमला में निराहार बैठी थी । ६ जून को सबेरे ही श्री दयाल हेलिकॉप्टर से शिमला गए और अपनी माँ को आश्वस्त किया कि हरमन्दिर साहब सर्वथा सुरक्षित है । तभी माँ-बेटे ने साथ-साथ भोजन किया ।

रणजीत सिंह दयाल ने इस आपरेशन को सफल बनाकर अपने 'रणजीत' नाम को सार्थक किया ।

यह कालरात्रि समाप्त हो गई, पर अभी नया सवेरा होने में देर है ।

२

मिटी धुंद, जग चानन होया

पंजाब भारत का मुकुटमणि है ।

वह प्राचीन आर्यों की संस्कृति की जन्मस्थली रहा, वहीं वैदिक संस्कृति पुष्पित-पल्लवित हुई । वहीं आर्यों के प्राचीन शक्तिशाली जनपदों की सर्वप्रथम स्थापना हुई । ईसा से पूर्व लगभग 3 हजार वर्ष तक उसका यह गौरव अक्षुण्ण रहा ।

पंजाब भारत का प्रवेश द्वार भी रहा ।

जिस किसी विदेशी ने भारत पर आक्रमण किया, वह पंजाब के रास्ते से ही भारत में प्रविष्ट हुआ । सिकन्दर से लेकर शक-हूण-मंगोल-तातार-मुगल सब इसी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए ।

जब तक पंजाब शक्तिशाली रहा, तब तक भारत की स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण रही । जब पंजाब कमजोर पड़ गया, तब भारत की स्वतंत्रता भी खटाई में पड़ गई ।

अब से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व कुछ समय के लिए ईरान सम्राट् दारा का पंजाब के कुछ हिस्सों पर आधिपत्य हो गया था । उसके बाद विश्वविजय का स्वप्न लेकर यूनान से निकले सिकन्दर महान ने ईरान-अफगानिस्तान को रौंदते हुए तक्षशिला के राजा आम्भी के निमंत्रण पर पंजाब पर आक्रमण किया । तभी से इस देश का दुर्भाग्य प्रारम्भ हुआ ।

यद्यपि पंजाब के ही एक सपूत, चन्द्रगुप्त मौर्य ने आचार्य चाणक्य के सहयोग से यूनानियों को इस देश से बाहर खदेड़ दिया, किन्तु मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद, ईसा से १९५ वर्ष पूर्व मीनान्दर ने पंजाब में प्रवेश किया और नर्मदा तक के क्षेत्र पर उसका अधिकार हो गया । उसके बाद शकों, हूणों और कुषाणों का भी इस प्रदेश पर कुछ समय तक अधिकार रहा ।

बाद में जब सिन्ध के राजा दाहिर का पंजाब के कुछ हिस्सों पर आधिपत्य था, तब भारतीयों की आपसी फूट का लाभ उठा कर भारत पर विदेशियों ने आक्रमण शुरू किए । उनसे महमूद गजनवी के लिए लूटमार का रास्ता खुल गया । धीरे-धीरे राजपूत राजाओं के आपसी वैमनस्य और ईर्ष्याद्वेष का लाभ उठाकर मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज को परास्त कर दिया और इस देश में मुसलमानी राज्य की नींव डाली ।

फिर तो धीरे-धीरे सारा भारतवर्ष ही उनके कब्जे में चला गया । जब भी पंजाब कमजोर पड़ा, तब कभी तो तुर्कों से मुगलों ने सत्ता छीनी, कभी ईरानियों ने, कभी मंगोलों ने, कभी अफग़ानों ने और वे हमलों पर हमले करके दिल्ली तक लूटमार करते रहे ।

नानक का उदय

उसी युग में सन् १४६९ में कार्तिक पूर्णिमा को गुरु नानक का जन्म हुआ।

गुरु नानक के जन्म से पूर्व के ५०० सालों में भारत पर ऐसे करीब ७० हमले हो चुके थे और उनमें पंजाब के लोगों की ही सबसे अधिक क्षति हुई थी। जबर्दस्ती धर्म-परिवर्तन, लूटमार, हत्याएं, बेइज्जती, रोजमर्रा की बात बन गई थी। सिकन्दर लोधी ने बोधन को केवल इसलिए मरवा दिया था क्योंकि उसने यह कहा था कि उसका धर्म भी इस्लाम जितना ही अच्छा है।

नानक उस समय २० वर्ष के थे। उन्होंने पीड़ा भरे हृदय से कहा था—"पृथ्वी से त्याग उठ गया है। वह परिन्दों की तरह उड़ गया है। राजा कसाई बन गए हैं। चारों ओर रिश्वत का बोलबाला है। बिना रिश्वत के राजा के दरबार में भी सुनवाई नहीं होती।"

सन् १५२१ में बाबर ने ताशकंद से आकर भारत पर आक्रमण किया और पंजाब के हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे मौत के घाट उतार दिये। तब गुरु नानक के व्यथित हृदय से ये आक्रोशमय उद्‌गार फूट पड़े—

"ऐ सारे जहान के बनाने वाले ! तू अपने को निर्दोष कैसे मान सकता है ? तूने ही बाबर के भेष में यमराज को भेजा है। यह भंयकर कत्लेआम, औरतों और बच्चों की करुण चीखें, तेरी दया क्यों नहीं जगातीं? ऐ दुनियां के रक्षक कहलाने वाले ! तू ही बता कि एक खूंखार शेर गरीब और असहाय हिरणों पर हमला करके उन्हें क्यों मार डालता है और तू चुपचाप बैठा यह सब देखता रहता है?"

भारतीय इतिहास में १५वीं और १६वीं सद्री को भक्ति-काल की संज्ञा दी गई है। भक्ति आन्दोलन का इतिहास यद्यपि लम्बा और व्यापक है, परन्तु एक वात देखकर आश्चर्य होता है कि इस आन्दोलन के विकास में भारत के उत्तर, दक्षिण और पूर्व, पश्चिम के विभिन्न भक्त कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन भक्तकवियों का आविर्भाव १५वीं और १६वीं सदियों में क्यों हुआ और भारत के सभी भागों में लगभग एक साथ ही भक्ति की लहर क्यों चली, यह बात आश्चर्यजनक चाहे जितनी हो, पर इस बात की द्योतक सबसे अधिक है कि भारत के सभी भाग सांस्कृतिक दृष्टि से किसी एक ही सूत्र में बंधे हैं और आध्यात्मिक एकता का वह सूत्र इतना प्रबल है कि आक्रमणकारी विदेशी शक्तियों की सत्ता और प्रबल प्रहार भी उस सूत्र को छिन्न-विच्छिन्न नहीं कर सके।

भक्तिकाल की विशेषता

दक्षिण भारत में आलवार संत; मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य आदि आचार्य; महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नामदेव और समर्थ गुरु रामदास; बंगाल में चैतन्यदेव, जयदेव, हरिदास; असम में शंकर देव, सुदूर केरल में स्वाति तिरुमाल, गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीरा और राजुल, उत्तर भारत में सूर, तुलसी और कबीर तथा पंजाब में गुरु नानक इन सबका लगभग एक साथ एक ही काल में उदय भारत की जिस आन्तरिक अन्तःसलिला के समान उद्‌गम का परिचायक है—वह किसी भी इतिहास-वेत्ता को चकित और मुग्ध किए बिना नहीं रह सकता।

इस भक्ति आन्दोलन की एक और विशेषता है। प्रायः ये भक्त लोग, कवि, सन्त और प्रचारक का सम्मिश्रण रहे हैं। पर जिस आश्चर्यजनक तथ्य की ओर हम ध्यान खींचना चाहते हैं, वह इससे बिल्कुल भिन्न है।

उस समय मुगल सत्ता का सूर्य अपने चरमोत्कर्ष पर था – उसकी चमक और तपिश सारे देश पर छाई थी। मुगल बादशाह अपने अत्याचारों के लिए कुख्यात रहे ही हैं। पर इस भक्ति आन्दोलन ने जहाँ गरीब-अमीर की, सवर्ण-असवर्ण की दीवार तोड़ी, वहाँ मज़हब की दीवार भी तोड़ कर रख दी। नहीं तो यह कैसे सम्भव था कि अकबर के संरक्षक बैरमखां का पुत्र, बहादुर सिपहसालार, अब्दुर्रहीम खानखाना न केवल राम और कृष्ण की भक्ति में कविता लिखता, बल्कि रहीम के नाम से दोहों के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य में अमर हो जाता। रहीम ही क्यों, रस की खान उस रसखान को जो रुस्तम खाँ पठान से बदल कर 'रसखान' बना था, क्या कहोगे जिसने 'मानुष हौं तो वही रसखान' और 'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं' जैसी कविता लिख कर अद्भुत कृष्णभक्ति का परिचय दिया था। उस ताज (ताज खां बेगम, आगरा) नामक मुस्लिम कवयित्री को क्या किसी भी हिन्दू भक्त-कवि से कम समझा जा सकता है, जिसने कृष्ण की भक्ति से विह्वल होकर खुले आम यह घोषणा की थी –

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी,
तेरे दस्त हू बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी, तज कलमा कुरानी,
मैं नमाज हूँ भुलानी तेरे गुननि गहूंगी मैं॥
सांवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाघ में निदाघ ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुर्बान तेरी सूरत पै,
हूं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं॥

मलिक मुहम्मद जायसी ने तो महारानी पद्मिनी की कथा को उपजीव्य बना कर 'पद्मावत' नामक पूरा काव्य ही लिख डाला जो साहित्य की दृष्टि से बेजोड़ है। इसी भक्तिकाल में एक-दो नहीं, बल्कि ५० के लगभग कवि हुए हैं जिन्होंने मुसलमान होकर भी भक्ति-रस और नीति-रस से सराबोर कविता लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की है। इन्हीं भक्त मुसलमान कवियों को लक्ष्य करके आधुनिक हिन्दी के प्रथम पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यहां तक लिख दिया था –

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दू वारिये॥

इतिहास की अनिवार्यता

भक्तिकाल का उदय भी इतिहास की एक अनिवार्यता थी।

वैदिक काल में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की साधना के लिए तीन साधन बताए गए थे – ज्ञान, कर्म और उपासना। चारों पुरुषार्थों में से किसी एक के वरण का विकल्प नहीं था, और न ही तीनों साधनों में से किसी एक के अनुसरण का अधिकार। स्वभावतः मनुष्य विशेषोन्मुख होता है, पर सन्तुलित जीवन के लिए आवश्यक है कि सामान्य की उपेक्षा न की जाए। ऐसा न होने पर जीवन में अतिवाद आ जाता है जो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है।

वैदिक जीवन का आदर्श सन्तुलन ही तो था। यह सन्तुलन केवल चारों पुरुषार्थों में ही नहीं उनकी प्राप्ति के तीनों साधनों में भी था। जब याज्ञिक कर्मकाण्ड की अति हो गई तो उस अति का खंडन करने के लिए बौद्ध और जैनमत सामने आए। पर जब राजसत्ता के सहयोग से उनके विहार त्याग और तपस्या के केन्द्र न रह कर विलासिता के केन्द्र बन गए और धीरे-धीरे वज्रयान, तंत्रयान

और सहजयान के माध्यम से वे वामाचार को सदाचार बताने लगे, तब उनकी इस अति के निराकरण के लिए आचार्य शंकर आए और उन्होंने पुनः ज्ञानकाण्ड की दुन्दुभि बजाई।

ज्ञानमार्ग कभी सामान्य जन-सुलभ नहीं रहा। क्योंकि उसके लिए विद्या चाहिए। जिस युग में विद्या पर ब्राह्मणों का एकाधिकर हो, स्त्री और शूद्र को विद्याध्ययन से वंचित रखना धर्म का अंग बन गया हो, क्षत्रियों को आपस की लड़ाई से और वैश्यों को व्यापार-वाणिज्य से फुरसत न हो, तब ज्ञान का फल खजूर के फल से कम दुर्लभ नहीं रहा होगा – 'चढ़े तो मेवा चाख ले, गिरे तो चकनाचूर।'

ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग दोनों ने इस लोक की उपेक्षा करके परलोक पर अधिक बल दिया था। ज्ञानमार्ग ने संसार को मिथ्या बताकर और कर्ममार्ग ने स्वर्ग प्राप्ति का साधन केवल यज्ञ को बताकर। अहर्निश परलोक, स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता में लीन रहने वाला समाज यदि विदेशियों का पादाक्रान्त हो जाए और जनता में 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' की भावना पनप जाए, तो क्या आश्चर्य!

उस सामाजिक अव्यवस्था के घटाटोप में भक्ति की लहर एक सुखद वातावरण लेकर आई। यह ठीक है कि विदेशी आक्रमणकारी का सशस्त्र प्रतिकार करने की प्रवृत्ति भक्तिमार्ग ने पैदा नहीं की, और इस नाते से उसे पलायनवाद का प्रतीक माना जा सकता है। पर उसकी सफलता और आकर्षण उसके सर्वजन-सुलभ होने में और विभिन्न प्रदेशों के जन-मानस को एक करने में है। न सही विद्या पाने का अधिकार, पर भगवान् की आराधना करने का अधिकार तो हरेक को है। ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड तो ठीक वैसे ही हैं जैसे राजनीति में राजतंत्र या सामन्ततंत्र, और भक्तिकाण्ड ऐसा है जैसे लोकतंत्र। लोकतंत्र में हरेक को वोट देने का अधिकार है, उसी तरह भक्तिमार्ग आध्यात्मिकता का जनतंत्र है। ज्ञानमार्ग में 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ', पर भक्तिमार्ग में तो 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।'

भक्ति आन्दोलन की लोकप्रियता का एक विशेष कारण और भी है। जैसे पंडितों की भाषा संस्कृत को तिलांजलि देकर बौद्ध और जैन धर्म ने पालि और प्राकृत के माध्यम से जनता तक पहुंचने में सफलता पाई थी, वैसे ही भक्तिकाल के सन्तों ने उस समय प्रचलित लोकभाषाओं को अपना कर आम जनता तक पहुँचने का मार्ग खोज लिया।

जलवायु, वेषभूषा, खान-पान, रीति-रिवाज आदि स्थूल भिन्नताओं के बावजूद भारत में चिन्तन और अनुभूति की एकरूपता युग-युग से चली आ रही है। इसीलिए बाह्य रूप से भेद होते हुए भी इस देश की आत्मा एक है। भक्ति-आन्दोलन ने समग्र देश में ऐसा अद्‌भुत सन्तुलन और समन्वय स्थापित किया कि गत एक हजार वर्षों से हमारी संस्कृति, साहित्य और कला के सभी क्षेत्रों में वैष्णवता की अमिट छाप लग गई और आज तक वह छाप ज्यों की त्यों विद्यमान है।

ज्ञान-मार्ग बुद्धि-पक्ष का आग्रही है और भक्तिमार्ग हृदय-पक्ष का। यद्यपि उपासना और भक्ति पर्यायवाची नहीं हैं, फिर भी विद्वानों ने वैदिक कालीन उपासना को और उत्तरकालीन भक्ति को अभिन्न माना है। वैष्णव आचार्यों ने तो भक्ति को इतना महत्व दिया कि उन्होंने केवल उपासना को ही नहीं, ज्ञान और कर्म को भी सर्वथा अपदस्थ कर दिया।

'भक्ति' का उद्‌भव वेदोत्तर पौराणिक काल में हुआ और इसके लिए अवतार की कल्पना आवश्यक है। जिन जातियों में भगवान् स्वयं आकर अवतार नहीं लेना चाहता, उनके बीच वह अपने प्रतिनिधि (पुत्र या दूत आदि) को भेज देता है। परमात्मा के प्रतिनिधि के अवतार में विश्वास रखने का नाम ही पैगम्बरवाद है। वस्तुतः अवतारवाद और पैगम्बरवाद दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

नानक की विशेषता

भक्ति आन्दोलन के सन्तों में तथा गुरु नानक में एक स्पष्ट अन्तर है। भारत भर के सब प्रान्तों में जो सन्त या कवि हुए वे सब के सब अवतारवाद के पोषक हैं। यदि अवतारवाद के पोषक भक्तिकालीन कोई सन्त नहीं हैं तो केवल दो– कबीर और गुरु नानक। कबीर को वास्तव में भक्तों की बजाय रहस्यवादी कवियों की श्रेणी में गिना जाना चाहिए। पर गुरु नानक मूलतः भक्त हैं, कवि भी हैं, पर न वे अवतारवाद के पोषक हैं और न ही पैगम्बरवाद के। शायद इसका कारण तत्कालीन पंजाब का मुस्लिम प्रधान वातावरण है। नानक को अवतारवादियों के पाखण्ड से और पैगम्बरवादियों के अत्याचारों से चिढ़ थी, इसलिए भक्त होते हुए भी उन्होंने राम या कृष्ण के अवतारों की स्तुति के बजाय उसी निर्गुण, निराकार देश और काल से अनवच्छिन्न परमात्मा का गुणगान किया है जिसका वेदों में वर्णन है। जपुजी का प्रारम्भ ही इस श्लोक से होता है –

१ ओं सति नाम कर्ता पुरुष निरभउ निरवैर
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि जपु।
आदि सच जुगादि सच। है भी सच नानक होसी भी सच॥

अकाल इस्तुति में वे कहते हैं –

अलख रूप अछै अनभेखा।
राग रंग जिहि रूप न रेखा॥
वरन चिहन सबहूं ते नियारा।
आदि पुरुष अद्वय अविकारा॥

न रागं न रंगं न रूपं न रेखं।
न मित्रं न शत्रुं न पितरं न मातरं॥
न जातं न पातं न रूपं न रंगम्।
न जन्मं न मरनं न वरनं न व्याधे॥

उन्होंने अवतारवाद का इन शब्दों में खण्डन भी किया है–

एकौ सिमरौ नानका जो जलथल रहा समाय।
दूजा काहे सिमरिये, जो जम्मे ते मर जाय॥

जोनि जगत् में कबहूं न आया।
या ते सभों अजोनि बताया॥

जब गुरु जी जगन्नाथ पुरी गए और पुजारियों को ठाकुर जी की आरती उतारते देखा, तब उनको समझाया कि हे पुजारियो! इस सीमित आकार वाले मन्दिर में सीमित ठाकुर की आरती क्या उतारते हो, उस निराकार भगवान् की आरती को देखो जो जगत् के अन्दर हो रही है और उसका गान करो–

गगनमय थाल रवि चन्द दीपक,
बने तारकामण्डल जनक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चंवरो करे,
सगल वनराय फूलंत ज्योति।

कैसी आरती होय भव खण्डना तेरी,
आरती अनहत शब्द बाजन्त भेरी ।

सहस तो नैन, ननह नैन है तोहे को
सहस मूरत ननह एक तू ही ।
सहस पदुमिता ननह एक पद,
गन्ध बिन सहस तो गन्ध अविचल मोही ।

–हे प्रभो! यह आकाश रूपी थाल जिसमें चांद और सूर्य दो दीपक प्रकाशित हैं और जिसमें ग्रह-नक्षत्र मोतियों की तरह सजे हैं, मलयानिल जिसमें धूप का काम कर रही है और पवन देवता चंवर डुला रहे हैं, हरे-भरे फल-फूलों से लदे वनों की पंक्तियाँ जिसमें ज्योति के समान हैं, हे भयखण्डन प्रभो! तेरी कैसी अद्‌भुत आरती हो रही है । तेरी इस आरती में अनाहत शब्दों की भेरी बज रही है ।

तेरी अपनी कोई आंख नहीं, पर संसार की सारी आंखें तेरी हैं। ये सब देहधारी और चराचर जगत्–सब तेरी बनाई हुई मूर्तियां हैं, तेरी अपनी कोई मूर्ति नहीं है । तेरा अपना कोई पांव नहीं, संसार के सारे पांव तेरे बनाए हुए हैं। तेरी अपनी कोई नासिका नहीं, पर संसार की सारी सुगन्धियाँ और उसके ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ तेरी बनाई हुई हैं । तेरी इस अद्‌भुत महिमा ने सारे संसार को चकित कर रखा है ।

इस कविता की तुलना जरा उपनिषद् के इस श्लोक से करके देखिये और फिर उसके स्वारस्य का आनन्द लीजिये–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

वहाँ न सूर्य चमकता है, न चांद-तारे, वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती, फिर इस भौतिक अग्नि की तो औकात ही क्या । जब वह चमकता है तो उसी की चमक सबमें प्रतिबिम्बित होती है । उसी की दीप्ति से यह सब जगत् दीप्तिमान हो रहा है ।

और इस वेदमंत्र के साथ भी तुलना करिये–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।

–यजुर्वेद ३११३

–उस परमात्मा के हजारों सिर हैं, हजारों आंखें हैं और हजारों पैर हैं । वह भूमि को सब ओर से ढक कर उसमें व्याप्त है । भूमि के अतिरिक्त अन्तरिक्ष और द्युलोक में भी वही व्याप्त है ।

इस्लाम को चुनौती

भक्तिमार्ग का अनुयायी होते हुए भी गुरु नानक ने भक्ति-परम्परा के विरुद्ध अवतारवाद और मूर्तिपूजा का समर्थन न कर ज्ञान-मार्ग के अद्वैत निराकार ब्रह्म का समर्थन करके एक और दृष्टि से भी अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया । अवतारवाद का समर्थन करते तो पैगम्बरवाद का भी समर्थन

करना पड़ता । वैसा करना गुरु नानक को अभीष्ट नहीं था । जिस परमात्मा का कोई आकार या अवतार नहीं हो सकता, उसका कोई दूत या पैगम्बर भी नहीं हो सकता ।

इसके साथ ही 'एकौ सिमरौ नानका' का उपदेश देकर जहाँ पौराणिकों के नाना देवी-देवताओं को अमान्य करना अभीष्ट था, वहाँ पंजाब के हिन्दुओं को एकेश्वरवाद की महिमा से परिचित कराके वैचारिक स्तर पर इस्लाम के विरुद्ध सन्नद्ध करना भी था । इस्लाम के अनुयायी सदा हिन्दुओं को यह कह कर नीचा दिखाते रहे हैं– "जिनका इष्टदेव एक नहीं वे एक अल्लाह के उपासकों का मुकाबला कैसे कर सकते हैं?" इस्लाम के अनुयायी अपनी तौहीद की अमानत पर सदा गर्व करते रहे हैं ('तौहीद की अमानत सीने में है हमारे' –इकबाल) । हालांकि स्वयं सर मुहम्मद इकबाल ने अपनी एक कविता में यह संकेत भी दिया है कि एकेश्वरवाद की यह लहर सारे संसार में भारत से ही फैली थी–

> वहदत की लय सुनी थी
> दुनिया ने जिस मकाँ से,
> मीरे-अरब को आई
> ठण्डी हवा जहाँ से,
> मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है ।

–मीरे अरब अर्थात् मुहम्मद साइब को भी ठण्ढी हवा भारत से ही मिली थी और भारत से ही सारे संसार ने वहदत (एकेश्वरवाद) का संगीत सुना था, फिर भी इस्लाम अपने अस्तित्व का औचित्य इसी आधार पर सिद्ध करता रहा है कि सारे संसार को एकेश्वरवाद का उपदेश उसी ने दिया है, वही एक परवरदिगार अल्लाह की उपासना सिखाता है । मूल रूप से एक ईश्वर की उपासना का विचार वेदों और उपनिषदों का था, पर कालान्तर में पौराणिकों ने उसे नाना देवी-देवताओं में उलझा दिया और उसी के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने भी हिन्दुओं को बहुदेवतावादी करार दे दिया ।

जब गुरु नानक ने भक्त होकर भी वेदोक्त निराकार एक ईश्वर का प्रचार किया, तो जैसे समस्त इस्लाम को वैचारिक स्तर पर चुनौती दे दी कि जिस विशेषता पर तुम गर्व करते हो, वह विशेषता तुम्हारी नहीं, हमारी है, इसलिए केवल इसी विशेषता के कारण किसी को इस्लाम का अनुयायी बनने की आवश्यकता नहीं ।

इस्लाम की एक दूसरी घोषित विशेषता है– समानता, जाति-पाँति विहीन समाज की संरचना । छुआछूत और जातिभेद के महारोग से ग्रस्त हिन्दू समाज के आचरण को देखते हुए इस्लाम का इस समानता पर गर्व करना उचित ही था । हिन्दू समाज से दुत्कारे जाने वाले, अस्पृश्य समझे जाने वाले और समान बर्ताव के लिए तरसने वाले कुछ लोग यदि इस्लाम के इस नारे से प्रभावित होकर उसकी शरण में जाते रहे, तो इसमें दोष हिन्दू समाज का ही है । एक तरफ अछूतों को देव-दर्शन के लिए मन्दिरों में जाने से वंचित रखा गया, दूसरी तरफ मस्जिदों में राजा-रंक सब एक ही पंक्ति में खड़े होकर नमाज पढ़ते रहे–

> एक ही सफ में खड़े थे महमूदो अयाज़,
> न कोई बन्दा रहा, न कोई बन्दानवाज ।

तो इस दृश्य से किसका हृदय गद्गद् न हो जाएगा । अपनी कमजोरियों के लिए दूसरों को दोष देना गलत है ।

हिन्दुत्व से विरोध नहीं

हिन्दू समाज की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए ही गुरु नानक ने छुआछूत और जाति-पांति का खण्डन किया। गुरु नानक ने स्वयं अपने मुख से अपने आपको हिन्दू कहा है (जन्मसाखी, पृष्ठ १०२)। जन्मसाखी के अनुसार वे यज्ञोपवीत धारण करते थे और सिर पर शिखा भी रखते थे। उनके बाद के पांचवें गुरु तक सब के यज्ञोपवीत संस्कार हुए, वैदिक विधि से विवाह हुए, वे तिलक लगाते थे और वेद-शास्त्र-पुराणों की कथा सुनते थे। गुरु अर्जुनदेव द्वारा तो शालिग्राम की पूजा का भी वर्णन है। दशम गुरु गोविन्द सिंह तो नियमित रूप से भागवत पुराण की कथा सुनते थे। स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने 'विचित्र नाटक' में सूर्यवंशी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र और लव और कुश से अपना सम्बन्ध जोड़ा है और अपने आपको सोढवंशी क्षत्रिय माना है। गुरु नानक के विषय में उन्होंने लिखा है—

> जिन वेद पठियो सो वेदी कहाये,
> तिन्हे धर्म के कर्म नीके कमाये।
> इन वेदियों की कुल विखे
> प्रक्टे नानक राये।

इस प्रकार वेदपाठी परिवार से सम्बद्ध हिन्दू होते हुए भी गुरु नानक ने हिन्दू समाज के लिए कलंक स्वरूप जन्म-जाति का और छुआछूत का कभी समर्थन नहीं किया। इतना ही नहीं, हिन्दू समाज में नीचे समझे जाने वाले वर्गों को उन्होंने अधिक आत्मीयता और स्नेह से अपनाया। इस नाते से भक्ति-काल की इस परम्परा को उन्होंने अक्षुण्ण रखा—

> जाति-पांति पूछे नहिं कोय।
> हरि को भजे सो हरि का होय॥

जाति-पांति का विरोध और एकेश्वरवाद का समर्थन—इन दोनों बातों को पौराणिक और पुरातन-पंथी हिन्दू भले ही हिन्दुत्व-विरोधी मानते रहें, पर ये दोनों विशेषताएं ऐसी थीं जो इस्लाम के मुकाबले में हिन्दू जाति की रक्षा के लिए आवश्यक थीं। इसी कारण गुरु नानक का संदेश दिन-दिन अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। उनके शिष्यों की संख्या बढ़ती चली गई। उनके शिष्यों में हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी शामिल होते गए। गुरु नानक के सदा साथ रहने वाले जिन दो व्यक्तियों का बार-बार उल्लेख आता है—वे हैं लहना और मरदाना। लहना जात का नाई था और मरदाना मुसलमान। मानव-मात्र की समानता के इस संदेश से आकर्षित होकर जिन्होंने गुरु नानक का शिष्यत्व ग्रहण किया, वे ही शिष्य होने के कारण सिख कहलाए। शिष्य और सिख केवल पर्यायवाची नहीं, बल्कि एक ही शब्द हैं। जो संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में शिष्य हैं, वही पंजाबी में सिख हैं।

ईसाई शक्तियों का उन्मेष

१५ वीं सदी के जिस युग की चर्चा की जा रही है, उसको यदि व्यापक सन्दर्भ में देखना हो, तो यह कहा जा सकता है, कि उसी युग में पहली बार यूरोपीय ईसाई शक्ति का भारत से सम्पर्क हुआ था। सन् १४६९ में गुरु नानक का जन्म हुआ, उधर सन् १४९८ में प्रथम यूरोपीय व्यक्ति का भारत

में आगमन हुआ। अमरीका की खोज का श्रेय कोलम्बस को दिया जाता है। वह असल में खोजने निकला था भारतवर्ष को। क्योंकि भारत के अतुल ऐश्वर्य की किंवदन्तियों को सुन कर यूरोप के देशों में भारत पहुँचने के समुद्री मार्ग को ढूंढने की होड़ मच गई थी। कोलम्बस भारत का ही समुद्री मार्ग खोजने निकला, पर वह पहुँच गया अमरीका। भारत का समुद्री मार्ग वह नहीं खोज सका। उस खोज का श्रेय मिला पुर्तगाल-निवासी वास्कोडिगामा को। वही पहला यूरोपीय था जो २२ मई १४९८ को भारत के पश्चिमी तट के कालीकट बन्दरगाह पर उतरा था।

पुर्तगाली अपने एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ईसामसीह की मूर्ति से अंकित सलीब लेकर आए थे। जब उन्हें 'सोने की चिड़िया' के नाम से विख्यात इस देश में प्रचुर मात्रा में सोना मिलने लगा, तो वे दोनों हाथों से सोना बटोरने लगे। सोना बटोरते-बटोरते उनके हाथ में तलवार पकड़ने की ताकत नहीं रही। तब डचों ने उनको परास्त कर दिया। जब डचों की यही हालत हो गई तो उन्हें फ्रांसीसियों ने परास्त कर दिया। जब यूरोप में नेपोलियन का पराभव हो गया, तो सर्वत्र फैले फ्रांसीसी वर्चस्व को भी बुरे दिन देखने पड़े।

भारत में जो पहला अंग्रेज आया उसका नाम था कैप्टेन हाकिन्स। वह सन् १६०८ में जेम्स प्रथम से मुगल सम्राट् के नाम पत्र लेकर सूरत बन्दरगाह पर पहुँचा था। उसके बाद सत्रहवीं और अठारहवीं सदी इस भरत-खण्ड में धीरे-धीरे यूरोपीय ईसाई शक्तियों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता और अन्त में अंग्रेजों की विजय की कहानी है। पर इन ईसाई शक्तियों की यह सारी होड़ भारत के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी समुद्री तटों तथा उनके निकटवर्ती प्रदेशों में चलती रही। समस्त उत्तरी भारत और देश का विस्तृत मध्य भाग उससे अछूता रहा। इस सारे भूखण्ड पर तो उस समय इस्लामी सूर्य अपने प्रखर तेज से दमक रहा था।

इस्लामीकरण पर रोक

इस इस्लामी तेज को और मुगल सल्तनत को भारतवासियों ने सहज मन से स्वीकार नहीं किया। स्थान-स्थान पर हिन्दुत्ववादी शक्तियां उभरने लगीं और मुगल सत्ता को चुनौती देने लगीं। पर वह तो बाद की कथा है।

गुरु नानक के समय मुगल सत्ता ने कैसा अन्धेर मचा रखा था, उसका वर्णन 'नानक प्रकाश' में इस प्रकार किया है–

सय्यद शेख मुगल पठान,
जालिम भये सभी बलवान्!
हिन्दुअन को दुख देत महाय,
देवन के मन्दिर गिरवाय।
घोर नाथ से औघड़ साधु,
पंडित दत्त से सुमति अगाधु।
मरवा चीलों को खिलवाय,
के चित मेखें ठोक मुकाय।
के चित कच्चे चम्म चढ़ाये,
के चित कुत्तियों से तड़वाये।

तुर्क होना जिन्हें न मानियो,
तिन-तिन को अति दुख वहानियो ।
यज्ञ-हवन कोई करन न पाये,
करे जो तिह दुख देत महाये ।
सुन्दर पेखे जाकी तरुणी,
पकड़ करे बल से निज घरनी ।
काज़ी रिश्वत लेकर सारे,
सांचे को झूठा कर डारे ।

ऐसे वातावरण में, जब भारत के अन्य प्रदेशों में भक्त कवि अलख जगा रहे थे और जनता को जीवन का आधार प्रदान कर रहे थे, तब शूरवीरों की और प्राचीन आर्यों की पंजाब की प्रिय भूमि उससे अछूती रहे, यह कैसे सम्भव था । वहाँ सदियों से किसी सन्त के पाँव नहीं पड़े थे । भारत का प्राचीन अक्षय ज्ञानकोष अज्ञान, अन्धविश्वास और मुगल अत्याचारों के कारण धूमिल पड़ गया था । पंजाब की धरती ज्ञान के जिस आलोक के लिए तरस रही थी, उसका व्यावहारिक दर्शन उसे गुरु नानक की वाणी में मिला ।

गुरु नानक की वाणी में बेशक नवीनता न हो, पर उसकी विशेषता यह है कि वह रहस्यात्मक नहीं थी, उसमें शास्त्रीय जटिलता नहीं थी, वह इतनी सरल-स्निग्ध और प्रेम-पगी थी, कि उसने पंजाब के पौरुष-प्रधान परुष हृदय को पिघलाकर मोम बना दिया, रूढ़ियां पानी बनकर बह गईं, बाह्याडम्बरों और जाति-पांति के सामाजिक दुर्गों पर बिजली-सी गिर पड़ी । उनका अपना जीवन इतना सादा, विचार इतने निर्मल, चरित्र इतना स्वच्छ और व्यवहार इतना शिष्ट था कि जन-मानस बरबस उनकी ओर खिंचता चला गया । किसी पंथ, ग्रंथ या महन्त से वे जुड़े नहीं थे, इसीलिए निर्द्वन्द्व और उन्मुक्त थे । इसीलिए वे इतने व्यापक हो सके । वे किसी से दबे नहीं, किसी के आगे झुके नहीं, जो ठीक लगा सो कह दिया ।

इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि पंजाब और सिन्ध में इस्लाम के प्रचार पर रोक लग गई । लोगों ने भय और प्रलोभन से मुसलमान बनना छोड़ दिया । वैचारिक स्तर पर और व्यावहारिक स्तर पर अब उन्हें इस्लाम से दबने की आवश्यकता नहीं रही । गुरु नानक की वाणी की शीतलता ने हिन्दुओं की तरह मुसलमानों के हृदयों को भी शीतलता पहुँचाई और हिन्दुओं के समान अनेक मुसलमानों ने भी उनका शिष्य होने में गर्व अनुभव किया । गुरु नानक क्या प्रकट हुए, जैसे अन्धकार में प्रकाश की लकीर खिंच गई ।

इसी बात को भाई गुरुदास ने इस प्रकार लिखा है –

सत गुरु नानक प्रकटिया,
मिटी धुंद जग चानन होया ।
ज्यों कर सूरज निकलिया,
तारे छिपे अंधेरा पलिया ।

३ वैशाखी, जो अमर हो गई

सन् १६९९, १३ अप्रैल, वैशाख संक्रान्ति का पर्व ।

पर इस वैशाखी से एक वर्ष पहले आनन्दपुर साहब में चार मास तक जो विशाल यज्ञ हुआ, उसका वर्णन 'पंथ प्रकाश' में ज्ञानी ज्ञान सिंह ने किया है। दशमेश गुरु गोविन्द सिंह जी कहते हैं–

"जो हमारे धर्म का सार है और नृप-मुनि-अवतार जिस धर्म का पालन करते आए हैं उसी का पालन हम भी करना चाहते हैं, जिससे सारी सृष्टि सुखी हो । एक तो आजकल भारी दुर्भिक्ष पड़ रहा है, वर्षा हो नहीं रही, दूसरे देश भर में महामारी भी फैल रही है । तीसरे नर-नारी अपने धर्म को भी भूलते जा रहे हैं । सब लोग पापकर्मों में लगे हैं, इसलिए अभागे हैं । यज्ञ-हवन आदि जितने सुकृत हैं उन्हें तुर्क हाकिम करने नहीं देते । हम जब यज्ञ-हवन करेंगे, तब बादल खूब बरसेंगे, दुर्भिक्ष नष्ट होगा, खूब अन्न उपजेगा, धरती से नाना रसों की वनस्पतियाँ पैदा होंगी, वायुमंडल शुद्ध होगा और रोग-शोक सब दूर हो जाएंगे । अविद्या नष्ट होगी, शूरवीरता प्रकट होगी । जितने वर्णाश्रमी जन हैं वे सब इस समय भेड़-बकरियों के समान कायर हो रहे हैं । वे इस दुर्बलता के कारण बलवान् तुर्कों का मुकाबला नहीं कर पाते । जब इस यज्ञ की सुगन्धित पवन उन्हें लगेगी, तब वे भी शेरों जैसे साहसी बन जाएंगे । उनमें शूरवीरता समा जाएगी और वे अपने पुरातन आर्य धर्म पर दृढ़ हो जाएंगे । उनके शरीर नीरोग बनेंगे । सदा सुख देने वाली विजय और ज्ञान उन्हें प्राप्त होगा । निर्भयता तथा अन्य दैवी गुण उनमें प्रकट होंगे । तब उनके बालक भी भाग्यवान् होंगे और शीतला आदि रोग नष्ट हो जाएंगे । काम-क्रोध आदि जितनी आसुरी संपदा है, वह यज्ञ-हवन को देखकर ही काँपती है । जितने सत्य आदि उत्तम गुण हैं और जिनका वेदों में वर्णन है, वे सब विधिवत् यज्ञ-हवन करने से जग में व्यवहार में आने लगते हैं ।"

(पंथ प्रकाश, निवास-२५, पृष्ठ २०१, २०२)

गुरुमुख से हवन के इतने गुण कहलवाने के पश्चात् ज्ञानी जी कहते हैं–

आप हवन के नफे जो गाए । होई अवश्यमेव सब भाए ।।
पर उपकार जगत पर भारी । होइ आपका जग सुखकारी ।।

(पंथ प्रकाश, पृष्ठ २०२)

इसके आगे हवन में गुरु जी द्वारा स्वयं आहुति देने का वर्णन है–

आनन्द पुर तट सतलुज गुर के बाग मझार
हवन होन लागिओं वहां पिख स्थान उदार ।।
सत्रा सै चुरंगा चेत नवरात्रा के माँही ।
लगन महूरत सोध भले सब हवन अरंभयो वाँही ।
केशव हवन करावन बैठे गुरा आहुति देते ।

चारमास तक हुए इस यज्ञ की पूर्णाहुति नैना देवी में हुई–

वरनी करना और विप्रत ठानी सांती हेते।
सामग्री युत परनारे सम धारा धृत पवे हैं।
चार मास ताहि हवन भयो जब वर्षा लगी अते हैं।
फिर नैणा देवी टिले पर असथल पख सुहावन।
जाई हवन करने गुरा लागे पिजवर बैठ करावन।

(पंथ प्रकाश पृष्ठ २०४)

पूर्णाहुति का वर्णन इस प्रकार है–

तब भूर सब सामग्री हवनकुण्ड के माँही।
एकहि बेर जब पावसी चानणा भए महाही।

(पंथ प्रकाश पृष्ठ २०५)

तब लोक में चर्चा हुईः–

अब तुरकन के जुल्म ते घुट जै है हिन्दवान।
मुसलियाँ को गुरु मार हैं ठान घने घमसान।
या विधि कर सतगुरु निज कारज।
आनन्द पुर दिन आये आरज

(पृ २०५)

इसके बाद इस यज्ञ का फल क्या हुआ उसका वर्णन गुरु जी द्वारा इस प्रकार कराया गया है–

जा दिन ते जग्य होम करयो गुरु पुर रहयो जस भूर उदारे।
घोर जिते जग्य होमन के फल, वेद भने वरते जग सारे।
बारस होन लगी मनवांछित रोग विसूचिक लौ सब टारे।
लोगन करे स्वभाव स्वते सिध थे बदले सब काज विचारे।
फैल रहे फूल वल्लतेतारु औ फलें धरनी रस सारे।
तेज लगो तुरके घटनो चमके हिन्दवाइन वाँग सितारे।
मैं मिटियो सतईतन को सभ और उपद्रव ईस निवारे।
देन लगी बहु दूध गऊ महि, होन लगे अन्न घास अपारे।
लोग सिआने कहे मिलयौ इह होम सु जग्य गुर वडिआई।
भारत भूमि विखै अति आनंद, होई गयो सतलुज निअराई।
मन्द स्वभाव कुकरम कलेस, गये उठ ज्यों रवितें तम जाई।
होत विचार घरो घर यो गुर कीरति फूली मनो फल वाई।
रोग कटावन होम महा सकती, विंदतावन की सुन के।
संगत देस विदेसन ते, बहु आने लगीं गुर पै गुन के।
इसमें धन भूर गुरे खरचिओ, इस सोच चढ़ाव है दुगन के।

(पंथ प्रकाश पृष्ठ २०८)

चार मास तक चलने वाले इस विशाल यज्ञ में किस प्रकार हजारों लाखों लोग शामिल हुए होंगे, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

इतने बड़े पैमाने पर यज्ञ का यह आयोजन अकारण नहीं था। गुरु गोविन्द सिंह आगे जो कुछ करना चाहते थे, उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं था। जिस तरह यज्ञ की सुगन्धि चारों दिशाओं में अनायास फैल जाती है, उसी प्रकार जन-जन तक गुरु जी का वह संदेश भी पहुँच गया जिसे वे एक वर्ष के बाद उसी आनन्दपुर साहब में पूरा करना चाहते थे।

तभी आ गई सन् १६९९ की वह वैशाखी जो इतिहास में अमर हो गई।

वैशाखी के उस अपूर्व पर्व पर आनन्दपुर साहब में पूरी संगत जमा थी। हजारों भक्तों की भीड़।

कोई और अवसर होता तो वह संगत उपहारों, शुभ कामनाओं और आशीर्वादों के आदान-प्रदान के पश्चात् आनन्द और उल्लास के साथ समाप्त हो जाती। पर आज के दिन को इतिहास में अमर होना था।

यही वह दिन था जिसके लिए लगातार दो सौ वर्षों तक तैयारी की जाती रही थी। इसी पवित्र दिन की तैयारी के लिए अनेक गुरु अपने प्राणों की बाजी लगा चुके थे। इसी दिन के लिए चार मास तक यज्ञ किया गया था।

इस सबका उद्देश्य क्या था ?

गुरु गोविन्द सिंह के रंगमंच पर आने से पूर्व ९ गुरु और आ चुके थे। स्वयं गोविन्द के पिता गुरु तेगवहादुर का ११ नवम्बर सन् १६७० को बलिदान हो चुका था।

गुरु ने सिर दिया, पर सार नहीं दिया। यह देखकर समस्त हिन्दू समाज में चेतना की नई लहर दौड़ गई थी। पर धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए मौत को गले लगाने वाले और कितने लोग थे? गुरु गोविन्द समाज को उस बलिपन्थ के लिए तैयार करना चाहते थे।

गद्दी पर बैठे हुए उन्हें १३ वर्ष बीत चुके थे। मुग्ध किशोरावस्था समाप्त हो चुकी थी। नवतारुण्य से उनका मुख देदीप्यमान था।

प्रभात वेला में उठकर गुरु जी स्नान करके ध्यान मग्न हुए और उसके बाद अपने नये वस्त्र पहनकर अस्त्र-शस्त्र धारण करके संगत के सामने प्रकट हुए।

दशम गुरु का दर्शन करते ही संगत में जमा लोग उनके पिता गुरु तेग बहादुर के त्याग और बलिदान का स्मरण करने लगे।

उस दिन दशम गुरु की वाणी में जैसे स्वयं सरस्वती आकर विराजमान हो गई। एक-एक शब्द में वर्षों के चिन्तन की छाप थी और युग की पुकार ध्वनित हो रही थी। गुरु ने अपना हृदय खोलकर संगत के सामने रख दिया और सारी संगत भाव-विभोर हो उठी।

सहसा गुरु जी ने म्यान से अपनी तलवार निकाली और हवा में लहराते हुए उसे अपने सिर से ऊपर तान कर बोले– "चण्डी प्यासी है–है कोई धर्मी जो अपना शीश देकर धर्म की रक्षा करने को तैयार हो ?"

सारी संगत स्तब्ध थी। कहीं से कोई उत्तर नहीं।

मेघ-गम्भीर ध्वनि से गुरु जी ने फिर गरज कर कहा– "है कोई धर्मी माई का लाल जो शीश देकर धर्म की रक्षा करे ?"

संगत में सन्नाटा छा गया। अपने आपको धर्मी कहने वालों की कमी नहीं थी। परन्तु इस वक्त जैसे किसी के मुंह में जबान नहीं रही। बहुत से संगत छोड़कर जाने लगे। कोई और होता तो इस स्थिति से निराश होकर पता नहीं क्या कर बैठता। पर दशम गुरु तो सामान्य पुरुष नहीं थे। वे किसी और ही धातु के बने थे। वे तो 'परम पुरुष के दासा' थे। उन्हें अपने से पहले के गुरुओं का त्याग

और बलिदान स्मरण था।

फौलाद से हथियार बनाने के लिए एक-दो प्रहार से ही बात नहीं बनती। तपे हुए फौलाद पर तब तक एक के बाद एक प्रहार करना होता है जब तक उसमें से हथियार की शक्ल साफ तौर से झलकने नहीं लगती।

इतने में ही एक और ललकार पड़ी–"है कोई माई का लाल धर्मी जो शीश देकर धर्म की रक्षा करे?"

और युग-युग पुरानी जड़ता टूट गई। फौलाद हथियार की शक्ल अख्तियार करने लगा। सारी संगत ने आंखें फाड़ कर देखा कि संगत में से एक आदमी हाथ जोड़े खड़ा है और कह रहा है कि मेरा सिर हाजिर है।

वह था लाहौर का दयाराम खत्री।

गुरु जी ने दयाराम का हाथ पकड़ा और उसे अपने साथ लेकर पास के तम्बू में चले गये। थोड़ी देर बाद जब बाहर आये तो उनकी तलवार से ताजा लहू टपक रहा था। देखते ही शिष्यों के होश उड़ गये।

गुरु जी ने फिर खांडा हवा में लहराया और फिर हुंकार दी–"है कोई धर्मी--------?"

कुछ लोगों से रहा नही गया। वे वहां से उठे। वे शिकायत करने माता जीतो के पास पहुँचे कि आज गुरु जी पर न जाने क्या पागलपन सवार हो गया है।

माता तो गुरु जी की प्रकृति से परिचित थी ही। उसने कोई उत्तर नहीं दिया और चुप रही।

वे लोग निराश होकर वापस लौटे कि इसके पहले ही उन्होंने देखा कि हस्तिनापुर का धर्मदास जाट खड़ा होकर हाथ जोड़कर गुरु जी से प्रार्थना कर रहा है कि मेरा भी शीश हाजिर है।

गुरु जी उसे भी अपने साथ तम्बू में ले गये और थोड़ी देर बाद जब तम्बू से बाहर निकले तो उनकी तलवार से पहले ही जैसा ताजा खून टपक रहा था।

संगत में जमा लोग आपस में कानाफूसी करते इससे पहले ही गुरु जी ने फिर ललकार लगाई–"है कोई धर्मी-------?"

इस बार अपना शीश हाजिर करने के लिए जो व्यक्ति खड़ा हुआ वह था द्वारिका पुरी का मुहकम चन्द धोबी। गुरु जी उसको भी अपने साथ तम्बू में ले गये और जब बाहर आये तो तलवार से वैसा ही ताजा खून टपक रहा था।

गुरु जी ने फिर सिंह गर्जना की–"है कोई धर्मी-------?"

गुरु जी की इस ललकार के उत्तर में इस बार जो व्यक्ति सामने आया उसका नाम था हिम्मत और वह जाति का धीवर था। हिम्मत की इस हिम्मत पर लोग चौंकें कि तब तक गुरु जी उसे भी तम्बू के अन्दर ले गये और जब तम्बू से बाहर निकल कर आये तो उनकी तलवार फिर वैसे ही ताजा खून टपका रही थी।

गुरु जी के उन्मादी उत्साह में कमी नहीं आई थी। उन्होंने फिर वैसी ही ललकार लगाई।

गुरु जी के इस पुकार के जवाब में इस बार जो व्यक्ति खड़ा हुआ, वह था बीदर का साहब चन्द नाई। गुरु जी उसे भी अपने साथ तम्बू में ले गये और उसका भी वही हश्र हुआ जो उससे पहले के चार व्यक्तियों का हुआ था।

किन्तु इस बार जब गुरु जी कुछ देर के बाद तम्बू से बाहर आये तो वे अकेले नहीं थे। उनके

साथ वे पांचों व्यक्ति भी नये कपड़े पहने साथ खड़े थे जो गुरु के आह्वान पर अपना शीश देने को तैयार थे।

सारी संगत तुमुल हर्षनाद से जैसे चीख उठी और सबने जय-जयकार से आसमान गुंजा दिया।

गुरु जी ने उन पांचों वीरों को "पंच प्यारा" कहकर पुकारा। इन पांच प्यारों को पहला खालसा सजाया और उन्हें अमृत छकने को कहा।

एक लोहे के पात्र में सतलज का जल डाला और गुरु जी ने अपने दुधारे खाँडे से उसे आर-पार काटा। फिर गुरु-पत्नी ने उसमें बताशे डालकर उसे मीठा किया। इसके पश्चात् गुरु जी ने पाँच वाणियों का पाठ किया। ये वाणियां थीं–"जप जी साहब, जाप साहब, दश सवैये, चौपाई और आनन्द साहब।"

गुरु जी ने लोहे के पात्र में सामान्य नदी का जल लेकर एक तरह से यह बताया कि मनुष्य की आत्मा भी नदी के समान ही अनन्त और प्रवाहशील है। महाभारतकार ने भी आत्मा की तुलना नदी से की है–"आत्मा नदी संयम पुण्य तीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः"। फिर अपने खाँडे से उसको काटकर एक तरह से यह बताया कि जिस प्रकार खांडे से काटने पर जल फिर मिल जाता है और उसमें कोई भेद नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा-आत्मा में भी भेद-भाव करना गलत है। वाणियों के पाठ से उन्होंने यह दर्शाया कि आध्यात्मिक सूक्तियों से अभिमन्त्रित करने पर आत्मा में पवित्रता आती है। माता जीतो ने उस जल में बताशे घोलकर शिष्यों को यह संकेत दिया कि उनके मन, वचन और कर्म में मधुरता का वास होना चाहिए। शास्त्रों में कहा है–"विद्यया अमृतं अश्नुते"–विद्या-ज्ञान से ही अमृत का पान किया जा सकता है। इसी बोध से उन्होंने नदी-जल को अमृत का रूप दिया था।

तब गुरु जी ने सबसे पहले नव-दीक्षित पाँच प्यारों को यह अमृत छकाया। इस अमृत को पीकर पाँचों प्यारे तो निहाल हुए ही, इस दृश्य को देखकर सारी संगत भी निहाल हो गई।

गुरु जी ने अब अगला चमत्कार किया।

इस घटना से उन्होंने यह बता दिया कि जो सिख गुरु की आज्ञा से अपना शीश देने को तैयार हो जाय और उसे आत्मा की अमरता का इतना विश्वास हो जाय कि मृत्यु का भय उसके मन में से निकल जाय, तो अमृत छकने का उसका अधिकार गुरु से भी पहले है। जिन शिष्यों को गुरु ने अपने हाथों से अमृत छकाया और स्वयं दीक्षा दी, अब उन्हीं शिष्यों के सामने गुरु विनम्र होकर बैठ गये और शिष्यों का शिष्य बनकर उनसे विनती की कि अब आप मुझे अमृत छकाइये।

इस आदर से कौन शिष्य अभिभूत न हो जाये! उनके मन में अपने गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति का भाव और बद्धमूल हो गया। उन्होंने बड़े प्रेम से गुरु जी को अमृत छकाया।

उस दिन से गुरु गोविन्द राय का नाम बदलकर गुरु गोविन्द सिंह हुआ।

विश्व के इतिहास की यह अनोखी घटना है। इसके द्वारा गुरु जी ने जहां शिष्य-धर्म और खालसा की नींव डाली और गुरु के प्रसाद से अमरता-प्राप्ति की राह दिखाई, वहाँ लोहे के पात्र के प्रयोग से उन्होंने अपने शिष्यों को सादगी और वीरता का भी उपदेश दिया। उन्होंने अपने शिष्यों के लिए पंच ककार की व्यवस्था की जिसमें केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा शामिल हैं।

सिख विद्वानों ने इन पंच-ककारों के अनेक गूढ़ अर्थ निकाले हैं, परन्तु सामान्य बुद्धि से भी यह

बात समझ में आ जाती है कि अपने शिष्य को खालसा या औरों से निराला बनाने के लिए ही यह व्यवस्था थी। जाति की जड़ता को दूर करने और उसमें वीरता का भाव भरने के लिए यह सैनिकोचित वेष निर्धारित किया गया था। खालसा माने खालिस, विशुद्ध, पवित्र। जब विदेशी आक्रमणकारियों से मातृभूमि रौंदी जा रही हो तो उस की रक्षा करने से बढ़कर पवित्र कार्य और क्या हो सकता है? वास्तव में खालसा शब्द का वही अर्थ है जो प्राचीन वैदिक साहित्य में 'आर्य' का अर्थ है। 'आर्य' और 'खालसा' इन दोनों शब्दों को अर्थ की दृष्टि से पर्यायवाची समझा जा सकता है।

आर्य भी कोई जातिवाची, सम्प्रदायवाची या नस्लवाची शब्द नहीं, केवल गुणवाची शब्द है, जिसका अर्थ है–श्रेष्ठ आचरण वाला। खालसा शब्द का भी तो यही अर्थ है–जिसका आचार-विचार खालिस अर्थात् पवित्र हो। इसको किसी सम्प्रदाय या जाति के साथ जोड़ना उचित नहीं। बाद में खालसा का अर्थ किस तरह बदल गया, यह आगे जाकर देखेंगे। पंथ प्रकाश में गुरु जी ने स्वयं कहा है–

गुरु घर जन्म तुम्हारे होये। पिछले जाति वरण सब खोये।
चार वरण के एको भाई। धर्म खालसा पदवी पाई॥

प्रश्न यह है कि जिस धर्म की रक्षा के लिए गुरु जी ने संगत का आह्वान किया था, उस धर्म से उनका अभिप्राय क्या था? यह भी उन्होने स्वयं ही स्पष्ट कर दियां है–

जो तुम सिख हमारे आरज।
देवो शीश धर्म के कारज॥

आर्य धर्म की रक्षा के लिए ही उन्होंने शीश देने का आह्वान किया था और फिर जैसे इसी आर्य धर्म का खुलासा करते हुए उन्होने कहा था–

"सकल जगत में खालसा पंथ गाजे।
जगे धर्म हिन्दू सभी भण्ड भाजे।"

इससे भी यह स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए ही उन्होंने खालसा को सजाया था। कोई अलग पंथ या सम्प्रदाय चलाने का उनका इरादा नहीं था। 'विचित्र नाटक' में उन्होंने लिखा है–

"जो कोई होत भयो जग स्याना, तिन-तिन अपना पन्थ चलाना।
परम पुरख किन्हीं नही पाए, वैर वाँध अहंकार बढ़ाए॥
प्रभु के पंथ न कोई चले, पड़े पात आपन ते जले
हम इह काज जगत मो आये, धर्म हेत गुरुदेव पठाये।"

–कुछ चतुर लोगों ने ईश्वर के धर्म वेद के स्थान पर अपने नए-नए पन्थ चलाकर लोगों को लड़ाने के सिवाय और कोई भला कार्य नहीं किया। मैंने तो प्रभु के धर्म वेद की रक्षा करने तथा दुष्टों का संहार करने के लिए ही भारत में जन्म लिया है।

माता चण्डी के आगे अरदास करते हुए वे कहते हैं:–

न छाडूँ कहूँ दुष्ट असुरन निशानी,
चले सब जगत में धर्म की कहानी।
छत्र धारियन को करूं बेग नाशा,
आपन दास का देखियो तब तमाशा॥

–हे जगत् माता! मैं दुष्ट राक्षसों का चिन्ह तथा नाम ही मिटा दूँगा ताकि सारे जगत् में धर्म की कहानी चले। मैं छत्रधारी राज्य-शासकों का शीघ्र नाश करूंगा। तब आप दास का तमाशा देखना। फिर कहा:–

धर्म वेद मर्याद जग में चलाऊँ,
गौ घात का दोष जग से मिटाऊँ।

–अर्थात् मैं वेदोक्त धर्म की मर्यादा को संसार में फैलाऊँ और गौ-घात का दोष जगत् से मिटा दूँ।

एक स्थान पर दशम ग्रन्थ में दुःख से कहा है:–

नहीं वेद प्रमान हैं, मत भिन्न-भिन्न बखान हैं।

(कलकी अवतार)

–अर्थात् देश के अन्दर ऐसे मत उत्पन्न हो गए हैं जो वेदों को प्रमाण न मान अपना-अपना भिन्न पन्थ बनाए बैठे हैं। फिर कहा कि:–

हम इह काज जगत मो आए, धर्म हंत गुरुदेव पठाये।
जहां तहां तम धर्म बथारूं, दुष्ट दोखियन पकड़ पछाडूँ।
इह काज धरा हम जन्मम, समझ लियो साधुजन मन मम।।
धर्म चलावन सन्त उबारन, दुष्ट सभन को मूल उपारन।।

(विचित्र नाटक)

–अर्थात् मैं तो केवल इसी काम के लिए संसार में जन्म लेकर आया हूँ। (वेद) धर्म-मर्यादा को जीवित करने के लिए ही परमगुरु उस परमात्मा ने मुझे भेजा है। उस की परम आज्ञा है कि तुम हर जगह जा कर धर्म का विस्तार करो और दोषी-दुष्टों को पकड़ कर पछाड़ दो। साधुजनों की रक्षा और दुष्टों के उन्मूलन के लिए ही हमने धरा में जन्म लिया है।

सुधी पाठक देखेंगे कि इसमें गीता में श्रीकृष्ण द्वारा कथित इस सत्य का ही उद्घाटन है या नहीं–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ८)

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब गुरू जी ने धर्म के लिए शीश देने का आह्वान किया तब उस का उत्तर उनके तथाकथित सिख अनुयाइयों ने नहीं, बल्कि पाँच हिन्दुओं ने दिया था, जिनको गुरू ने पंच-प्यारा के नाम से सिख इतिहास में सबसे अधिक आदर का स्थान दिया है। भले ही ये पाँचों व्यक्ति जन्म-जाति के अभिमान से ग्रस्त सवर्णों की दृष्टि में हेय रहे हों, किन्तु गुरू जी ने उनको अमृत छका कर सवर्णों से कहीं अधिक आदर का पात्र बना दिया। गुरू जी तो चारों वर्णों को एक करने आये थे और सारी हिन्दू जाति को कायरता से निकालकर वीरता के भावों से ओत-प्रोत करना चाहते थे। इसीलिए उस अमर वैशाखी के दिन उन्होंने वह मनोवैज्ञानिक ढंग अपनाया था।

४

एक आदिम भूख : शस्त्र से सत्ता तक

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । परन्तु यह 'प्राणी' उसकी मनुष्यता पर चाहे जब हावी हो जाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने में एक इकाई होता है और इसी अर्थ में अपनी दहाई (समाज) एवं सैंकड़े (राष्ट्र) का एक अविच्छिन्न अंश भी । वह कहीं न कहीं दूसरों से जुड़ा रहता है, किसी न किसी परिवेश से घिरा हुआ है । अपने अस्तित्व को जताने, अपने अहं को प्रतिष्ठित करने और अपनी जिजीविषा को सार्थक करने के लिए मनुष्य को यह स्थिति स्वीकार करनी पड़ती है । मानव इस आदिम भूख से सदा पीड़ित रहा है चाहे वह प्राचीन हो अथवा आधुनिक ।

इस आदिम भूख को शांत करने के लिए, जिसे स्थूल रूप में आत्म-अभिव्यक्ति अथवा प्रभुत्व स्थापन की इच्छा कहा जा सकता है, मनुष्य अनादिकाल से कुछ प्रतिमान गढ़ता आया है । आध्यात्मिक चिन्तन, सामाजिक मंथन, और वैज्ञानिक अन्वेषण की पृष्ठभूमि में मानव-प्रज्ञा जो क्रियाशील रही है उसका मूल ध्येय इस अनादि बुभुक्षा की तृप्ति भी रहा है । आत्मिक पुनर्जागरण और आत्मान्वेषण के जितने भी आन्दोलनों का अविर्भाव विश्व-मंच पर हुआ है, वे इसी आदिम भूख के फलितार्थ हैं । इस आदिम भूख को मिटाने में जब मनुष्य समाज-विहित और संस्कार-सिद्ध उपायों का अवलम्बन करता है तब सफल होने पर उसे इतिहास-पुरुष मानते हुए देवत्व से मंडित किया जाता है । अन्यथा पशुत्व तो उस पर हावी रहता ही है । रावण और दुर्योधन में वीरता का अभाव नहीं था, एक शूरवीर की तरह उन्होंने भी रणभूमि में प्राणोत्सर्ग किया था, किन्तु इतिहास में जितना यश राम और अर्जुन को मिला, उसके विपरीत उन दोनों को उतना ही अपयश मिला । कारण, केवल आदिम भूख निरी पशुता की निशानी है । मननशील मानव ने उस पाशविक आदिम भूख को नाना रूपों में संस्कारित किया है ।

हर विकासोन्मुख समाज की भाँति सिख समुदाय भी 'चढ़दी कला' के व्यामोह में इस आदिम भूख से अछूता नहीं रहा है । अपने अहं की पुष्टि के लिए उसने अध्यात्म के मार्ग पर चरण रखे तो दूसरी ओर खड्ग धारण कर भौतिक जगत् का सिरमौर बनने के जौहर भी दिखाए । त्याग और बलिदान का यह पथ प्रशस्त कर वे कोई नई बात नहीं कर रहे थे, बल्कि एक विस्मृत इतिहास का पुनर्लेखन कर रहे थे । ठीक ऐसा ही प्रयास सुदूर महाराष्ट्र में समर्थ गुरु रामदास के सान्निध्य में बैठे छत्रपति शिवाजी कर रहे थे । धर्म और राजनीति का यह सम्बन्ध परम्परा और धरोहर के रूप में आने वाली पीढ़ियों को मिलता रहा है । क्या आर्यों ने किसी युग में शस्त्र और शास्त्र को समान महत्त्व नहीं दिया ?

अन्य समुदायों की भाँति सिख भी अपनी इस चिरपोषित भूख के समानान्तर उदाहरण तो इतिहास में बता सकते हैं, किन्तु इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने जिन उपायों का अवलम्बन किया उससे आहत हर हृदय प्रश्न करेगा कि क्या धर्म की आड़ में वर्बर युग की पशुता का बोझ हम इसी प्रकार अनन्त काल तक ढोते रहेंगे ?

एक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में सिख मनोवृत्ति ने गत तीन-चार वर्षों में जिस साम्प्रदायिकता, धार्मिक अनास्था, उन्माद, पैशाचिकता और आतंक का नाटक खेला है उसे देख कर जन-मानस में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिंसक उपायों से पशुत्व का प्रसार होगा या धर्म की श्रीवृद्धि ।

हमारा विवेक यदि विकलांग या मूर्च्छित नहीं हुआ है तो हमें सोचना ही होगा कि अमृत और विष जैसे एक नहीं हो सकते, वैसे ही प्रेम तथा वैमनस्य साथ-साथ नहीं रह सकते । धर्म और शस्त्र की प्रकृति एक दूसरे से नितान्त भिन्न है, दोनों के परिणाम भी कभी एक से नहीं होते ।

यदि धर्म और शस्त्र एक दूसरे के पूरक होते तो कलिंग-विजय पर अशोक सदा के लिए हथियार नहीं फेंकता । प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् 'लीग ऑफ नेशन्स' और संयुक्त राष्ट्र संघ (यू. एन. ओ.) गठित न होते । किन्तु विपरीत परिस्थितियों में हम प्रायः धैर्य और संतुलन खो बैठते हैं और जल्दबाजी में ऐसे निर्णय ले लेते हैं जो बाद की पीढ़ियों को सालते रहते हैं । ऐसे निर्णय जब पंथ के नाम पर लिए जाते हैं तो परिणाम अपेक्षाकृत अधिक गंभीर व खतरनाक होते हैं ।

नानक ने जो सन्देश दिया वह अपने आप में इतना उत्कृष्ट था कि जन-साधारण ने उसे किसी तलवार के भय से नहीं बल्कि दिलोदिमाग से स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया था । किन्तु उसी उत्साह से लोग गुरु गोविन्द सिंह की खालसा सेना में सम्मिलित नहीं हो सके । इसका कारण यह था कि नानक का पंथ विशुद्ध आध्यात्मिक और धार्मिक था, जबकि 'खालसा' की नींव राजनीति पर रखी गई थी । गोविन्द का जनप्रिय समाघोष था **'राज करेगा खालसा आकी रहे न कोय'** । योग्य नेतृत्व के रहते यद्यपि इस नारे से हिन्दू-सिख एकता भंग नहीं हुई । तभी तो हिन्दू परिवारों में ज्येष्ठ पुत्र को केशधारी वनाने की परम्परा विकसित हुई । किन्तु जब नेतृत्व अयोग्य एवं संकीर्ण हाथों में चला गया तो एक भ्रष्ट केशधारी भी खालसा और एक सदाचारी भी मुसलमानों की तरह 'आकी' समझा जाने लगा ।

इस विनाशकारी मोड़ के पीछे गुरु गोविन्द सिंह की अंह भावना कभी नहीं रही, बल्कि उन्होंने तो हमेशा यही कहा कि गुरु तेग बहादुर का बलिदान हिन्दू धर्म की रक्षार्थ ही हुआ था । हिन्दू धर्म ग्रन्थों और परम्पराओं के प्रति उनकी सम्मान-भावना आज भी साम्प्रदायिक सिखों के मन में खटकती है ।

आज के खालसा यदि गुरु गोविन्द सिंह को पूरी तरह अपनाते तो उनकी मर्यादा और गरिमा का ध्यान भी अवश्य रखते । गोविन्द ने पंच ककार जो अपनी फौज को दिए वैसे ही कभी महाराजा नल के श्वसुर भीम ने अपने सैनिकों को दिए थे, किन्तु उन्हें धर्म चिन्ह नहीं माना गया था । वह एक तरह का सैनिकों का गणवेश (मिलिटरी यूनिफार्म) था ।

नानक का धर्म मूलतः बाह्य धार्मिक चिन्हों के विरुद्ध है, यहां तक की शिखा और यज्ञोपवीत को भी वे महत्त्व नहीं देते । आरती और घंटे-घड़ियाल तथा तीर्थाटन और श्राद्ध-तर्पण को भी धर्म का अंग नहीं मानते । ऐसे विशुद्ध अध्यात्मवाद के आगे 'पंच ककार' का तात्कालिक महत्त्व तो समझ में आ सकता है, किन्तु उसे स्थायी रूप से 'अपनी पहचान' बनाए रखने के लिए अपनाना नानक की दृष्टि से सर्वथा गलत है । स्वयं मनुस्मृति में लिखा है – 'न लिंगं धर्म-कारणम्' – अर्थात बाह्य चिन्ह धर्म के कारण नहीं होते । 'अपनी पहचान' के इस व्यामोह ने कालान्तर में हिन्दू-सिख के बीच ऐसी

दरारें पैदा कीं कि आज शायद ही कोई पंजाबी हिन्दू परिवार अपनी पहली सन्तान को केशधारी बनाने की सोचे।

स्थिति ऐसी न होती तो हरमन्दिर साहब के विकल्प के रूप में दुर्ग्याना मन्दिर की दीवारें न उठतीं। गत पाँच जून को पंजाब में सैनिक कार्यवाही से सिखों का जो रूप वेनकाब हुआ है, उसने समूचे सिख समुदाय के समक्ष एक ऐसी निर्णायक घड़ी उपस्थित की है कि उन्हें नानक और गोविन्द इन दो विपरीत ध्रुवों में से किसी एक को चुनना होगा; अथवा कोई सर्वग्राह्य, समन्वित सम्बन्ध इन दोनों में स्थापित करके अपने आचरण से उसकी पुष्टि करनी होगी।

विश्वास किया जाना चाहिए कि सिखों में ऐसे दूरदर्शी, 'सरबत' का भला चाहने वाले बुद्धिजीवियों का अभाव नहीं है जो अकाली आन्दोलन की आंधी और भिंडरांवाले के आतंक से हुई हानि का निष्पक्षता से आकलन कर सकें और सिखों का सही पथ-प्रदर्शन कर सकें। उस अभागी काल-रात्रि को स्वर्ण-मन्दिर में जो घटित हुआ उससे यद्यपि पंजाब और पड़ौसी राज्यों ने राहत महसूस की है किंतु उसे नितांत अप्रिय और अशोभनीय भी माना गया है। प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा यह विजय नहीं पराजय समझी गई है, ठीक वैसी ही भावना जैसी महाभारत में विजय प्राप्त कर लेने पर युधिष्ठिर के मन में आई थी, कलिंग विजय के पश्चात् अशोक के मन में आई थी।

किसी भी व्यक्ति के लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचना सुगम नहीं है कि अमन का पैरोकार एक विशुद्ध मानव-धर्म किस प्रकार ऐसे लोगों के हाथों में पहुँच गया जो निहित स्वार्थों के लिए घृणा, वैमनस्य और नृशंसता का खेल खेलते रहे और इसे पराक्रम तथा शूरवीरता का 'विशेषण' देने की भ्रांति पाले रहे। ऐसा मानदण्ड राजनीति और प्रशासन के सन्दर्भ में तो फिर भी कुछ अर्थवत्ता रखता है, धर्म और अध्यात्म के प्रसंग में बिल्कुल नहीं।

आत्मा का बल निस्तेज होकर जब शारीरिक अथवा शस्त्र बल का आश्रय ढूँढने लगता है तब धर्म अपने मूलाधार से खिसकने लगता है। धर्म से आस्था उठने पर ही शस्त्रों में विश्वास बढ़ता है। प्रेम, सौहार्द, सद्भावना, सहिष्णुता, अहिंसा आदि सद्गुणों के स्रोत जब सूख जाते हैं तो आदिम पशुत्व जाग उठता है और उसे औचित्यपूर्ण सिद्ध करने के लिए अनेकानेक बहाने ढूँढ लिए जाते हैं। झूठी साक्षियां इकट्ठी की जाती हैं, निराधार भ्रांतियां पैदा कर दी जाती हैं। इतिहास के पन्ने पलटने पर यही सत्य उभर कर सामने आता है कि राजनीति की अपेक्षा धर्मान्धता ने मानव-रक्त-सिंधु में अधिक गहरे गोते खिलाए हैं।

हमारा अतीत बार-बार हमसे पूछता है कि धर्म का यह जनाजा इतनी निर्लज्जता से आखिर कब तक निकाला जाता रहेगा? धर्म के प्रति हमारी सच्ची आस्था आखिर कब मूर्त्तिमंत होगी? धर्म के नाम पर राजनीतिक गोटियां बिछाने का क्रम और उसके नाम पर फैलाई जा रही नफरत की आंधी आखिर कब शांत होगी?

हमारे समक्ष सैंकड़ों उदाहरण हैं जो पथभ्रष्ट मानवता को यह विश्वास दिलाते हैं कि धर्म तलवार के साये में नहीं, वल्कि सद्गुणों और बलिदानों से अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। गौतम, महावीर, कबीर, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ,ईसा, सुकरात, मंसूर और सरमद न जाने कितनी महान् विभूतियां इस धरती पर अवतरित होकर इस विश्वास को जन-जन में प्रचारित कर गईं कि शांतिपूर्ण एवं सुरक्षित जीवन की गारंटी अस्त्र-शस्त्र नहीं, वरन् हमारा सात्त्विक जीवन तथा सदाचार है जिसके विकास के लिए ईश्वरीय आस्था और धर्म केवल अनुशासन का काम देता है।

किन्तु जरा देखिए, आदिम भूख से व्याकुल नेतृत्व सामान्य जनता की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित कर उन्हें किस प्रकार गुमराह कर देता है। पंजाब की स्थिति और डा. राधाकृष्णन के इन शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन इस बात को और स्पष्ट करता है–"आज धर्म के प्रति आस्था से खिसक कर हम बहुत दूर चले गए हैं और आज सुरक्षा का हाशिया खतरनाक रूप से संकुचित हो गया है। सामाजिक मनोव्यथा का दुरुपयोग करने वाले असंख्य व्यक्ति विश्व के विभिन्न भागों में पैदा हो गए हैं जो अपने को नेता कहते हैं और विवेक के नाम पर अपनी धूर्तता का प्रदर्शन करते रहते हैं।"

कुछ ऐसे ही विरोधाभास को अपने अंक में समेटे आज का सिख-समाज पनपता गया है। नानक के सिख धर्म और गोविन्द के खालसा पंथ में एक सामान्य सिख को कोई अन्तर नज़र नहीं आता। किन्तु वास्तविकता यह है कि गत तीन वर्षों में आनन्दपुर साहब के समर्थकों ने जिस प्रकार का आतंकवाद फैलाया उसके परिप्रेक्ष्य में यदि नानक और गोविन्द को आमने-सामने खड़ा कर दिया जाए तो वे शायद ही एक दूसरे को पहचान सकें।

श्रद्धालु जन इसे सिख धर्म पर हस्तक्षेप समझ सकते हैं, किन्तु इससे पहले आवश्यकता यह समझने की है कि सिख गुरुद्वारों को असामाजिक तत्त्वों का शरण-स्थल, आतंकवादियों के किले, मजहबी सियासत के केन्द्र, तस्करी के अड्डे, व्यभिचार के आगार बनने से रोक कर **'आकी रहे न कोई'** सरीखी गुरुवाणी को सत्य सिद्ध किया जाए और **'राज करेगा खालसा'** के व्यामोह को सर्वथा त्याग दिया जाये। क्योंकि इसी नारे ने गुरुद्वारों की ऐसी दयनीय दशा बनाई, हरमन्दिर साहब की अवमानना कराई। अकाली दल राजनीति करना ही चाहता है तो भले ही करे, किन्तु पंथ की गतिविधियों में उसके हस्तक्षेप पर प्रतिबंध लगना चाहिए और गुरुद्वारों की दान राशि को राजनीतिक उद्देश्यों पर खर्च नहीं किया जाना चाहिए। या यदि वह धार्मिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करता है तो उसे राजनीति से अलग रहना चाहिए।

सिख धर्म और खालसा पंथ के अन्तर को कोई सिख समझे अथवा न समझे, किन्तु गैर-सिखों के समक्ष यह अन्तर स्पष्ट हो चुका है। **'राज करेगा खालसा'** की दुहाई ने पहले मुसलमानों में शक पैदा किया, फिर अंग्रेजों में किया और आज हिन्दुओं में भ्रम पैदा कर दिया है। एक सच्चा धर्म लोगों के हृदय पर राज करने का इच्छुक होता है न कि राजसत्ता पर अधिकार करने का। धर्म के मसीहों, पैगम्बरों और महापुरुषों ने हमेशा राजसत्ता को अपने कदमों में झुकाया है। ईसा, मंसूर, सरमद ने किसी बादशाहत के आगे सिर नहीं झुकाया और कभी तलवार का सहारा नहीं ढूँढ़ा। क्या सिख इतनी जल्दी भूल गए कि नानक के कदमों में झुक कर बाबर ने उनकी चरण-धूलि अपने मस्तक पर लगाई थी, अशोक ने बुद्ध प्रतिमा के समक्ष अपनी तलवार त्याग दी थी, गुरु अर्जुन देव और गुरु तेगबहादुर ने बलिदान देकर मुगल सल्तनत के यश को धूलिधूसरित कर दिया था, बन्दा बैरागी की शहादत ने फर्रूखसियर का मान मिट्टी में मिला दिया था, फ़तहसिंह और जोरावर सिंह ने अपने बलिदान का अनुपम उदाहरण देकर सरहिन्द के शासक को इतिहास में नंगा कर दिया था? जो काम तलवारें सौ वर्षों में नहीं कर सकतीं वह काम महान् आत्माएं स्वल्पकाल में ही कर जाती हैं। भारत में सिख धर्म का यदि कुछ भविष्य बन सकता है तो इसी उदात्त परम्परा के संरक्षण एवं संवर्द्धन से बन सकता है, न कि आतंकवाद से।

नानक और गोविन्द के मध्य जो दूरी व भिन्नता वर्तमान सिख नेतृत्व ने अपने गलत आचरण से पैदा की है उसे दूर करने के लिए ठोस प्रयास करना होगा। पंजाब की एकता, प्रेम और सौहार्द सिखों

से पूछता है कि सहजधारियों को धीरे-धीरे गुरुद्वारों से क्यों निष्कासित कर दिया गया है?

यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि सिखों के दस गुरुओं में केवल गोविन्द सिंह ही केशधारी रहे हैं और गुरु गोविन्द सिंह ने भी कोई रहतनामा नहीं निकाला कि भविष्य में केशधारी सिख को ही सिख माना जाएगा, सहजधारी को नहीं। फिर क्या कारण है कि शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी में आज एक भी सहजधारी सिख नहीं है? गुरुद्वारों में आज एक भी सहजधारी, चाहे नुमायशी तौर पर ही, ग्रंथी नहीं है? जनगणना और सैनिक भर्ती के लिए जब सिख को केवल केशधारी के रूप में अंग्रेजों ने परिभाषित किया तो उसका विरोध व निन्दा क्यों नहीं की गई। सहजधारी सिख को आज सिख माना ही नहीं जाता, लेकिन फिर भी ब्राह्म वेला में गुरुद्वारों से एक पुरानी बांग उच्चारित होती रहती है:

गुरु नानक नाम चढ़दी कला।
तेरे भाणे सरबत दा भला ।।

पंथ जंजीरों में

इस स्थिति से आज केशधारी संतुष्ट एवं प्रसन्न हो सकते हैं, किन्तु स्वार्थों में अंधे हुए इन लोगों को शायद यह नहीं दिख रहा कि इस गर्हित दृष्टिकोण से सिख धर्म पंजाब की धरती से सिमट कर गुरुद्वारों की चारदिवारी में सीमित हो गया है। और सच कहा जाए तो वह भी माझा, दोआबा और मालवा के जट्ट-सिखों तक महदूद होकर रह गया है। वह काल रात्रि पर्दाफ़ाश करती है इस बात का कि किस बेरहमी से पवित्र गुरुद्वारों की किलेबंदी करके नानक के शान्तिमय धर्म की धज्जियां उड़ाई गईं। निश्चय ही इन गतिविधियों में जट्ट-सिखों का योगदान सर्वाधिक रहा है। अतः गुरुद्वारों पर उनकी पकड़ और मजबूत होगी जिससे सहजधारियों, नामधारियों, मजहबी सिखों व गैर जट्ट-सिखों के गुरुद्वारा-प्रवेश पर और अंकुश बढ़ेगा।

पंजाब से बाहर की जनता पर अकाली आन्दोलनों और आतंकवाद का यह प्रभाव हुआ है कि जब तलवार ही सब समस्याओं का समाधान है तो फिर धर्म की जरूरत ही क्या रह गई है? इससे बढ़कर विडम्बना और क्या हो सकती है कि रूहानी ताकत के प्रति अनास्था और अविश्वास दर्शा कर संत भिंडरांवाले, भाई अमरीक सिंह, मेजर जनरल शाबेग सिंह, मेजर जनरल मोहिन्द्र सिंह, मेजर जनरल भुल्लर, मेजर जनरल नरेन्द्र सिंह और ब्रिगेडियर जे. एस. ढिल्लों आदि ने पंजाब में ऐसा वातावरण तैयार किया जिससे यह भ्रम फैलते देर नहीं लगी कि नानक प्रदत्त अमन का सन्देश अब केवल इतिहास का विषय बनकर रह गया है।

कहा जा सकता है कि ऐसे निष्कर्ष किसी गैर-सिख द्वारा निकालना उचित नहीं हैं। माना जा सकता है कि यह अनधिकार चेष्टा है, किन्तु ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले शायद भूल जाते हैं कि सभी धर्मों में कुछ ऐसे आधारभूत, शाश्वत एवं सार्वभौम तत्त्व विद्यमान हैं जिन पर आई आँच धर्म की समग्रता को झुलसा जाती है और आस्तिक हृदय आहत हो उठता है, भले ही वह हिन्दू हो, मुसलमान हो अथवा इसाई हो। बाह्य चिह्नों, कर्मकाण्डों और दकियानूसी रीति-रिवाजों से ढका यह धर्म तत्त्व जब कलंकित, अनादृत, बहिष्कृत या संकीर्ण होता है तो किसी भी आस्तिक हृदय का चीत्कार कर उठना स्वाभाविक है। यह किसी उन्माद या पागलपन का परिणाम नहीं होता।

काश! इस व्यथा को समझने की समझ उन सिख भाइयों में अंगड़ाई ले पाती जो आज भी

नानक और गोविन्द में कोई अन्तर नहीं समझते और जिनकी आदिम भूख स्वयं उन्हीं को खाये जा रही है।

एक कल्पित भय

सिखों का यह मानना कि हथियार रखना उनका पंथसिद्ध अधिकार है, मूलतः गलत है। शेष समाज जब हथियार रखे बिना अपने को सुरक्षित अनुभव करता है तो सिख किस भय से आशंकित हैं? और फिर हथियार सुरक्षा की पूरी गारंटी भी तो नहीं हैं। क्या सिख मुसलमानों, जाटों, राजपूतों, मरहठों, पूरबी भैय्यों और अंग्रेजों से कभी पराजित नहीं हुए ? हथियारों पर यदि इतना भरोसा था तो अहमदशाह अब्दाली और नादिरशाह पंजाब के रास्ते दिल्ली कैसे पहुँच गए ? गुरु गोविन्द सिंह हथियार रखते हुए भी निराश होकर पंजाब क्यों छोड़ गए? और सन् १९४७ में आप ननकाना साहब तथा अन्य गुरुद्वारे पाकिस्तानी मुस्लिम सरकार को क्यों सौंप आए ? और फिर हथियार रखने वाला इस बात की क्या गारंटी दे सकता है कि वह हथियारों का दुरुपयोग नहीं करेगा ?

यह कैसी विडम्बना है कि गुरु गोविन्द सिंह के युग की सभी स्थितियां आज बदल चुकी हैं, लेकिन फिर भी पंथिक आधार पर हथियार रखने की वकालत की जाती है। छः इंच या गज भर की तलवार से क्या पिस्तौलधारी का मुकाबला हो सकता है ? फिर कृपाण रखने पर ही जोर क्यों ? साम्प्रदायिक आग्रह को इस प्रकार पालने से क्या कोई भी धर्म आज के वैज्ञानिक युग में दीर्घजीवी होने की आशा कर सकता है ?

सत्ता की ललक

इस देश के धर्मनिरपेक्ष संविधान के अन्तर्गत जब सनातनी हिन्दू, आर्यसमाजी, जैनी, बौद्ध, पारसी, ईसाई और मुसलमान निर्भय हैं और उन सबकी अलग पहचान बनी हुई है तथा अपनी धार्मिक परम्पराओं का पालन करने में वे पूर्णरूपेण स्वतंत्र हैं तो सिखों, विशेषकर अकालियों में, यह भय क्यों पैदा किया जा रहा है कि भारत में वे गुलामों की जिन्दगी बसर कर रहे हैं ? असल में पंजाब में अल्पावधि के सत्ता-भोग को वे भूलना नहीं चाहते। गुरु अर्जुन देव से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक सिखों में जिस राजनीतिक आकांक्षा का उदय हुआ और महाराजा रणजीत सिंह ने 'खालसा राज' की स्थापना कर जिस आकांक्षा को भारत के भूगोल पर उतारा, उस भग्न मोह को अकाली आज भी पाले हुए हैं। सत्ता का नशा सिर पर चढ़ कर बोलता है, इसमें दो राय नहीं हैं। लेकिन अकालियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अकेले सिखों ने ही अपूर्व बलिदानों से प्राप्त सत्ता का भोग नहीं किया था। राजपूत, गुर्जर, डोगरे, मरहठे, जाट, अहीर, तथा इतिहास के गर्भ में विलीन अन्य अनेक जातियों ने जो आज अल्पसंख्यक हैं, अथवा अपना प्राचीन गौरव विस्मृत कर चुकी हैं, इस देश में सत्ता का उपभोग किया था।

जिस समय भारत स्वतंत्र हुआ उस समय भी देश में पाँच सौ से अधिक स्वतंत्र रियासतें थीं। किन्तु इन सभी रियासतों ने और सत्ताभोगी 'मार्शल रेसेज़' ने राष्ट्र हित में सत्ता के व्यामोह का त्याग कर राष्ट्रीय एकता को पुष्ट आधार प्रदान किया। आखिर राष्ट्रीय धारा में अकालियों को मिलने में क्या कठिनाई है। स्वतंत्र भारत के गत सैंतीस वर्षों में भारत सरकार तथा अन्य किसी जाति या सम्प्रदाय ने सिखों के विरुद्ध कोई ऐसा कदम नहीं उठाया जिसने उनकी धार्मिक स्वतंत्रता पर

कुठाराघात किया है। फिर किस आधार पर वे खालिस्तान की मांग करते हैं ? सिखों के प्रति अन्याय की जो बातें पंजाब की हवाओं में जहर घोल रही हैं वह महज अकालियों का राजनीतिक स्टंट और विदेशी एजेंटों का अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र है। कैसा मज़ाक है कि पंजाब में केवल अकाली और आतंकवादी ही कल्पित शोषण और अन्याय की गरम लू में झुलस रहे हैं जबकि राष्ट्रवादी सिखों, मजहबी सिखों, उदासी, निरंकारी व नामधारी सिख तथा सहजधारियों को ऐसे शोषण व अन्याय का न कभी पहले अहसास हुआ और न आज ही है।

उग्रवाद के तीन तथ्य

पंजाब में आग की होली खेलने वालों के बारे में क्या राष्ट्र यह निर्णय ले ले कि उनका न तो परमात्मा में विश्वास रहा है और न पंथ में आस्था; न वे इंसानियत को समझते हैं और न राष्ट्रीयता को स्वीकारते हैं ? अकाली आन्दोलन और आतंकवाद को यदि सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह तथ्य दृष्टिगत होता है कि इसके संचालक एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और समान उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न रहे हैं। दूसरा तथ्य यह सामने आता है कि वे विदेशी सरकारों से प्रेरित एवं प्रोत्साहित होते रहे हैं। तीसरा तथ्य यह है कि ये पंजाब के उन २० प्रतिशत लोगों में से हैं जो पंजाब में सबसे अधिक समृद्ध, खुशहाल और धनाढ्य हैं। पंजाब का यह अभिजात वर्ग जट्ट-सिख है जिसमें किसान, व्यापारी, बुद्धिजीवी और राजनैतिक लोग शामिल हैं। इस वर्ग के विदेश में फैले लोग विदेशी सरकारों से सम्पर्क बनाए हुए हैं और धन तथा हथियार तस्करों के माध्यम से भारत भेजते रहे हैं। धर्म की आड़ में २० प्रतिशत लोगों का यह समूह ८० प्रतिशत सिख जनता को गुमराह करके पंजाब में अपना प्रभुत्व और वर्चस्व बनाए रखना चाहता है। पंजाब को मिलने वाली अधिकांश सुविधाओं का उपभोग यही वर्ग कर रहा है। सरकार और प्रशासन में उनका ही बोलबाला है और यही कारण है कि पंजाब में सेना को हस्तक्षेप करने पर बाध्य होना पड़ा। पंजाब की अस्सी प्रतिशत शोषित जनता जब तक इन बीस प्रतिशत लोगों के अधिनायकवाद के विरुद्ध संघर्षरत नहीं होगी तब तक पंजाब इसी प्रकार आग की भट्टी में झुलसता रहेगा।

सरकार द्वारा जारी श्वेत-पत्र में संत भिंडरांवाले के बयानों का जो सारांश दिया गया है उसे पढ़कर किसी भी भारतीय का सिर लज्जा से झुक जाता है। उनका कथन है कि सिखों को यह अहसास होना चाहिए कि वे भारत की हिन्दू सरकार के आधीन गुलामी की जिन्दगी बसर कर रहे हैं, अतः उन्हें गुलामी की श्रृंखलाओं को तोड़ने के लिए शस्त्र धारण करने होंगे। परम्परा से प्राप्त शौर्य और बहादुरी का स्मरण कराते हुए वे सिखों का आह्वान करते हैं कि "६६ करोड़ को विभाजित करें तो प्रत्येक सिख के हिस्से में केवल ३५ हिन्दू आते हैं, ३६ भी नहीं आते, तो फिर आप कैसे कहते हैं कि आप कमजोर हैं।" ये शब्द एक ऐसे व्यक्ति के हैं जो मरने से पूर्व संत कहलाता था और मरने के पश्चात् शहीद। अभी तक यह भी पता नहीं चल सका है कि वह लड़ते हुए मरा है, उसने आत्महत्या की है या किसी मरजीवड़े की ही गोली का निशाना बना है। अब किसी को इस बात में रुचि नहीं है कि वह कैसे मरा या उसे शहीद क्यों बनाया जा रहा है।

इतिहास में जिन लोगों की रुचि है वे भूले नहीं होंगे कि ऐसी ही शब्दावली का प्रयोग फर्रुखसियर नामक एक शैतान पहले भी कर चुका है। उस क्रूर मतांध शासक ने जब सिखों के सिर पर इनाम देने की घोषणा की थी और जब उसने वीर बन्दा बैरागी, उसके बेटे तथा साथियों को अत्यन्त नृशंसता से मौत के घाट उतार दिया था, तो वह अपने को इस्लाम का विनम्र सेवक, खुदा का

नेक बन्दा और बहिश्त का उत्तराधिकारी समझ रहा था।

यह कहानी अकेले फर्रुखसियर की नहीं है, बल्कि हर उस मतांध नेतृत्व की रही है जो मजहब के नाम पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए क्रूरता का सहारा लेता है। भिंडरांवाले अपने विरोधियों को जब अकाल तख्त में दण्ड सुनाता था तो अत्यन्त अमानवीय ढंग से उसका कत्ल कर दिया जाता था। सोढी की हत्या में शरीक एक सिख महिला को जिस बेरहमी से मौत के घाट उतारा गया वह हृदय-विदारक घटना है, यद्यपि उस महिला का भिंडरांवाले के मरजीवड़ों ने शील भंग किया था। लोगों को आशंका है कि श्वेत-पत्र में ऐसे ही अनेक रोंगटे खड़े करने वाले, दिल दहलाने वाले शर्मनाक काण्डों को भारत सरकार ने इस कारण जानबूझ कर छिपा लिया है कि उससे सिख धर्म और गुरुद्वारों की मिट्टीपलीद न हो।

यह प्रचारित किया जाता रहा है कि सिख धर्म परम्पराओं और सिख सस्कृति की रक्षा एक पृथक् सिख स्टेट में ही सम्भव है। किन्तु इस बात का जवाब क्या है कि सिख धर्म का जन्म और विकास जब गुलाम भारत में हो सकता है तो स्वतंत्र भारत में उसका विकास सम्भव क्यों नहीं है? ब्रिटिश भारत में इंग्लैंड से उन्होंने कभी खालिस्तान नहीं मांगा। तब स्वतंत्र भारत में ऐसी फिज़ा तैयार करने का क्या अर्थ है? मुस्लिम भारत और ब्रिटिश भारत की तुलना में आज़ाद भारत का सिख कहीं बेहतर स्थिति में है, कहीं बेहतर सम्मान पा रहा है, किन्तु फिर भी 'खालिस्तान' की उनकी मांग बार-बार उठती है। क्यों?

अकाली नेतृत्व के हाथ में खालिस्तान एक ऐसी गीदड़ सींगी बन गया है कि वे जब चाहें इसके बल पर पथ. भाषा और कौम का नाम लेकर सिख जनता को विद्रोही बना लेते हैं। अपनी जायज-नाजायज बातों को मनवाने के लिए अकालियों ने इस हथियार का जब जैसा चाहा प्रयोग किया है और विघटन के डर से सरकार हमेशा अकालियों के हाथों 'ब्लैक मेल' होती रही है।

जिन लोगों में कुछ राष्ट्रीय भावनाएं थीं उन्होंने अकालियों के इस घिनौने खेल को देखकर अकाली दल से तौबा कर ली और कांग्रेस में जा मिले। अकालियों का साथ छोड़ने वाले ऐसे लोगों में ज्ञानी करतार सिंह, हुकम सिंह, ज्ञान सिंह राडेवाला, लच्छमन सिंह गिल, गुरनाम सिंह, हरचरण सिंह हुडियारा, प्रेम सिंह लालपुरा, मंगल सिंह, बाबा खड्ग सिंह, अमर सिंह झबाल, सारदूल सिंह कवांश्वर, हीरा सिंह दर्द, ज्ञानी शेर सिंह, सरमुख सिंह झबाल (अकाली दल के पूर्व प्रधान), बाबा गुरदित्त सिंह (कामागाटा मारू वाले), गज्जन सिंह, कपूर सिंह और ज्ञानी जैल सिंह (वर्तमान राष्ट्रपति) आदि का नाम उल्लेखनीय है।

किन्तु राष्ट्रीय सिखों का जितना प्रभाव पंजाब की सिख जनता पर पड़ना चाहिए था, नहीं पड़ा। कारण, राष्ट्रीय सिखों ने मात्र सुविधाओं का भोग किया है, सिख जनता में गहरी पैठ नहीं की। उन्होंने ऐसा वातावरण तैयार नहीं किया जिससे अकालियों को गुरुद्वारों से मिलने वाली सहायता बन्द हो, उन्होंने धर्म और राजनीति को एक दूसरे से पृथक् रखने के कारगर उपाय नहीं किए। इस असावधानी का दुष्परिणाम यह निकला कि अकाली मनोवृत्ति से ग्रसित सिखों की आदिम भूख निरन्तर बढ़ती चली गई।

ढोल की पोल

अकाली-नेतृत्व अपने आचरण से सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा है कि जनता पर उसकी

पकड़ मजबूत है, किन्तु सच्चाई इसके सर्वथा विपरीत है । अकाली दल हमेशा फूट का शिकार रहा है और एक समय तो अकाली चार गुटों में विभाजित हो गए थे । वर्तमान आन्दोलन में अकाली दल की जो भूमिका रही है, उससे सिद्ध हो गया है कि उसकी नकेल शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी और उग्रवादियों के हाथ में थी । अकालियों में इतना भी दम नहीं था कि वे आतंकवादियों की राष्ट्र विरोधी गतिविधियों और गुरुद्वारों में बढ़ रही अनैतिकता के विरुद्ध मुँह खोलते । वे पंजाब के प्रतिनिधि के रूप में केन्द्रीय् सरकार से वार्तालाप करने तो पहुँच जाते थे, किन्तु आतंकवादियों के भय से कोई फैसला स्वीकार नहीं करते थे ।

अकाली ढोल की एक दूसरी पोल यह है कि अपने को पंजाब का प्रतिनिधि घोषित करने वाला यह दल पंजाब को कभी विशुद्ध अकाली सरकार नहीं दे सका । सन् १९४७ के पश्चात् अकाली दल १९४८ व १९५६ में दो बार कांग्रेस में सम्मिलित हुआ । १९५७ में दोनों ने मिलकर चुनाव लड़े । १९६२ में जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टियों, कम्युनिस्ट पार्टी, स्वतंत्र पार्टी व रिपब्लिकों से सहयोग किया । १९६७ में कम्युनिस्टों व जनसंघियों के सहयोग से चुनाव लड़ा और सरकार गठित की । १९६६ में जनता पार्टी से उन्होंने सहयोग किया और फिर लोकदल के साथ हो लिये । इन दलों के साथ सहयोग करते हुए भी अकाली अपना कोई राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं बना सके, हमेशा गुरुद्वारों की दीवारों पर पोस्टर बनकर चिपके रहे । वे किसी का साथ वहीं तक निभा सकते हैं जहां तक उनके निहित स्वार्थों की पूर्ति होती है । समय-समय पर वे महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, इन्दिरा गांधी, लाला लाजपतराय, पं. गोविन्द वल्लभ पंत, भीमसेन सच्चर, गुलजारी लाल नन्दा, मोरारजी देसाई, दरबारा सिंह, ज्ञानी जैल सिंह, चरण सिंह और अटल बिहारी वाजपेयी को मुहम्मद अली जिन्ना की कोटि में समझते रहे हैं ।

वैसे तो देश की पूरी राजनीति ही दलगत स्वार्थों तक केन्द्रित हो कर रह गई है, किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि अपनी पहचान को जनता पर थोपने के लिए अकालियों की तरह किसी दल ने राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कोई कार्यवाही की हो, कोई आवाज उठाई हो । इसमें सन्देह नहीं कि कश्मीर घाटी और तमिलनाडु में भी मजहबी और भाषायी भावनाएँ चुनाव के समय अथवा सरकार के पतन की स्थिति में उभर आती हैं, किन्तु उन्होंने कभी विशाल हिंसक आन्दोलन या मिशन का रूप धारण नहीं किया । अकालियों को जो थोड़ी बहुत सफलता पंजाब में मिल रही है उसका कारण वह २० प्रतिशत जट्ट सिख हैं जो एकजुट हैं, समृद्ध हैं, शेष समाज पर हावी हैं और अकाली नेतृत्व की गुहार पर आन्दोलन में कूदते देर नहीं लगाते । आतंकवादियों में भी चूंकि इसी वर्ग के लोग थे इसीलिए अकाली दल उनसे दबता रहा और सरकार से कोई फैसला नहीं कर सका ।

पंजाब में अकालियों की कैसी छवि है, इसका कुछ परिचय हरजिन्दर सिंह दिलगीर की पुस्तक "शिरोमणि अकाली दल : एक इतिहास" के 'अपनी सफाई' शीर्षक के अन्तर्गत लिखित ये शब्द देते हैं– "कुछ अकाली नेताओं से, जिनसे मैं मिला और ऐतिहासिक स्पष्टीकरण हेतु कुछ प्रश्न पूछे, उनसे– 'इन गद्दारों का इतिहास क्या लिखना है" –जैसे उत्तर मिले । अकाली दल के विषय मे कोई बात बतलाते समय बहुतों ने लज्जा अनुभव की । ... कुछ सज्जनों ने सहयोग भी दिया । पर ऐसे लोग 'अकाली' कम थे ।"

किन्तु यह अकाली मानसिकता की विशेषता है कि पराजय को प्रत्यक्ष देखकर भी अकाली उसे स्वीकार नहीं करता । प्रारम्भ में मिली असफलता को देखकर श्री दिलगीर निराश नहीं हुए और न ही उन्होंने यह सोचने का प्रयास किया कि अकालियों के विरुद्ध ऐसा माहौल क्यों है? उन्होंने अकालियों

का इतिहास लिखा और दावा किया कि उन्होंने कांग्रेसियों, राष्ट्रवादी सिखों और आर्यसमाजियों की आलोचना करने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। अनेक स्थानों पर वे ऐसे तथ्यों को छिपा गए जो अकालियों के विरुद्ध पड़ते थे, अथवा जिनसे साम्प्रदायिक सौहार्द की बेल परवान चढ़ती थी। होना तो यह चाहिए था कि एक सच्चे इतिहासकार के आचरण का परिचय देते हुए श्री दिलगीर अकालियों की राष्ट्रघाती प्रवृत्ति का भण्डाफोड़ करते, किन्तु हुआ यह कि वे अकालियों के साथ हो लिये। वे लिखते हैं:

"कनिंघम रणजीत सिंह के बाद सिख फौजों और डोगरे जनरलों का उल्लेख करते हुए लिखता है– 'शेरों की फौज के जनरल गधे थे।' मुझे सरदार कपूर सिंह की बात (देखें कपूर सिंह कृत 'साची साखी') ठीक जंचती है कि–'खालसा बीसवीं सदी में फिर उसी नाटक की पुनरावृत्ति कर रहा है।' और यदि यह न रुकी तो वाहेगुरु ही राखा (रक्षक) है।"

(शिरोमणि अकाली दल, पृ. ४१)

एक सिख बुद्धिजीवी, जो अपने को निष्पक्ष होने का दावा करता है, ऐसी मानसिकता में जी रहा हो, तो सामान्य जन की स्थिति क्या होगी?

आदिम भूख ने मानव को मानव नहीं रहने दिया।

५ आस्था भटक गई, फूट पनप गई

धर्म का प्रमुख तत्त्व है आस्था । आस्था के बिना धर्म का अस्तित्व कहां है?

निश्चय ही किसी भी धर्म में अन्याय, शोषण, दासता और असमानता के विरुद्ध संघर्षरत करने की शक्ति विद्यमान रहती है । धर्म की मुख्य प्रेरणा रहती है शान्ति, सहिष्णुता और त्याग । किन्तु अनुयायियों की भावुकता और परिस्थितियों की जटिलता कभी-कभार इतनी बढ़ जाती है कि धर्म के प्रति आस्था भटक जाती है और हिंसक उपायों का विकल्प ढूँढ़ लिया जाता है ।

यह दोष धर्म का नहीं है, तो भी उससे प्रेरणा लेकर धर्मानुयायी वीरता और बलिदान के ऐसे निदर्शन प्रस्तुत कर जाते हैं कि धर्म पर नाहक आक्षेप लगने लगते हैं । स्थिति यहाँ तक बिगड़ जाती है कि धर्म के मूल प्रवर्तक के सदुपदेशों की अवहेलना कर धर्म के तात्कालिक प्रतिनिधि हिंसक उपायों के समर्थन में विचित्र-विचित्र फतवे दे देते हैं । भूल से उन्हीं को ब्रह्म-वाक्य मान लिया जाता है । इन ब्रह्म-वाक्यों ने मानवता को कितना कलुषित किया है, आध्यात्मिक गरिमा को कितना कलंकित किया है और ईश्वरीय आस्था को कितना भ्रष्ट किया है, इसका आकलन कम से कम कोई तथाकथित धर्मजीवी तो कर नहीं सकता । यदि कर सकता तो पंजाब में हुए हिंसक ताण्डव-नृत्य को नानक-पंथियों का समूचा समाज अपनी मौन स्वीकृति कदाचित् न देता और मानवता के हत्यारों की धरपकड़ पर उत्तेजना में पागल न हो उठता ।

मानव-इतिहास में ऐसे दृष्टांतों की कमी नहीं जब धर्म-पथ के किसी मसीहा ने तलवार उठाने के बजाय सुकरात बन कर विष-पान कर लिया हो, मंसूर बन कर वह सूली पर चढ़ गया हो अथवा ईसा बनकर क्रॉस पर लटक गया हो? सुकरात और मंसूर ने अपने नाम पर कोई भक्त-मण्डली या समूह खड़ा नहीं किया, फिर भी वे आज अखिल विश्व के सम्मान के पात्र बने हुए हैं । किन्तु दूसरी ओर नानक ने न सही, उनके उत्तराधिकारियों ने, उनके व्यक्तित्व और चिन्तन को अपनी व्याख्या के साथ सुरक्षित करने के लिए ऐसी शिष्य-परम्परा विकसित की जो सिख धर्म के लिए महंगी पड़ रही है, नानक के धर्म व चिन्तन पर काली घटा बन कर छा रही है ।

निष्कर्ष यही निकलता है कि जब तंत्र के वशीभूत होकर अध्यात्म अपने संवर्द्धन का लोभ पालने लगता है तो वह अपना शाश्वत रूप खोकर पंथ, मजहब और संम्प्रदाय बन जाता है । मानवता का भविष्य पंथ नहीं, अध्यात्म है, इस सत्य को हृदयंगम करने के लिए हमें मजहबी और साम्प्रदायिक संस्कृति का व्यामोह छोड़ना होगा । जो संस्कृति एक दूसरे के रक्त-पिपासु समूहों को जन्म देती है, राजनैतिक हथकंडो को प्रश्रय देती है, उत्पीड़न और अनैतिकता का समर्थन करती है, वैमनस्य और

घृणा का जाल फैलाती है, अलगाव और अपनी पहचान की महत्त्वाकांक्षा जागृत करती है उससे पंथ और मजहब तो फल-फूल सकते हैं, अध्यात्म का सृजन और विकास सम्भव नहीं। नानक से लेकर गोविन्द तक के कालखण्ड पर पंथ-निरपेक्ष दृष्टिपात करने से यही तथ्य उभर कर सामने आता है।

डा. गोकुल चन्द नारंग का यह निष्कर्ष कि– "गुरु गोविन्द सिंह के समय में अंकुरित होने वाले बीज का वपन वस्तुतः गुरु नानक ने ही किया था और उनके उत्तराधिकारियों ने उसे सींचा था। वह तेग जिसने खालसा की प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया, निःसन्देह गुरु गोविन्द ने ढाली थी, परन्तु उसका फौलाद गुरु नानक ने ही प्रदान किया था, जो मानों उन्होंने हिन्दू खनिज को ढाल कर लोगों में से जड़ता और अंधविश्वास तथा पुजारियों के दम्भ एवं पाखंड का मैल निकाल कर तैयार किया था" – पूर्ण सत्य की नहीं, उसके एक अंश मात्र की अभिव्यक्ति है। इसमें किंचित् भी मतभेद नहीं कि नानक ने अन्याय, शोषण और अंधविश्वास से जूझने की जीवन-दृष्टि उस पंजाब को दी जो मुस्लिम-उत्पीड़न अथवा हिन्दू-पाखण्ड से पूर्णतया क्षत-विक्षत हो चुका था। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं निकलता कि इस जीवन-दृष्टि की परिणति शस्त्र-सज्जा में ही सम्भव थी, न कि गुरु तेगबहादुर के आत्म-बलिदान में?

गुरु नानक के जीवन से स्पष्ट है कि अल्पायु में ही उन्हें बोध प्राप्त हो चुका था। उनमें एक नैसर्गिक आध्यात्मिक शक्ति का जागरण हुआ था। एक ऐसी जीवन दृष्टि उन्हें मिली जिसमें सब की भलाई की कामना प्रवहमान थी। जात-पात, मतमतांतर और सांसारिक विधि-विधानों से असम्पृक्त रह कर उस दिव्य आत्मा ने शाश्वत ज्ञान के झरनों के बन्द स्रोत जन-जन के लिए खोले। आत्म-प्रचार और पंथिक-भावना से ऊँचे उठ कर उन्होंने देश-विदेश में अमृत बरसाया। उन्होंने कोई आत्म-कथा नहीं लिखी, फिर भी उनका जीवन जन-जन के मानस-पटल पर उत्कीर्ण हो उठा। उन्होंने कोई पोथा नहीं लिखा, किन्तु फिर भी उनके विचार विद्युत्-वज्र की तरह अंधविश्वास और पाखण्ड के अंधकार को मिटाते चले गए। उन्होंने कोई भक्त-मण्डली नहीं बनाई, फिर भी लोग आत्म-प्रेरणा से उनके मुरीद बनते चले गए। उन्होंनें कोई उपासना-गृह खड़ा नहीं किया, तो भी लोगों के घर इबादतखाने बनते रहे। उन्होंने कभी तलवार नहीं घुमाई, लेकिन फिर भी बाबर सरीखे बादशाह उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर लगा अपने को धन्य मानते रहे।

इसमे सन्देह नहीं कि गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा सजा कर उनके हाथ में कृपाण दी, जिसने आगे चल कर इतिहास में शौर्य और बलिदान के अनुपम उदाहरण स्थापित किए। किन्तु ऐसे उदाहरण उन सैनिकों के सन्दर्भ में भी उपलब्ध हैं जो कभी किसी मज़हबी जोश में आकर नहीं लड़े। एक शान्तिपूर्ण धर्म इस प्रकार के वीरत्व व बलिदान से नहीं, अपितु गुरु अर्जुन देव और गुरु तेग बहादुर के बलिदान से ही जीवनी-शक्ति पाता है। बन्दा बैरागी का बलिदान भी एक महान् एवं प्रेरक बलिदान था, किन्तु जैसा बलिदान भाई मतिदास, हकीकत राय, फतह सिंह व जुझार सिंह का था, उसका असर कुछ दूसरा ही था। यह बलिदान ही वास्तव में सच्चा बलिदान था जिससे बाद में आत्मबलिदानी खालसा सैनिकों के झुण्ड के झुण्ड पंजाब ने पैदा कर दिए। यदि बलिदान के उस पथ को प्रशस्त किया जाता जो अर्जुन देव और तेग बहादुर ने दिखाया था तो सिख धर्म का रूप कुछ दूसरा ही होता। तब जगत् विख्यात इतिहासकार टॉयन्बी को अपनी पुस्तक 'ए स्टडी आर्फ हिस्टरी' में (सातवें खण्ड के पृष्ठ ४१४ पर) शायद यह न लिखना पड़ता कि– "हिन्दू इतिहास में, सिखों ने शक्ति का प्रयोग करके अपने आपको मूर्ख बनाने की (सेल्फ-स्टलटीफ़िकेशन की) खास मिसाल पेश की है।"

वस्तुतः हिंसा-प्रतिहिंसा के आधार पर सिख पंथ को अधिष्ठित करने की प्रवृत्ति मुस्लिम इतिहास एवं परम्पराओं से प्रेरित थी। यह ठीक है कि भारतीय इतिहास में भी धर्म की रक्षार्थ अपवाद रूप में शस्त्र उठाए गए, किन्तु किसी धर्मप्रवर्तक ने खुद ही हथियार उठाने की कोशिश नहीं की। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है:

"वैदिक काल से लेकर महात्मा गांधी के समय तक दृष्टि दौड़ा जाइये, भारतीय संस्कृति की जो विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी, वह उसकी अहिंसा-प्रियता है। वस्तुतः संस्कृतियों के बीच सात्त्विक समन्वय का काम अहिंसा के विना चल ही नहीं सकता। तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना असल में उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है।" (संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ९)

किन्तु उनके उत्तराधिकारी इस मर्यादा और गरिमा को न तो पूर्णतया समझ सके और न उसकी दृढ़ता से रक्षा ही कर सके। वे भूल बैठे कि शस्त्र-प्रेम और युद्धोन्माद धर्म का नहीं, राजनीति का परिणाम हुआ करता है और राजनीति पर आश्रित धर्म अध्यात्म से चार हाथ दूर ही रहता है। गुरु नानक के पंथ-निरपेक्ष अध्यात्मवाद को उनके मरणोपरान्त ही एक ऐसी राह पर डाल दिया गया जहां लोकैषणा थी, राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा थी। इस राह पर चलकर निःसन्देह गुरु के बन्दों ने जन-हित के कार्य भी किये, सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना का परिचय भी दिया, बलिदान और वीरता के अनुपम उदाहरण भी प्रस्तुत किये, किन्तु प्रतिकार की भावना, रणभेरी के उद्घोष और शस्त्रों की टंकार में वे नानक के विशुद्ध अध्यात्मवाद को भुला बैठे और उसे पंथिक-मार्ग पर घसीट ले गए। निश्चय ही सिख धर्म के इतिहास की यह महान् दुर्घटना थी।

वंशानुगत गद्दी नहीं

गुरु नानक ने लगभग सत्तर वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त की और जीवन के अन्तिम वर्ष स्व-स्थापित करतारपुर में व्यतीत किये जहां अध्यात्म-प्रेमी भक्त जन उनका मधुर एवं उदात्त सन्देश सुनने प्रायः आते रहते थे। मृत्यु को सन्निकट जान उन्होंने अपने पुत्र को नहीं, अपितु एक विश्वास-पात्र शिष्य (बाद में जो गुरू अंगद कहलाए) को आध्यात्मिक प्रचार का दायित्व सौंपा। इस कार्य को यद्यपि उनका कोई योग्य पुत्र भी कर सकता था, जैसा कि उनमें से एक श्रीचन्द ने बाद में उदासी विचारधारा का श्रीगणेश करके किया, किन्तु नानक ने वशांनुगत उत्तराधिकारी की बात इसलिए नहीं सोची कि वे परंमात्मा की अमर वाणी को पंथिक शिकंजे में जकड़ना नहीं चाहते थे। इस्लाम के प्रर्वतक मुहम्मद साहब ऐसा प्रयोग कर चुके थं और उसके दुष्परिणाम लोगों के सामने थे। अतः उस गलती की पुनरावृत्ति करने की नानक सोच ही नहीं सकते थे। किन्तु उनके देहावसान के पश्चात् उनके दृष्टिकोण को अत्यन्त निर्ममता से तिलांजलि दे दी गई।

गुरु अंगद देव जिन तीन बातों के लिए प्रसिद्ध हैं वे थीं – (१) गुरुमुखी लिपि का आविष्कार (२) गुरु नानक के धर्मोपदेशों का संग्रह और (३) लंगर प्रथा का विकास। डा. गोकुल चन्द नारंग के शब्दों में ईमानदारी से हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा इस कारण किया गया कि नानक के उत्तराधिकारी यह महसूस करने लगे थे कि गुरु नानक के मिशन का कोई भिन्न स्वभाव होना चाहिए, उनके अनुयायी समग्र का अंश होते हुए भी निजी व्यक्तित्व के मालिक हों और हिन्दू जनता में उनका

पूर्णतः विलय न हो। गुरु अंगद के इन प्रयासों से पंजाब में जिस भाईचारे और समान विचारधारा के लोग संगठित हुए उससे भले ही प्रत्यक्ष पृथक्ता का बोध न हुआ हो, पर उसका बीज अवश्य पड़ गया था।

तीसरे गुरु अमरदास इस कारण प्रसिद्ध हुए कि उन्होंने नानक के पुत्र श्रीचन्द के उदासी अनुयायियों के इस दावे का योग्यता से खण्डन किया कि गुरु-पुत्र ही गद्दी का सही दावेदार है। यद्यपि इस विजय में श्रीचन्द की सच्ची साधुता, मायावी आकर्षण के प्रति उनकी उदासीनता का योगदान भी काफी रहा था। उनका दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह था कि प्रचार की दृष्टि से उन्होंने प्रभावी क्षेत्र को २२ भागों में (जिन्हें मंजा कहा जाता है) बाँटकर उनका नेतृत्व योग्य शिष्यों को सौंपा। १५४६ में उन्होंने गोविन्दवाल नामक नगर स्थापित किया जिसे इतनी महत्ता प्रदान की गई कि वह सिखों का सर्वप्रथम तीर्थस्थान बन गया। उन्होंने गुरु नानक के करतारपुर को भी प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचाने का प्रयास किया। अमृतसर की नींव भी उन्होंने ही रखी जहां चौथे गुरु की गद्दी स्थापित हुई। उन्होंने सैंकड़ों पहाड़ी सरदारों को अपना अनुयायी बनाया जिनसे दान में प्राप्त राशि से लंगर चलाये जाते थे। लाहौर के सूबेदार मिर्ज़ा जाफ़र बेग पर भी उनकी पवित्रता और सच्चरित्रता का अच्छा प्रभाव पड़ा। चित्तौड़ विजय में गुरु अमरदास के आध्यात्मिक प्रभाव का चमत्कार देखकर मुगल बादशाह अकबर उनके दर्शनार्थ पहुँचा। चौथे गुरु रामदास के साथ भी अकबर के सम्बन्ध अत्यतं मधुर रहे। गुरु के कहने पर अकबर ने माझा और मालवे के किसानों का लगान वर्ष भर के लिए माफ कर दिया था क्योंकि उस समय किसान वर्ग एक भारी आर्थिक संकट में फंसा हुआ था।

गुरु रामदास के समय में एक भारी परिवर्तन यह हुआ कि अपनी पुत्री भानी को दिए वचन के अनुसार उन्होंने गुरु-गद्दी अपने जामाता के परिवार को सौंप दी। गुरु नानक जिस बात से बचे रहे उसे गुरु रामदास ने अपना कर गद्दी पर वंशानुगत अधिकार की नीति चला दी। इन सब बातों का मिला-जुला परिणाम डा. गोकुल चन्द नारंग के शब्दों में यह निकला कि गुरु साहब आध्यात्मिक, सांसारिक और राजशक्ति का साकार रूप बन गए। गुरु साहब गुरु से 'सच्चे पातशाह' बन गए। पहाड़ी सरदारों से प्राप्त राशि से लंगर-प्रथा की लोकप्रियता बढ़ी जिससे गरीब प्रजा सिख मत में बिना किसी जातिगत भेदभाव के आने लगी। लगान माफ़ हो जाने से मालवा-माझे का किसान गुरु-गद्दी के प्रति कृतज्ञता-भाव से भर उठा। अकबर से सौम्य संबंधों के कारण नवाबों, ताल्लुकेदारों और प्रशासनिक क्षेत्र में उनका दबदबा बढ़ा। वंशानुगत उत्तराधिकारी की नीति से एक परिवार पर जनता की दृष्टि टिक गई। ये सभी बातें गुरु नानक के सन्देश को पंथ रूप में बदलने के लिए पर्याप्त थीं।

राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा

पाँचवें गुरु अर्जुन देव के समय तक सिखों ने अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित कर लिया था। विरासत में प्राप्त पंथिक समृद्धि से अर्जुन देव में राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा का उदय हुआ। किन्तु इसे प्रकट करने से पूर्व वे अपना शक्तिशाली संगठन बना लेना आवश्यक समझते थे। इस दिशा में उनका पहला महत्त्वपूर्ण कार्य आदि-ग्रंथ का सम्पादन था। तब तक सिखों के पास धर्मपुस्तक के रूप में जन्म-साखी ही थी जो बाला के कथनों पर आधारित थी। गुरु अर्जुन देव कोई ऐसा धर्म ग्रन्थ देना चाहते थे जो सिखों के लिए वेद, बाइबिल और कुरान बन सके और उसके प्रति श्रद्धानत जन-शक्ति का उपयोग उठाया जा सके। अतः उन्होंने अपने पूर्वज चारों गुरुओं की वाणी, अपनी

वाणी, कुछ प्रतिष्ठित भक्तों की चुनी हुई वाणी और गुरु साहिबान की प्रतिष्ठा में कुछ कवियों और भाटों द्वारा गाई वारां को आदि-ग्रंथ के रूप में संकलित किया।

सिखों की 'कुरआन' बन जाने पर सिखों का 'मक्का' बनाने का विचार उनके मन में उठा और अमृतसर को यह महत्ता प्रदान करने के लिए उन्होंने वहां बने सरोवर को गंगा बनाने का प्रयास किया। सरोवर के मध्य हरिमन्दिर (परमात्मा का घर) का निर्माण कर उन्होंने इस स्थान की पवित्रता और शान का सिक्का श्रद्धालु जन-मानस पर बैठा दिया। ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने 'हरिमन्दिर' बनवाया, कोई गुरुद्वारा नहीं। क्योंकि उनकी दृष्ट में दोनों में कोई अन्तर नहीं था। उन्होंने अपनी गद्दी ही इस नगर में स्थापित नहीं की, अपितु 'पंथ प्रकाश' के अनुसार सिख समाज के अग्रणी सिखों को भी यहां बसने की प्रेरणा दी।

अमृतसर को केन्द्र बनाने के पीछे कोई स्पष्ट तात्कालिक धार्मिक कारण नहीं था। यह गुरु अर्जुन देव की राजनैतिक आकांक्षाओं का प्रतिफलन था जैसा कि अमृतसर की भौगोलिक और तत्कालीन प्रशासनिक स्थिति का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है। चिनाब के उत्तर में मुस्लिम किसानों का तथा चिनाब व रावी के मध्य हिन्दू-मुस्लिम प्रभाव क्षेत्र विद्यमान था और लाहौर की निकटता के कारण दोनों दरियाओं के मध्य सरकारी प्रभाव भी अधिक था। राजनैतिक दृष्टि से यह क्षेत्र उनके अनुकूल नहीं था, अतः उन्होंने हिन्दू-बहुल प्रदेश बारी दुआब पर अपनी आँखें टिकाईं। यह क्षेत्र गुरु साहब का जाना-पहचाना था, मुस्लिम अधिकारियों के प्रभाव से लगभग अछूता था। अमृतसर इसी क्षेत्र में पड़ता था और आने वाले इतिहास ने सिद्ध भी कर दिया कि राजनैतिक दृष्टि से गुरु अर्जुन देव का चिन्तन सही था, क्योंकि बाद में गुरु गोविन्द सिंह को इसी क्षेत्र से सर्वाधिक सैनिक मिले। माझा नाम से विख्यात इसी क्षेत्र में उन्होंने तरनतारन नगर बसाया। गोविन्दवाल, तरनतारन, अमृतसर इन सभी नगरों की विशेषता यह थी कि वहां सरोवरों का निर्माण कराया गया, सरायें बनवाई गईं और लंगर खोले गए जिनमें जनता का सहज आकर्षण था। इन सरोवरों के बारे में अनेक किंवदंतियां और विश्वास पैदा हुए जिन्हें आज भी श्रद्धालु-जन पाले हुए हैं। अमृतसर की विशेषता यह थी कि गुरु की गद्दी वहां स्थापित होने से सिखों के लिए वह उनकी राजधानी बन गया था।

दरबारी शान

गुरु अर्जुन देव ने अगला कदम उठाया अपने खजाने की बढ़ोतरी के लिए। उन्होंने एक तो दान-दाताओं द्वारा दी जाने वाली भेंट उनकी इच्छानुसार निश्चित कर दी, तथा दूसरे, बाईस 'मंजों' का व्यवस्थित रुप से संचालन करके यह आदेश दिया कि प्रतिवर्ष बैसाखी के दिन अमृतसर में लगने वाले दरबार में पहले इकट्ठी की गई दान-राशि भेंट की जाए। बाईस मंजों पर नियुक्त विश्वासपात्रों को 'मसंद' कहा जाता था जिसका पद मुगल सूबेदार के बराबर था। बाद में इस पद को भी गुरु-गद्दी की तरह पैतृक बना दिया गया था। तीसरे, उन्होंने तुर्किस्तान से घोड़े खरीदने और बेचने की प्रथा चलाई जिससे अमृतसर के खजाने में अधिक राशि ही नहीं आने लगी, अपितु कालान्तर में ख़ालसा फौज को अच्छे घुड़सवार भी मिले। इस प्रकार पंथ ने एक सरकार का सा रूप धारण कर लिया।

इस बदलती परिस्थिति में गुरु अर्जुन देव ने भी बादशाहों की तरह अपना रहन-सहन शुरू कर

दिया। भले ही उनके जीवन में सादगी और नम्रता का अभाव नहीं था, परन्तु उनका दरबार शान-शौकत का केन्द्र बन गया था। महलनुमा भवन, तम्बू, घोड़े और खज़ाना – ये सब शाही दरबार की झलक देते थे। इस प्रकार शक्ति एवं प्रतिष्ठा अर्जित कर गुरु अर्जुन देव और सिख नेता पंजाब की राजनीति के द्वार पर जा पहुँचे थे।

गुरु अर्जुन देव के जीवन में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण उनका वैभव मुगल दरबार की आँखों में खटकने लगा। उसी के कारण अन्त में उन्होंने शहादत का जाम पिया। एक तो उन्होंने दिल्ली के विद्रोही शाहज़ादा खुसरो को भारी आर्थिक सहायता और नैतिक समर्थन दिया, तथा दूसरे लाहौर के दीवान चन्दू शाह की बेटी का रिश्ता निठुरता से ठुकरा दिया। जब लाहौर से विद्रोही शाहजादे को गृह-युद्ध के लिए प्रेरित करने का समाचार मुगल दरबार में पहुँचा तो गुरु की गिरफ्तारी का आदेश दिया गया। सम्भव है, चन्दू शाह ने मुगल दरबार में नमक-मिर्च लगी रिपोर्ट भेज कर अपने अपमान का बदला लेना चाहा हो। किन्तु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि चन्दू शाह की जगह कोई दूसरा दीवान होता तो वह भी अपने कर्त्तव्य का पालन इसी तरह करता।

और फिर इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि गुरु अर्जुन देव ने विद्रोही शाहजादे को मदद देकर निश्चय ही मुगल दरबार के प्रति अपनी अनास्था का परिचय दिया था। यों मुगल बादशाह का व्यवहार गुरु साहब के प्रति कटु नहीं था, लेकिन इसके बावजूद गुरु का उसके विरुद्ध जाना यह संकेत देता है कि वे पंजाब में अपना राजनैतिक वर्चस्व बढ़ाना चाहते थे। धर्म और राजनीति के ऐसे गठबंधन का कालान्तर में क्या परिणाम निकलता है, इसे एक ऐसा मजहबी शासक बखूबी समझ सकता था जिसका मजहब फैला ही तलवार के साये में हो। 'तुज़के जहांगीरी' में जहांगीर ने इस प्रसंग में जो लिखा है, उसमें कहा गया है कि विद्रोही शाहजादे को शरण देने और भोले-भाले मुसलमानों को अपने पंथ में दीक्षित करने के अपराध में ही उसने उनकी सारी सम्पत्ति ज़ब्त करने और उन्हें कैद कर निर्ममता पूर्वक मौत के घाट उतारने का आदेश दिया था। ऐसी ही सजाएं उन लोगों को भी दी गईं जिन्होंने खुसरो के प्रति सहानुभूति दिखाई थी।

गुरु अर्जुन देव पर खुसरो को मदद देने के अपराध में दो लाख का जुर्माना किया गया और ग्रंथ साहब से उन पंक्तियों को निकालने के लिए कहा गया जो इस्लाम का थोड़ा भी विरोध करती थीं। गुरु जी द्वारा ये दोनों बातें स्वीकार न करने पर उन्हें तपती रेत पर डालने, लाल कड़ाही में बैठाने और ऊपर से गर्म पानी डालने की क्रूर यातनाएँ दी गईं। अंत में वे रावी में स्नान के बहाने कैद से बाहर आए और रावी में जल समाधि लेकर अपनी इहलीला समाप्त कर दी।

गुरु अर्जुन देव के इस बलिदान ने सिख समाज में इस दृष्टिकोण को नया आयाम दिया कि 'शहीदों का खून धर्म की नींव होता है।' शहादत का तिलक उन्होंने सर्वप्रथम अपने ही मस्तक पर लगा कर सिखों को राजनैतिक क्षितिज पर उड़ान भरने की प्रेरणा प्रदान की। वे राजनीतिक शक्ति के रूप में भले ही सफलता प्राप्त न कर सके, किन्तु वे सिखों में ऐसी आकांक्षा के अंकुर अवश्य प्रस्फुटित कर गए जिनसे बाद में राजनैतिक वर्चस्व प्राप्त करना उनका मिशन ही बन गया।

छठे गुरु हरगोविन्द को, जो कि गुरु अर्जुन देव के सुपुत्र थे, अपने विशिष्ट गुणों के कारण बादशाह जहाँगीर १६०७ ई. में (इसी वर्ष गुरु अजुन देव की शहादत हुई थी) अपने साथ कश्मीर ले गए। किन्तु शीघ्र ही उन्हें जंगल कानून का उल्लंघन करने, सरकारी धन का दुरुपयोग करने और पिता-श्री पर लगाए गए दण्ड का भुगतान न करने के कारण प्रशासकीय सेवा से ही वंचित होना पड़ा। इतना ही नहीं, उन्हें ग्वालियर के किले में अल्पाहार पर वर्षों कैद करके रखा गया। बाद में सुप्रसिद्ध

मुस्लिम संत मियाँ मीर की मध्यस्थता पर उन्हें रिहा किया गया।

गुरु हरगोविन्द एक अच्छे घुड़सवार और पराक्रमी सैनिक थे। मुस्लिम सरदारों से टक्कर लेकर उन्होंने अपनी सैनिक वृत्ति का परिचय भी दिया था। किन्तु लगता है मुगल दरबार का कहर ढाये जाने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म के साथ राजनीति को जोड़ना कालोचित नहीं है।

सातवें गुरु हरराय गुरु हरगोविन्द के पोते थे। वे एक शान्ति प्रिय व्यक्ति थे और सैनिक वृत्ति से लगभग अछूते। किन्तु वे भी गुरु अर्जुनदेव की तरह एक भूल कर बैठे। १६५८ में दारा शिकोह का पींछा करती औरंगजेब की एक सैनिक टुकड़ी को बाधा पहुँचाने के लिए उन्होंने अपने कुछ सिपाही भेज दिये। दारा को सहायता पहुँचाना एक नेक कार्य था, क्योंकि औरंगजेब की तुलना में वह सात्विक व्यक्ति था। हिन्दू दर्शन से प्रभावित था और सभी भाइयों में ज्येष्ठ होने के कारण गद्दी का असली उत्तराधिकारी भी था। परन्तु औरंगजेब जैसा कट्टर दीनदार यह कैसे सहन करता। अतः सत्तारूढ़ होते ही उसने हरराय जी को दिल्ली बुलाया। किन्तु उन्होंने स्वयं न जाकर अपने पुत्र रामराय को सुलह-सफाई के लिए दिल्ली भेज दिया। उसे हिरासत में ले लिया गया। इस घटना के बाद दिल्ली दरबार गुरु गद्दी की गतिविधियों पर सूक्ष्म दृष्टि रखने लगा। गुरु हरराय के पश्चात् उनके छोटे पुत्र हरकिशन गद्दी पर बैठे और कुछ समय पश्चात् चेचक से काल कवलित हुए। इनके बाद इनके बाबा के भाई गुरु तेग बहादुर ने गद्दी संभाली।

महान बलिदान

नौवें गुरु तेग बहादुर सैनिक वृत्ति से अछूते थे। ऐसा कोई आभास नहीं मिलता कि उनकी कोई राजनैतिक आकांक्षा रही हो। अपने महान् व्यक्तित्व, ज्ञान-गरिमा और शुद्धाचरण से उन्होंने सिख-धर्म का व्यापक प्रचार किया और सिख संगठन को अभ्युदय के पथ पर अग्रसर किया। १६६४-१६७५ की कालावधि में जिस तीव्रता से उन्होंने सिख धर्म का विस्तार किया उससे समूचे पंजाब को इस्लाम का अनुयायी बनाने का औरंगजेब का स्वप्न भंग हो गया। औरंगजेब को यह गंध भी मिली थी कि जिस ग्रमीण क्षेत्र में सिख धर्म का अत्यधिक प्रभाव है, उसी क्षेत्र से गुरु गद्दी को सर्वाधिक अच्छे सैनिक मिल सकते हैं। उनके धर्म प्रचार को भावी राजनैतिक षड्यंत्र समझा गया। लेकिन औरंगजेब को ऐसा ठोस आधार नहीं मिल रहा था कि उनके विरुद्ध कदम उठाए। फिर भी एक झूठा षड्यंत्र रचकर १६७५ में उन्हें दिल्ली बुलाया गया। औरंगजेब खुद दिल्ली से बाहर पंजाब चला आया। औरंगजेब की अनुपस्थिति में उन पर राजद्रोह का अभियोग चलाकर उनके समक्ष दो विकल्प–मौत या इस्लाम–रखे गए। इस्लाम ग्रहण करने की अपेक्षा उन्होंने मृत्यु का आलिंगन करना बेहतर समझा। अत्यंत अमानुषिक ढ़ंग से जल्लादों ने उनका शीश धड़ से जुदा कर दिया। शरीर के ये दोनों भाग क्रूरता पूर्वक दिल्ली की सड़कों पर फेंक दिये गए जिन्हें बाद में जीवन (मेहतर) और लक्खी (लवाना) ने उठा कर ठिकाने लगाया। गुरु तेग बहादुर के साथ ही एक अन्य वीरात्मा, जिसने अपना बलिदान दिया, भाई मतिदास थे।

इस अपूर्व बलिदान से विशेष कर माझा और मालवा के हिन्दू-सिखों का खून उबल उठा और मुगल साम्राज्य के प्रति उनके हृदय प्रतिशोध की भावना से भर गए। यह प्रभाव इस कारण और अधिक पड़ा क्योंकि गुरु तेग बहादुर व भाई मतिदास पूर्णतया निर्दोष थे, तथा उनका कोई राजनैतिक उद्देश्य नहीं था।

असैनिक वृत्ति के एक आध्यात्मिक संत के इस बलिदान ने सिखों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि इस बलिदानी भावना को मुगल दरबार कहीं सिखों की कायरता तो नहीं समझ बैठा ? मुगलों को उन्हीं की भाषा में करारा उत्तर देने के लिए क्या सशस्त्र होना ही एकमात्र विकल्प नहीं रह गया है ? धीरे धीरे सिखी जीवन में मुगलों के बढ़ते हस्तक्षेप के कारण सिख अपमानित ही नहीं, उत्तेजित भी होते गए।

गुरु-गद्दी पर सिखों की असीम श्रद्धा थी और मुगलों के अत्याचारों के कारण यह श्रद्धा अपने चरम पर पहुँच गई। औरंगजेब के दक्षिण में उलझे रहने के कारण सिखों को राजनैतिक शक्ति के रूप में संगठित होने का र्स्वण अवसर मिला।

किन्तु दसवें गुरु गोविन्द सिंह जल्दबाजी में कोई कदम उठाना नहीं चाहते थे। उन्होंने २० वर्ष तक पहाड़ियों में एकान्त सेवन कर अपने देश के इतिहास और धर्म का मंथन किया, तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया, लोगों में उठ रही भावना का आकलन किया और तत्पश्चात् धर्म एवं मातृभूमि के उद्धारक के रूप में शस्त्र धारण कर एक योजनाबद्ध ढंग से 'खालसा पंथ' की आधारशिला रखी, जिसमें केश धारण करना अनिवार्य बनाया गया। सिखों को मिली इस अलग पहचान ने उनमें वीरता का संचार किया, धर्म हित बलिदान होने की अपूर्व भावना भरी और राज-सत्ता हस्तगत करने का विश्वास जागृत किया। खालसा फौज संगठित कर उन्होंने मुगलों से अनेक लड़ाईयाँ लड़ीं।

इसी बीच उनके दो अवयस्क पुत्र फतह सिंह व जुझार सिंह सरहिन्द के सूबेदार के हाथ आ गए। कुरआन के सिद्धांतों का पालन करते हुए इन बच्चों को दण्डित नहीं किया गया, किन्तु जब एक दिन सूबेदार ने उनके मुख से यह सुना कि आज़ाद होने पर उनका पहला काम सिखों को संगठित कर मुसलमानों को सबक सिखाना होगा, तो उसने अपने दीवान को उनका वध करने का आदेश दिया। एक अन्य किंवदंती के अनुसार इन दोनों बालकों को जीवित ही दीवार में चिनवा दिया गया। सत्य जो भी रहा हो, लेकिन इस शहादत ने सिखों को, विशेष कर केशधारी खालसाओं को और अधिक उत्तेजित कर दिया और उनके दिल मुसलमानों के प्रति अत्यंत कठोर तथा बेरहम हो गए।

विपरीत परिस्थितियों से हताश होकर गुरु गोविन्द सिंह पंजाब छोड़ने पर विवश हुए। सम्भवतः वे दक्षिण भारत में आजादी का एक और प्रयोग करने के इच्छुक थे या शायद वे छत्रपति शिवाजी की रण-चातुरी का अध्ययन करना चाहते थे। किन्तु दुर्भाग्य से एक पठान ने विश्वासघात करके उनकी हत्या करने का प्रयास किया। मरने से पूर्व वे बन्दा वैरागी के सिर पर अपना हाथ रख चुके थे। बन्दा का हृदय प्रतिकार और घृणा से भर उठा। गुरु-ऋण से उऋण होने के लिए वह पंजाब में बिजली बन कर कड़का और जिधर भी निकला, कहर ढाता निकल गया। गुरु साहब के मासूम बच्चों का मय सूद के बदला चुकाने के लिए उसने सैंकड़ों मुसलमानों को मौत के घाट उतारा। गाँव के गाँव भस्मीभूत कर दिए और ऐसा प्रतीत होने लगा कि मुगल साम्राज्य की नींव हिल उठी है।

मुगलों के अत्याचार

अन्त में वह अपने ७४० साथियों सहित १७१६ में गिरफ्तार हो गया। उसे लोहे के पिंजरे में बन्द करके दिल्ली लाया गया। आगे-आगे भालों की नोक पर टंगे सिखों के सिरों का जलूस था।

प्रतिदिन सौ सिख शहीद कर दिये जाते थे। पर शीश कटाने के लिए सिखों में प्रतिस्पर्धा लगी रहती थी।

आठवें दिन बन्दा बैरागी को काजियों के सन्मुख लाया गया। उसे अपने ही हाथों अपने पुत्र का वध करने के लिए विवश किया गया। उसका अपना मांस गरम चिमटों से नोच-नोच कर अमानुषिक ढँग से उसका खात्मा कर दिया गया।उसके अन्य सभी सहयोगियों को भी मौत के घाट उतार दिया गया।

यह समय फर्रुखसियर का था। बन्दा के पश्चात् सिखों के दमन की गतिविधियाँ उसने और अधिक तेज तथा कठोर कर दीं।उसने निम्न फरमान जारी किये जिनसे मुस्लिम मतांधता और क्रूरता का परिचय मिलता है:

१. पंजाब का कोई हिन्दू लम्बे केश या दाढ़ी नहीं रख सकता। केश या दाढ़ी कटाने से इंकारी हिन्दू को तुरंत जान से मारा जा सकेगा।
२. किसी सिख की सूचना देने पर 5 रुपये, गिरफ्तारी में सहायता देने पर 15 रुपये, सिर काट लाने पर 25 रुपये इनाम दिया जाएगा। इससे अधिक सेवा करने पर सहयोगियों को जागीरें दी जाएँगी।
३. किसी सिख को अपनी छत के नीचे शरण देने वाले को अपराधी माना जाएगा और वह कठोर दण्ड का भागी होगा।

इतना ही नहीं, लाहौर के ताल्लुकेदार मस्सा राँघड़ ने अमृतसर स्थित स्वर्ण मन्दिर को अपने अधिकार में ले लिया और उसकी पवित्रता को नष्ट करने के लिए महफिलें गरम कीं, वेश्याओं के नाच-गाने के कार्यक्रम रखे, वहाँ बैठकर धूम्रपान और मदिरापान किया, तथा फर्श पर थूका।

मस्सा रांघड़ की इस धमांधता का आगे भी पालन हुआ जब १७६२ के अतं में अहमदशाह दुर्रानी ने श्री हरमन्दिर साहब को बारूद से उड़वा कर सरोवर को मलबे व मिट्टी से भरवा दिया था। इससे पहले १७५६ में तैमूर भी श्री हरमन्दिर को गिरवा कर सरोवर को अपवित्र कर चुका था।

इसके अतिरिक्त एक ऐसे दस्ते का निर्माण किया गया (जिसमें कभी-कभी सैनिकों की संख्या दस हजार तक पहुँच जाती थी) जिसका काम सिखों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर उनका शिकार करना था। इसका प्रभाव यह हुआ कि दृढ़ आस्था वाले सिख जंगलों, पहाड़ों और राजस्थान के मरुस्थलों की ओर भाग निकले और निर्बल मन वाले अधिकांश सिखों ने अपने केश व दाढ़ी-मूंछें साफ करवा लीं। ऐसा कहर बरपा हुआ कि पंजाब में केशधारियों को शरण देने वाला कोई न रहा। भूखे-प्यासे रहकर उन्होंने दर-दर की ठोकरें खाईं। उनके बीबी-बच्चों को मौत के घाट उतारा गया। जमीन-जायदाद से बेदखल कर दिया गया। जन-जन को आतंकित करने के लिए सार्वजनिक स्थलों पर बड़ी निर्मम एवं क्रूर यातनाएं देकर केशधारियों को मार दिया जाता था। चौराहों पर उनके कटे हुए सिरों के ऊँचे ढेर लगा दिए जाते थे अथवा उनके धड़ व शीश को नेजों पर टांग कर प्रदर्शित किया जाता था। इसी कालखण्ड में भाई मनी सिंह और तारू सिंह और हकीकत राय का वध हुआ। मनी सिंह और तारू सिंह संत स्वभाव के व्यक्ति थे जिनका वध प्रेरणा-स्रोत बन गया। पंजाब के हिन्दू मुसलमानों के प्रति शायद सिखों जितनी विरोधी भावना न भी रखते हों, किन्तु बाल हकीकत राय के बलिदान ने उनके हृदयों को भी मुस्लिम कानून और मुस्लिम शासन के प्रति आक्रोश से भर दिया।

बलिदान के इस रक्त-रंजित इतिहास में जो तथ्य उभर कर आते हैं उनसे प्रतीत होता है कि जब तक सिख धर्म अध्यात्म की सीढ़ियाँ चढ़ता रहा, हिन्दुओं ने ही नहीं, मुसलमानों ने भी उसे आदर और श्रद्धा से स्वीकार किया, पर जब उसका अधिष्ठान राजनीति पर होने लगा तो उसे मुस्लिम कोप का भाजन बनना पड़ा। गुरु अर्जुन देव का खुसरो को और गुरु हर राय का दारा शिकोह को सहायता देना – इन दो राजनीतिक घटनाओं ने मुस्लिम शासकों को गुरु-गद्दी के प्रति शंकालु बना दिया। हर गोविन्द की सैनिक-वृत्ति और एक पुराने वहादुर सैनिक तेग बहादुर को गद्दी पर बिठाने से यह शंका और अधिक बढ़ गई। गुरु गोविन्द सिंह द्वारा खालसा पंथ सजाने से यह शंका विश्वास में बदल गई। दक्षिण भारत से औरंगजेब पहले ही झुंझलाया बैठा था, अब उत्तर से उठे विद्रोह के बादलों को देख वह और अधिक संतुलन खो बैठा। प्रत्यक्ष आमना-सामना होने से फिर दोनों जातियों में शत्रुता बढ़ती चली गई और ब्रिटिश काल तक उसकी गति मन्द नहीं पड़ी।

सम्बन्धों की यह कटुता केवल इस कारण नहीं बढ़ी कि गुरु-गद्दी पर बैठे कतिपय गुरुओं में राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने की इच्छा थी। इसके अन्य कारण भी थे। गुरु अर्जुन देव का लाहौर के दीवान चन्दू शाह को अपना शत्रु बना लेना राजनैतिक दृष्टि से उचित नहीं था क्योंकि उसने बाद में मुगल दरबार को उनके राजनैतिक मंसूबों से अवगत कराके सावधान किया था। मुगल दरबार को गुरु हरगोविन्द की बढ़ती शक्ति की सूचना भी चन्दू शाह ने ही दी और उनके विरुद्ध शहनशाह को भड़काया। बाद में चन्दू शाह को कत्ल कर दिया गया। इसके पीछे हिन्दू जनता को गुरु-गद्दी का हाथ होने की गंध मिली। डा. ई. ट्रम्प के कथानुसार जहाँगीर से अच्छे सम्बंध हो जाने पर हरगोविन्द के संकेत पर दीवान चन्दू शाह को पैर बांध कर गलियों में घसीट-घसीट कर मार डाला गया।

हरगोविन्द का चचेरा भाई धीर मल, जिसका पिता गुरु अर्जुन देव के गद्दी-नशीन होने से गद्दी से वंचित हो गया था, सदैव गुरु साहव के विरुद्ध षड्यंत्र रचता रहा। निश्चय ही धीर मल का चन्दू शाह से सम्पर्क रहा होगा। गुरु हरगोविन्द का पालन एक मुस्लिम धाय ने किया था जिसका पुत्र पैंदा खान एक बहादुर सैनिक था और सभी युद्धों में उसने गुरु साहब की फौजों का नेतृत्व सँभाला था। एक छोटी सी बात पर गुरु हरगोविन्द ने उसे भी अपना कट्टर शत्रु बना लिया। चन्दू का पुत्र, पृथ्वी का पुत्र धीर मल और पैंदा खान तीनों आपस में मिल गए और मुगल बादशाह से स्वीकृति लेकर १६३४ में करतारपुर पर धावा बोल दिया जहाँ कि हरगोविन्द ठहरे हुए थे। युद्ध में पैंदा खान और चन्दू का पुत्र मारे गये। मुगल सेना को पराजय का मुँह देखना पड़ा। किन्तु चोट खाया सिंह अधिक खतरनाक होता है, ऐसा सोच कर गुरु हरगोविन्द ने कीरतपुर की पहाड़ियों में जीवन के अन्तिम दस वर्ष शान्ति से बिताने का निश्चय किया।

गुरु हर राय के पुत्र राम राय ने भी गुरु-गद्दी के विरुद्ध मुगल दरबार को भड़काने में अहम भूमिका निभाई थी। गुरु हर राय ने यह स्पष्टीकरण देने के लिए राम राय को दिल्ली भेजा था कि किस हालत में उन्होंने दारा शिकोह को मदद दी थी, किन्तु राम राय ने ऐसी चतुराई बरती कि औरंगजेब उसका और वह औरंगजेब का होकर रह गये। कहा जाता है कि औरंगजेब ने अपने दरबार में राम राय का उचित सत्कार किया, फिर उनसे पूछा कि गुरु ग्रन्थ साहब में मुसलमानों के विरोध में लिखा है – 'मिट्टी मुसलमान की पेड़े पई घुमार।' रामराय यह सुनकर असमंजस में पड़ गए।

दरबार में जिस तरह उनका स्वागत किया गया, उससे भी वे प्रभावित थे। इसलिए उत्तर दिया कि ग्रन्थ साहब में असली पाठ यह है – 'मिट्टी बेईमान की पेड़े पई घुमार।' इस बात से बादशाह का तो समाधान हो गया, किन्तु जब सिख संगत को पता लगा कि गुरुवाणी में राम राय ने परिवर्तन किया है तो वे नाराज हो गए। श्री गुरु हर राय ने संगत को सन्तुष्ट करने के लिए घोषणा की कि मैं जीते जी उसका मुँह नहीं देखना चाहता।

गुरु हर राय को जब पता लगा कि राम राय मुगल दरबार का चहेता बन गया है, तो गुस्से में उन्होंने राम राय को पैतृक सम्पत्ति और गुरु गद्दी के अधिकार से च्युत कर दिया। इस अपमान को सहना राम राय के लिए कठिन था। वह हमेशा स्वप्न सँजोता रहता था कि वह एक दिन अवश्य गद्दी पर बैठेगा। जब उसका छोटा भाई हर किशन गद्दी पर बैठा, तो राम राय ने आपत्ति उठाई, हर किशन को दिल्ली बुलाया गया और राम राय की आपत्ति के विरुद्ध उनकी गद्दी-नशीनी की पुष्टि कर दी गई।

हर किशन जी की चेचक से अकाल मृत्यु होने पर जब गुरु तेग बहादुर गद्दी पर बैठे तो राम राय ने फिर आपत्ति उठाई। औरंगजेब भी किसी बहाने की तलाश में था ही, कि किसी तरह पंजाब में सिख धर्म के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए तेग बहादुर को मार्ग से हटाया जाए। गुरु तेग बहादुर को दिल्ली बुलाया गया। किन्तु जयपुर के राजा उनके भक्त थे, वे उन्हें अपने साथ आसाम यात्रा पर ले गए और इस बहाने उस समय उनकी जान बचा ली। बाद में वे पंजाब लौट आए और तेजी से धर्म प्रचार में जुट गए। राम राय ने बादशाह के फिर कान भरने शुरु कर दिये। अन्त में गुरु तेग बहादुर को दिल्ली बुलाकर कत्ल कर दिया गया।

जबर्दस्ती मंहगी पड़ी

पहाड़ी हिन्दू राजाओं को अपने गुट में जबरन शामिल करने के लिए गुरु गोविन्द सिंह का अपने सैनिकों द्वारा उनकी प्रजा की लूट-खसोट कराना भी राजनैतिक दृष्टि से एक सफल प्रयोग सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि ये राजा कभी पूरे मन से उनका साथ न दे सके और अवसर मिलते ही उन्होंने उनसे विद्रोह कर मुगल सेना का साथ दिया। खालसा सेना ने हिन्दू प्रजा पर भी इतना आतंक फैलाया कि वह भी गुरु गोविन्द सिंह को सहयोग देने से कतराती रही। बिलासपुर के भीम चन्द, कृपाल चन्द कटौच, जसोवा के केसरी चन्द, जसरोटा के सुख दयाल, नालागढ़ के हरि चन्द, डडवाल के पृथ्वी चन्द आदि हिन्दू राजा दस हजार सिपाही लेकर श्रीनगर के फतह शाह के साथ मिलकर भँगानी में गुरु गोविन्द सिंह तथा उनके दो हजार योद्धाओं को न ललकारते, यदि उन्हें गोविन्द सिंह के खालसाओं ने तंग न किया होता।

इस अवसर पर सढौरा का सरदार सय्यद शाह यदि गुरु जी की मदद न करता तो उनका अपनी जान बचा पाना भी कठिन होता। क्योंकि इन दो हजार योद्धाओं में से पाँच सौ अफगान सैनिक मैदाने-जंग में ही उनका साथ छोड़ गए थे।

लोहगढ़, आनन्दगढ़, फूलगढ़ और फतहगढ़ में किले स्थापित करने के उपरांत गुरु गोविन्द सिंह ने हिन्दू राजाओं को तंग करना शुरू किया और अपने साथ रहने को बाध्य किया। औरंगजेब जब दक्षिण से लौटा, तो युवराज मुअज्जम को उसने इन राजाओं और गोविन्द सिंह को पाठ पढ़ाने का हुक्म दिया। मुगल सेना ने हिन्दू राजाओं को पराजित कर उनकी प्रजा पर भीषण अत्याचार ढाये

जिससे वे साहस छोड़ बैठे और भविष्य में गुरु गोविन्द सिंह का साथ देने में संकोच करते रहे। युवराज मुअज्जम का मीरखास नन्द लाल गुरु साहब का भक्त था। उसने युवराज के मन से गोविन्द सिंह के प्रति विद्यमान शंकाओं को दूर कर गुरु जी को किसी तरह उसका कोप-भाजन होने से बचा लिया।

शाही सेना के लौटने पर गुरु गोविन्द सिंह ने हिन्दू राजाओं को अपने पक्ष में करने के लिए फिर तंग करना शुरु कर दिया। सिख सैनिकों द्वारा की जा रही तबाही से तंग आकर उन्होंने मिलकर बीस हजार सैनिक इकट्ठे किए और सरहिन्द के सूबेदार के साथ मिल कर आनन्दपुर की गढ़ी और कीरतपुर में खालसा सेना से टक्कर ली और गुरु गोविन्द सिंह को आनन्दपुर के किले में शरण लेने पर बाध्य किया।

किले में घिर जाने और रसद खत्म होने पर एक-एक खालसा उनका साथ छोड़ कर किले से बाहर आता गया और अन्त में केवल पैंतालीस खालसा उनके साथ रहे। इनके साथ वे रात के अँधेरे का लाभ उठाकर गढ़ी चमकौर की ओर चल दिए। किन्तु भेद खुलने पर एक मुठभेड़ में उनके दो साहबजादे अजीत सिंह और जुझार सिंह अपनी माता सुन्दरी और अन्य खालसाओं के साथ उनकी आँखों के सामने ही मार दिए गए। इस मुठभेड़ में गुरु साहब ने भी अपूर्व वीरता का परिचय दिया।

इस मुठभेड़ के पश्चात् उनके पास केवल पाँच सैनिक बच रहे। चमकौर में रहना भी उन्हें सुरक्षित न जान पड़ा और वे अपने साथियों सहित एक दीवार में सेंध लगा कर रात के अंधेरे में भाग निकले। माछीवाडे के एक बाग में वे गनी खाँ और नबी खाँ रोहिल्ला पठानों की नजर में आ गए। पहले तो इनका विचार गुरु साहब को बादशाह को सौंप कर इनाम पाने का बना, किन्तु बाद में उन्हें उनके उस सद्व्यवहार का स्मरण आया जो घोड़े खरीदते समय उन्होंने किया था। उनके सहयोग से गुरु साहब ने एक मुसलमान फकीर का रूप धारण कर लिया और बाद में सौलाह के काजी पीर मोहम्मद के यहाँ आश्रय लिया जिनसे उन्होंने बचपन में फारसी और कुरआन पढ़ी थी। अपने वफादार सैनिकों के साथ पालकी में बैठ कर वे मालवा प्रदेश की ओर बढ़े किन्तु मुक्तसर में घेर लिये गए। खालसाओं के प्रतिरोध के कारण वे बाल-बाल बच गए। इसके पश्चात् एक वर्ष तक वे दमदमा (हांसी-फिरोजपुर के मध्य स्थित) में रहे जहाँ उन्हें औरंगजेब का निमन्त्रण मिला।

गुरु गोविन्द सिंह इस समय भारी मानसिक व्यथा से पीड़ित थे। उनका समूचा परिवार खत्म हो चुका था, वफादार सिपाही आँखों के सामने कत्ल कर दिए गए थे और खालसा फौज छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। अपने स्वप्नों को इस प्रकार भंग होते देख कर एक वैराग्य सा उनके मन में पैदा हो गया था। औरंगजेब के निमंत्रण का उत्तर उन्होंने 'जफरनामा' भिजवा कर दिया जो फारसी कविता के रूप में लिखा गया था। इस 'जफरनामे' में उन कारणों का ब्यौरा था जिनके आधार पर खालसा फौज संगठित की गई थी। इसमें उन्होंने इसे धर्मयुद्ध सिद्ध किया। इसमें औरंगजेब की मतांधता को ललकारते हुए कहा गया था कि खालसा मुस्लिम आतंक और दमन से खत्म नहीं हो सकता, वह बदला लेना जानता है और अवश्य लेगा। 'जफरनामा' पढ़कर औरंगजेब ने फिर गुरु महाराज को बुलावा भेजा। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार गुरु साहब औरंगजेब से मिलने चल पड़े थे, किन्तु इसी बीच औरंगजेब ने आँखें बन्द कर लीं। तब तक सैनिक गतिविधियों में गुरु जी की रुचि विराम ले चुकी थी। किन्तु दक्षिण यात्रा के समय दो पठान आश्रितों ने, जिनके पिता गुरु साहब के हाथों युद्ध भूमि में मारे गए थे, उन्हें छुरे से घायल कर दिया। छुरे के इन घावों के कारण ही बाद में उनका नांदेड़ में १७०८ में देहपात हुआ।

प्रतिशोध की धधकती ज्वाला

मरने से पूर्व गुरु गोविन्द सिंह ने खालसाओं का नेतृत्व करने, पंजाब में हुई अपमानजनक पराजय का बदला लेने, दो अवयस्क पुत्रों की सरहिन्द में हुई शहादत का प्रतिशोध लेने तथा मुस्लिमों की दमनकारी नीतियों का उन्मूलन करने के उद्देश्य से बन्दा बैरागी को पंजाब भेज दिया था। बन्दा बैरागी ने पंजाब पहुँच कर खालसा सेना गठित की और १७१० में अत्यंत क्रूरता से सरहिन्द का पतन किया। मुस्लिम इतिहासकारों के कथन को यदि सही माना जाए तो यह क्रूरता इतनी बढ़ गई थी कि कब्रों में से मुर्दे निकाल-निकाल कर चीर-फाड़ कर बाहर खुले में फेंक दिए गए और औरतों के गर्भाशय से बच्चे निकाल-निकाल कर कत्ल कर दिए गए। लगातार तीन दिन तक सरहिन्द को लूटा जाता रहा और मुसलमान कत्ल किए जाते रहे। सरहिन्द विजय से सतलुज और यमुना का अधिकांश मध्यवर्ती क्षेत्र बन्दा के आधीन हो गया।

देवबन्द के हिन्दुओं की इस शिकायत पर कि जलालाबाद का हाकिम जलालुद्दीन उनसे जालिमाना व्यवहार कर रहा है, बन्दा ने उस ओर कूच किया और सहारनपुर, बेहट, अम्बेहटा और ननौता को तबाह कर जलालाबाद को जा घेरा। आसपास के क्षेत्र को पूर्णतया लूट लिया गया और बरसात आने पर घेरा उठा लिया गया। तत्पश्चात् बन्दा की सेना ने करनाल और पानीपत के क्षेत्र में आतंक के झंडे गाड़ दिए। इस समय सरहिन्द से पानीपत तक के क्षेत्र पर बन्दा का एकछत्र राज्य था। पूर्वी पंजाब से वह मुस्लिम सत्ता का सफाया कर चुका था। और दिल्ली घबराई हुई थी, क्योंकि बादशाह दिल्ली से बाहर गया हुआ था। बन्दा के लिए यह स्वर्ण अवसर था कि वह दिल्ली को हस्तगत कर मुस्लिम साम्राज्य को नामशेष कर देता। किन्तु न जाने किन विवशताओं के कारण वह ऐसा न कर सका। एक अनुमान के अनुसार, चूंकि खालसा पूरी वफादारी से उसका साथ नहीं निभा रहे थे, इसलिए वह इतना बड़ा खतरा मोल लेने को तैयार नहीं हुआ।

बादशाह ने लौटने पर जब पंजाब के समाचार सुने तो वह आग-बबूला हो उठा और दिल्ली में प्रवेश करने के बजाय उसने पंजाब की ओर कूच कर दिया। १० नवम्बर १७१० को थानेसर-तरावड़ी के मध्य शाही सड़क पर स्थित अमीनाबाद में खालसा और मुगल सेना में भयंकर युद्ध हुआ और अंत में खालसाओं को पराजय मिली। इससे उत्साहित होकर जालंधर-दोआब के सूबेदार ने एक लाख का लश्कर लेकर राहों में सिखों को निर्णायक हार दी। बन्दा ने लोहगढ़ के पहाड़ी किले में शरण ली जहाँ से वह वेश बदल कर नाहन की ओर निकल गया। इसके पश्चात् बन्दा बैरागी ने गुरिल्ला युद्ध की नीति अपनाई और कुछ-कुछ अन्तराल के पश्चात् अपनी गिरफ्तारी तक पठानकोट, बटाला, कलानौर, पुनः बटाला-कलानौर में प्रकट होकर कहर ढाता रहा। अन्त में वह कोट मिरजा नामक स्थान पर सीधी लड़ाई में पराजित हुआ और गुरदासपुर के किले में शरण लेने पर घेर लिया गया। कुछेक इतिहासकारों के अनुसार वीरतापूर्वक लड़ते हुए, तथा कुछेक के अनुसार रसद खत्म हो जाने पर, बन्दा ने यहाँ आत्मसमर्पण किया।

आपस की फूट

बन्दा बैरागी का यह आत्मसमर्पण इस ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश डालता है कि खालसाओं का पूरा विश्वास यदि उसे मिला होता तो मुगल-साम्राज्य का पतन सम्भव था। खालसा ने बन्दा बैरागी का

साथ ईमानदारी से क्यों नहीं दिया, इसके अनेक कारण हैं।

उस पर पहला आरोप यह है कि बन्दा के समय केश, जो गुरु गोविन्द सिंह के समय में सिख धर्म का महत्वपूर्ण बाह्य चिन्ह था, अब सिख धर्म का अनिवार्य चिन्ह न रहा। दूसरा आरोप है कि गुरु गोविन्द सिंह द्वारा समर्थित मांस-भक्षण को वैष्णव होने के कारण बन्दा बैरागी घृणा से देखता था और सिखों को इससे परहेज रखने की प्रेरणा देता था। तीसरे आरोप के अनुसार बन्दा ने 'वाहेगुरु जी दा खालसा, वाहेगुरु जी दी फतह' के स्थान पर 'फतह धर्म, फतह दर्शन' का समाघोष दिया। चौथे आरोप के अनुसार बन्दा गुरु गोविन्द सिंह की तरह खालसों का परामर्श नहीं लेता था और अपने फैसले उन पर लादता था। पाँचवें आरोप के अनुसार उसने ब्रह्मचर्य भंग करके गृहस्थ अपना लिया था जबकि वह वायदा कर चुका था कि ब्रह्मचर्य खंडित नहीं करेगा। छठा आरोप उस पर यह भी लगाया जाता है कि वह अपने को सिखों का अघोषित ग्यारहवां गुरु मानने लगा था।

इन आरोपों के कारण खालसा बन्दा बैरागी को पूरा समर्थन न दे सके। किन्तु दो अन्य कारण भी थे जिनके कारण बन्दा वैरागी के समक्ष ऐसी विकट स्थिति पैदा हुई। 'पंथ प्रकाश' के अनुसार गोविन्द सिंह की एक विधवा पत्नी से जिसे मुस्लिम सरकार ने अपने पक्ष में फोड़ रखा था, एक पत्र बन्दा के नाम लिखवाया गया जिसमें उससे युद्ध का मार्ग त्याग कर आत्मसमर्पण करने को कहा गया था। बन्दा द्वारा ऐसा न करने पर गुरु-पत्नी ने एक गश्ती-पत्र प्रमुख और श्रद्धालु सिखों के पास भेज कर बन्दा का समर्थन बन्द करने का आह्वान किया। बन्दा बैरागी अमृतधारी सिख धर्म में दीक्षित खालसा नहीं था, सम्भवतः इसी कारण इस पत्र से बन्दा के लिए प्रतिकूल स्थिति पैदा की गई।

एक अन्य बात यह हुई कि फर्रुखसियर और लाहौर के नायब सूबेदार से हुए समझौते के अनुसार बन्दा से विलग हुए पाँच सौ सिखों को एक रुपया प्रतिदिन की सरकारी नौकरी दी गई और बाकियों को ५००० रुपया सालाना लगान वाली झवाल गाँव की जागीर दे कर शांत किया गया। समझौते की शर्तें थीं कि (१) खालसा देश में लूटमार न करेगा (२) खालसा बन्दा बैरागी की सहायता नहीं करेगा (३) विदेशी आक्रमण की स्थिति में खालसा बादशाह का साथ देगा (४) खालसे की तनखा और जागीर में कोई कटौती न होगी (५) हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन न किया जायेगा और उनके पवित्र स्थान अपवित्र न किये जाएंगे और (६) हिन्दुओं से अभद्र व्यवहार न होगा और उनके धार्मिक सिद्धान्तों का आदर किया जाएगा। युद्धों से उदासीन हुए सिखों के ऊपर इस समझौते का अनुकूल प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार, डा. गोकल चन्द नारंग के कथनानुसार "बन्दा का जीवन जिसे सफलता का ताज धारण करना था, उसकी ब्राह्मणवादी भावना, सिख धर्म के स्वभाव से अनभिज्ञता, मुगल सरकार की कूटनीति और फर्रुखसियर के कठोर हाथों ने कुछ समय के लिए जो साहसहीनता खालसों में फैला दी थी, उसके द्वारा शीघ्र ही नष्ट हो गया"

एक स्वर्ण अवसर

बन्दा बैरागी के पश्चात् १७१६-१७६८ के पचास वर्षों के कालखण्ड में पंजाब में राजनैतिक घटना चक्र इस तेजी से घूमा कि खालसा अपमानित, दण्डित और लुटते-पिटते रहने के बावजूद राजसत्ता के सन्निकट पहुँचते गए। इस काल-खण्ड में मुहम्मद शाह के उत्तराधिकारी अत्यंत मूर्ख व ऐय्याश सिद्ध हुए, जिससे दिल्ली दरबार का भविष्य अनिश्चित हो गया। मुख्य दरबारियों में फूट पड़ने के

कारण प्रांतों में अशान्ति फैल गई और सूबेदारों ने बगावत कर अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। फलस्वरूप मरहठों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे पंजाब तक पर हावी हो गए। रुहेलखण्ड में रुहेलों और भरतपुर में जाटों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण भी इसी समय हुए। पंजाब में सूबेदारों और सरकारों की लगातार तबदीलियों, कर्मचारियों के पारस्परिक द्वेष और विश्वासघात तथा नादिरशाह-अहमदशाह के विदेशी आक्रमणों के कारण स्थिति इतनी बदतर हो गई थी कि खालसा संगठन के लिए अकस्मात् राजसत्ता की ओर बढ़ने का स्वर्ण अवसर उपस्थित हो गया। खालसा ने बुड्ढा दल व तरुण दल बनाकर और गुरिल्ला युद्ध-नीति अपना कर मुगल साम्राज्य के ढहते प्रासाद पर प्रबल प्रहार किये। घायल सर्प पर जिस प्रकार चींटियाँ चिपट जाती हैं ठीक उसी प्रकार खालसा सैनिक पंजाब के मुगल प्रशासन के पीछे चिपट कर उसे तंग करने लगे, उसकी शक्ति नष्ट करने लगे। १७६८ तक खालसा का साँझा राज यमुना से सिंध तक फैल गया था। किन्तु इस राज्य को स्थायित्व प्रदान करना अभी शेष था।

१७६८-१७९८ की कालावधि में पंजाब प्रांत बारह स्वतंत्र मिसलों में बँटा हुआ था। ये सभी मिसलें उस समय के माने हुए सिख नेताओं की थीं। मिसलें एक दूसरे के आधीन न हो कर स्वतंत्र इकाइयाँ थीं। इन मिसलों में परस्पर युद्ध भी होते रहते थे और उनकी सीमाएँ भी घटती-बढ़ती रहती थीं। इन सभी मिसलों की दो विशेषताएं उल्लेखनीय हैं, (१) उनका धर्म साँझा था (२) उनका बैरी भी साँझा था। जब भी कोई गैर-सिख किसी मिसल पर आक्रमण करता तो सभी मिसलें अपने पारस्परिक मतभेद भुला कर उस मिसल की मदद पर उतर आती थीं। एक अन्य विशेषता यह थी कि इन मिसलों के प्रमुख अपने सहयोगियों के परामर्श पर चलते थे और इन प्रमुखों का चयन वंशानुगत नहीं था, अपितु योग्यता व अनुभव के आधार पर होता था। लूट का माल सरदारों में बाँटने की प्रथा थी। दशहरे पर अमृतसर में एकत्रित होकर सभी मिसलों के प्रमुख समूची कौम से सम्बंधित समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते थे जिसे 'गुरुमता' कहा जाता था। इसी अवसर पर उन विशिष्ट लोगों को दण्डित किया जाता था जो कौम को किसी प्रकार की हानि पहुँचाते थे।

पंजाब केसरी का अविर्भाव

इन सिख मिसलों में शुक्तचकिया मिसल सबसे अधिक भाग्यशाली निकली। इस मिसल का निर्माता बुद्धा सिंह था जो चालीस बार युद्ध भूमि में आहत हुआ आ। इसी मिसल को महासिंह जैसा महत्वाकांक्षी और साहसी नेता मिला जो तीस वर्ष की अल्पायु पाने पर भी अनेक विजय प्राप्त करने में सफल रहा। महाराजा रणजीत सिंह ने बारह वर्ष की आयु में अपने पिता महासिंह से मिसल का नेतृत्व सँभाला। महाराजा रणजीत सिंह इतने कुशाग्र बुद्धि, बहादुर, अनुभवी और जन-प्रिय सिद्ध हुए कि उन्होंने सभी मिसलों का मानमर्दन कर पंजाब में एक-छत्र खालसा राज्य की स्थापना की। वास्तव में वे एक उदार, न्यायशील और धर्मनिरपेक्ष शासक थे। धर्मांधता उन्हें छू नहीं पाई थी। १७९९ में महान् फतह हासिल कर जब उन्होंने लाहौर में प्रवेश किया तो सिखों ने ही नहीं, अपितु हिन्दू व मुसलमानों ने भी उनका हार्दिक स्वागत किया। तत्पश्चात् वे इबादत के लिए बादशाही मस्जिद में गए।

१७९९ के वर्ष पर जरा ध्यान दीजिए। सन् १६९९ की वह अमर बैसाखी याद है न – जब दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने पहली बार खालसा सजाया था और 'राज करेगा खालसा' का जयघोष गुँजाया

था। गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा के राज का जो सपना लिया था वह उनके जीते जी पूरा नहीं हो सका। उनके बाद बन्दा बैरागी ने किसी हद तक उसे परवान चढ़ाया किन्तु आपस की फूट की वजह से वह सपना आधा ही पूरा हुआ। पर ठीक सौ साल बाद महाराजा रणजीत सिंह ने उस स्वप्न को सही अर्थों में पूरा कर दिया जिसकी आशा उस स्वप्न का प्रवर्तक भी छोड़ चुका था। दशमेश गुरु के स्वप्न की यही मंजिल थी।

बन्दा बैरागी ने पूर्वी पंजाब से मुस्लिम सत्ता का सफाया किया था, तो महाराजा रणजीत सिंह ने पश्चिमी पंजाब से उसका सफाया कर दिया था। बन्दा के समय अधूरे रह गए सपने को रणजीत सिंह ने इस तरह पूरा कर दिया। कहने को बन्दा और रणजीत सिंह का खालसा राज था, पर व्यवहार में वह हिन्दू राज था।

जून १८३९ में मरने से पूर्व महाराजा रणजीत सिंह ने गोविन्द राम को बुलाकर कहा कि कोहेनूर हीरा जगन्नाथ पुरी के मन्दिर को दान कर दो। उनके चार प्रांतीय गवर्नरों में दो हिन्दू थे। उच्चाधिकारियों में दीवान गंगाराम, दीवान दीनानाथ, मिसर दीवानचन्द, मिसर बेलीराम, जमादार खुशहाल सिंह और मिसर तेज सिंह आदि ब्राह्मण थे। फकीर अजीजउद्दीन उनके मंत्री एवं मुख्य परामर्शदाता थे और इलाहीबक्श उनके तोपखाने का इंचार्ज था। उनकी मृत्यु की वेदना का उल्लेख करते हुए डा. गोकल चन्द नारंग ने लिखा है:

"सिख ही नहीं, अपितु संपूर्ण हिन्दू जाति उनमें भारत के राजनीतिक क्षितिज पर हिन्दू गौरव के सूर्योदय का आभास पाती थी। प्रजा ने अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रकट कीं। वह उन्हें अपना रक्षक और मुक्तिदाता मानती थी। .... उसने अपना कल्पनातीत निर्मल प्रेम और आदर ही उन्हें नहीं दिया, अपितु उन्हें अपने परिवार, उपासना-गृहों और राष्ट्रीयं गौरव का उद्धारक भी समझा तथा उन्हें ईश्वर-प्रदत्त रक्षक के रूप में समादृत किया। .... जब १८३९ में उनका देहपात हुआ तो समूचे राज्य में शोक की लहर व्याप्त हो गई और प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभूति हुई कि उसने अपना पिता तथा संरक्षक खो दिया है। उनकी मृत्यु पर सर्वत्र कहा गया कि पंजाब अनाथ हो गया।"

(ट्रांसफॉरमेशन आफ सिखिज्म पृ. ३११-३२१)

गृहयुद्ध की विभीषिका

महाराजा रणजीत सिंह के स्वर्गारोहण के पश्चात् लाहौर दरबार से गृहयुद्ध की लपटें उठने लगीं। धर्मांधता, निहित-स्वार्थ, अराष्ट्रीय-प्रवृत्ति और विदेशी-हस्तक्षेप के कारण इस धर्मनिरपेक्ष सत्ता को षडयंत्रों और हिंसक गतिविधियों ने धर दबोचा। अविश्वास, वैमनस्य और घृणा के इस तूफान को रोकने में रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी खड्ग सिंह, नौनिहाल सिंह, रानी चाँदकौर सभी असफल हुए। पंजाब पर दाँत गड़ाए अंग्रेजों के हित-रक्षक और खड्ग सिंह के ससुराल-पक्ष के संधावालिया ने सत्ता पर अधिकार जमाने की योजना बनाई जिसे प्रधानमंत्री राजा ध्यान सिंह डोगरा का संकेत पाकर बटाला के गवर्नर शेर सिंह ने विद्रोह करके विफल कर दिया। संधावालिया ने मौका पाकर शेर सिंह और उसके पुत्र को तो मरवा ही दिया, राजभक्त ध्यान सिंह के रक्त से किशोर दिलीप सिंह का अभिषेक कर उसे गद्दी पर बिठाया। सत्ता-लिप्सा में लिप्त संधावालिया पंजाब में ब्रिटिश सत्ता का दस्तक बन गया। प्रसिद्ध सिख इतिहासकार स्व. डा. फौजा सिंह ने स्वीकार किया है कि डोगरा परिवार की अपेक्षा संधावालिया ने लाहौर राज्य को अधिक हानि पहुँचाई जबकि खालसा सेना ने डोगरा राजाओं को अपना समर्थन दिया। (दि पंजाब पास्ट एण्ड प्रेजेंट, खण्ड ५, पृ. १५५)

कुछ दिन पश्चात् स्व. ध्यान सिंह के पुत्र हीरा सिंह ने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेते हुए संधावालिया के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और चार वर्षीय दिलीप सिंह को मन्त्री बनाकर जल्ला पंडित के मार्गदर्शन में राजकाज चलाने लगा। किसी बात पर हीरा सिंह की अपने चाचा सुचेत सिंह से ठन गई और सेना ने अवसर पाकर दोनों को ठिकाने लगा दिया। सेना ने दिलीप सिंह के मामा जवाहर सिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त किया, किन्तु शीघ्र ही सेना में बढ़ती अनुशासनहीनता और वेतन-वृद्धि की माँग के कारण दिलीप सिंह व रानी जिन्दकौर की उपस्थिति में जवाहर सिंह को मौत के घाट उतार दिया गया।

सेना को इस प्रकार काबू से बाहर जाते देख रानी जिन्दकौर ने कूटनीति से काम लेकर एक ओर अंग्रेजों से साँठगाँठ की, तो दूसरी ओर सिख सरदारों को बढ़ती अंग्रेज-शक्ति के विरुद्ध उत्तेजित किया। उसने बड़ी ही चालाकी से सिख सेना के फ्रेंच जनरलों को कश्मीर भेज दिया, मुस्लिम दस्तों को लाहौर में रुकवा लिया और सिख दस्तों को अंग्रेजों द्वारा अधिकृत सतलुज-यमुना का मध्यवर्ती प्रदेश खाली कराने के लिए भेज दिया। चार स्थानों पर सिखों ने अंग्रेजों से मोर्चा लिया और हर मोर्चे पर पराजय का मुँह देखा। इसके बाद लाहौर दरबार की प्रार्थना पर ब्रिटिश सेना ने मुलतान कब्जे में ले लिया और हजारा पर आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से 'चिल्लियाँवाला' नामक स्थान पर अंग्रेज और सिख-सेना के मध्य अन्तिम, भीषण तथा निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें सिखों को करारी हार खानी पड़ी। इस पराजय से सिख सेना छिन्न-भिन्न, शक्तिहीन और शस्त्रहीन हो गई।

२९ मार्च १८४९ को जब गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित करने की घोषणा की तो अगले ही दिन ३० मार्च को हर्षातिरेक में स्वर्ण-मन्दिर में दीवाली मनाई गई। सिख इतिहासकार गजराज सिंह की खोज के अनुसार स्वर्ण-मन्दिर के ग्रंथी भाई माखन सिंह, स्वर्ण-मन्दिर के पुराने सेवादार सरदार लहना सिंह और उनके उत्तराधिकारी भाई जोध सिंह ने इस उत्सव को सफल बनाने में योगदान दिया था। (देखिए जर्नल आफ रीजनल हिस्ट्री, खण्ड ३, पृ. ८९ सं. १९८३)। यह सारा घटना-चक्र महाराज रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद केवल १० वर्षों में ही चल कर समाप्त हुआ।

इस घटनाचक्र पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ये निष्कर्ष निकलते हैं कि महाराज रणजीत सिंह के काल को छोड़कर समूचा सिख इतिहास प्रमुखतः मजहब और राजनीति की खिचड़ी बना रहा है। नानक के विशुद्ध आध्यात्मिक विचारों को पंथ के शिकंजे में जकड़ दिया गया, गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा सजा कर यद्यपि हिन्दू जाति का रक्षक दल तैयार किया था, किन्तु बाह्य चिन्हों में उलझ कर यह खालसा कालान्तर में एक पृथक् जाति के रूप में उभरता चला गया। हिन्दुओं के प्रति कटुता भी खालसाओं में पैदा होने लगी जिसे पहाड़ी राजाओं और बन्दा बैरागी के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। खालसा सेना में, विशेषकर बन्दा बैरागी और मिसलों की सेना में, अबाध रूप से डाकू-लुटेरे तथा जरायमपेशा भी भर्ती किए गए जो किसी मजहब और राजनीति से प्रेरित होकर नहीं, अपितु लूट का माल प्राप्त करने के लोभ में जान हथेली पर रख कर लड़ते थे। इसका परिणाम यह निकला कि मजहब गौण और राजनीति प्रमुख होती चली गई। मिसल-काल में सिखों में पारस्परिक घृणा, कटुता, शत्रुता बढ़ी जिससे एक दूसरे को नीचा दिखाने के हर तरह के अनैतिक और अधार्मिक हथकण्डे अपनाए जाते थे और इन भ्रष्ट राजनैतिक लोगों पर आम जनता विश्वास करती थी कि वे धर्म के रक्षक हैं। धार्मिक कट्टरता का उनमें निरन्तर विकास होता गया जिससे उनमें एक अलग पहचान की भावना तो पैदा हुई, किन्तु राष्ट्रीय भावनाएं कभी पनप नहीं सकीं। उनके बलिदान अपूर्व थे, उनकी वीरता अद्भुत थी, किन्तु वह एक पंथ और एक जाति के लिए थी न कि समूची भारतीय

जनता और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए।

एक या दो उदाहरण देकर यद्यपि इन मान्यताओं का खण्डन करना किसी के लिए कठिन कार्य नहीं होगा किन्तु समूचे सिख-चरित्र और खालसा-चिन्तन पद्धति पर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष सचाई के कहीं अधिक निकट होगा।

यद्यपि हिन्दुओं ने खालसा पंथ के लिए अपनी ज्येष्ठ संतान को समर्पित किया, गुरुद्वारों को अपना ही उपासनागृह समझा, रोटी-बेटी साँझी रखी, खालसा सेना को सहायता पहुँचाते रहे, खालसा को अपने ही शरीर का अंश समझते रहे, किन्तु हिन्दुओं की इस उदात्त भावना को खालसा ने हर क्षण कुचला है, अनादृत और उपेक्षित किया है। इसका परिणाम यह निकला कि जिस स्वर्ण-मन्दिर की नींव एक मुसलमान ने रखी थी, जिस स्वर्ण-मन्दिर की दीवारें एक हिन्दू की देखभाल में खड़ी की गई थीं, उस स्वर्ण-मन्दिर में आज श्रद्धानत होकर न कोई मुसलमान जा पाता है और न ही कोई हिन्दू। कहा जाता है कि गुरु ग्रंथ साहब में सभी जातियों और धर्मों के संतों की वाणी का संग्रह इस कारण किया गया था कि मजहब और जाति के नाम पर पैदा होने वाला अलगाव खत्म हो सके, किन्तु विडम्बना देखिए, ऐसा सोचने व करने वाले आज स्वयं एक पंथ और जाति बनकर अलगाव की दुन्दुभि बजा रहे हैं।

पंजाब का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसकी कोख से कोई दूसरा रणजीत सिंह आज तक पैदा नहीं हुआ। यों कहने को पंजाब बाँझ नहीं, उनके पश्चात् भी अनेक नर-रत्न पंजाब ने दिए जिससे भारत का स्वाभिमान बुलन्द हुआ, उसे यश और कीर्ति मिली, किन्तु रणजीत सिंह तो अपना अपवाद आप ही थे। उन्हें जो जीवन-दृष्टि मिली थी वह इतिहास में अशोक और अकबर के समकक्ष थी। अपने उदार हृदय और निष्पक्ष दृष्टिकोण का परिचय देकर उन्होंने पंजाब की वीरता को ही धन्य नहीं किया वरन् सिख धर्म को भी चार चाँद लगा दिए। मजहबी संकीर्णता और जातीयता की तंगदिली से मुक्त होकर उन्होंने राजनीति को उसकी ही राह पर चलाया। सिख इतिहास में यह परिवर्तन एक महान् चमत्कारी घटना और जन-हित की बात थी। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों और सिखों को एक ही मंच पर ला खड़ा किया और यहाँ तक कि यूरोपियन लोगों पर भी अपना विश्वास प्रकट किया। सिख इतिहासकारों की दृष्टि में रणजीत सिंह अपने इन गुणों के कारण कभी सिखों के औरंगजेब नहीं बन सके। औरंगजेब नहीं बन सके तो क्या हुआ, इंसानियत के जागरूक प्रहरियों की कोटि में तो उनका नाम स्वर्ण-मंडित हो ही चुका है।

रणजीत सिंह की महान् परम्पराओं को ऐसा वातावरण कभी नहीं पनपा सकता जिसमें मजहबी कट्टरता और अपनी पहचान का बोध चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ हो। मिसलों का साम्राज्य नष्ट कर उन्होंने एकछत्र राज्य स्थापित कर राष्ट्रीय एकता का पथ प्रशस्त किया था, जिसे पंजाब के सिख न उस समय समझ सके, न आज समझ रहे हैं। यदि समझ पाते तो पंजाब में कोई भिंडराँवाला, कोई अमरीक सिंह, कोई शाबेग सिंह और कोई जगजीत सिंह नहीं, अपितु कोई रणजीत सिंह ही पैदा हुआ होता।

जिस भटकी आस्था और विश्वासघात ने बन्दा बैरागी के कर्तृत्व पर पानी फेर दिया, उसी विश्वासघात ने महाराजा रणजीत सिंह की अभूतपूर्व सफलता पर पानी फेर दिया। दोनों जगह कारण केवल एक था – विश्वासघात। विश्वासघात! विश्वासघात!! विश्वासघात!!!

६ अंग्रेजों का छल और मैकालिफ की माया

आखिर खालसा राज समाप्त हो गया।

आश्चर्य इस बात पर नहीं कि वह राज समाप्त हो गया। राज तो बनते बिगड़ते रहते हैं। पर आश्चर्य इस बात पर है कि इस खालसा राज की समाप्ति पर स्वयं सिखों ने खुशियां मनाईं।

पश्चिमोत्तर भारत में सतलुज से खैबर तक और लद्दाख से सिन्ध की सीमाओं तक फैले विस्तृत भू-भाग पर स्थापित ४० वर्ष का खालसा राज १० वर्ष की अल्पावधि में किस प्रकार विदेशी षड्यंत्र, निहित स्वार्थों, पारस्परिक फूट का शिकार होकर ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन हो गया। इस राज्य की नींव के पत्थर हिन्दू, मुसलमान और सिख तीनों ही थे और इन तीनों परम्परागत विरोधियों के सिर आपस में मिलाकर सम्प्रदाय निरपेक्षतावादी रणजीत सिंह ने जिस सांझी सांस्कृतिक चेतना को जन्म दिया वह इतिहास की अनुपम देन थी। अकबर के पश्चात् यह पहला प्रशासन था जिसे सही अर्थ में राष्ट्रीय माना जा सकता था। यदि रणजीत सिंह का प्रशासन राष्ट्रीय न होकर खालसा होता, तो एक अमृत छकने वाला केशधारी संधावालिया परिवार अंग्रेजों का हस्तक बन कर इस राज्य की जड़ें न उखाड़ता और एक गैर अमृतधारी हिन्दू डोगरा परिवार तन-मन-धन से इस राज्य की रक्षा न करता।

संधावालिया समूचे सिख-समूह का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। सिख-राज्य से उसका विद्रोह अपने निहित स्वार्थों के कारण था। डा. फौजा सिंह ने लिखा है–"महत्वपूर्ण बात यह भी है कि केवल एक अवसर को छोड़ कर जब दिसम्बर १८४४ में डोगरा राजा हीरा सिंह व पं. जल्ला का पीछा करके उनकी हत्या की गई थी, खालसा सेना ने हर अवसर पर संधावालिया परिवार के विरुद्ध डोगरा राजाओं को अपना समर्थन प्रदान किया था। (दि पंजाबः पास्ट एण्ड प्रेजेंट, खण्ड ५, पृ. १५५)। संधावालिया मात्र सिखों के उस गुट का प्रतिनिधि था जो अंग्रेजों से मिल कर षड्यंत्र रच रहा था और जिसे यह भय लग रहा था कि खालसा राज्य पर हिन्दू हावी न हो जाएँ। अपने भाइयों से मुख मोड़ कर विदेशियों के यहां पनाह ढूँढ़ने का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि ऐसा करने वाले उस मानसिकता में जी रहे थे जिसे एक पंथ,एक जाति के राहु-केतु ग्रस रहे थे। यदि ऐसी बात न होती तो स्वर्ण मन्दिर में ३० मार्च १८४९ को खालसा राज्य के पतन पर शोक मनाया जाता, जश्न न मनाया जाता।

अंग्रेजों ने कूटनीति और छल-कपट से खालसा राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला तो लिया

था, किन्तु इस क्षणिक विजय से वे तब तक संतुष्ट नहीं हो सकते थे जब तक कि खालसा राज्य के मूलाधार को नष्ट न कर दिया जाता। खालसा राज्य की नींव सांस्कृतिक सद्भाव और सैनिक वृत्ति पर टिकी हुई थी। जब तक इस समीकरण को भंग न किया जाता, अंग्रेजों का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि अपने दीर्घ अनुभव से उन्होंने यही सीखा था कि किसी राष्ट्र की मूल शक्ति वहां की सांस्कृतिक चेतना और सैन्य-वृत्ति ही होती है जो ऊपर से लादी गई किसी राजसत्ता को अवसर पाते ही उलटने में समर्थ होती है। फलतः अंग्रेजों ने एक नियोजित ढंग से पंजाब के पारस्परिक भ्रातृत्व, धार्मिक सद्भावना और सैन्य वृत्ति को कुचलना शुरु किया।

सैन्य वृत्ति का उन्मूलन

अंग्रेज विजेता को तात्कालिक खतरा सैन्य वृत्ति से था। सैनिकों के अतिरिक्त रावी और व्यास तथा सतलुज के मध्यवर्ती प्रदेश के लोग परम्परा से निर्भीक एवं लड़ाकू रहे थे। इन दोनों ही इकाईयों को निर्मूल करने की योजना अंग्रेज़ों ने बनाई। यह कार्य तीन चरणों में पूरा किया गया। पहले चरण में सेना से सिख सैनिकों को निहत्था करके वेतन देकर वापस घरों को पक्की छुट्टी पर भेज दिया गया और दूसरे चरण में सेना में सिखों की भर्ती बन्द कर दी गई। एक अनुमान के अनुसार सिख सैनिकों ने १,१९,७९६ हथियार अंग्रेजों के हवाले किये। डा. खिलनानी ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया है कि कैसे उन सिखों ने अपने प्यारे हथियार चुप-चाप सौंप दिए जो कुछ ही दिन पूर्व अपने धर्म और पितृभूमि की स्वाधीनता के लिए अंग्रेजों से तीन भयंकर युद्ध लड़ चुके थे। डा. लतीफ के कथनानुसार हकूमत की किस्मत गढ़ने वाले और सरकार को भयभीत रखने वाले सिखों का इस प्रकार हथियार सौंपना अंग्रेज सरकार के प्रशासनिक कौशल का परिणाम था।

एक अन्य कारण, जिसने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, यह था कि सिखों के पवित्रतम गुरुधाम स्वर्ण मन्दिर ने ब्रिटिश सत्ता की आधीनता स्वीकार कर उनमें हीन भावना का संचार कर दिया था। स्वर्ण मन्दिर की तरह सिखों ने अपनी किस्मत को अंग्रेजों के साथ जोड़ना श्रेयस्कर समझा। राजसत्ता छिन चुकी थी, अंग्रेज पूरे भारत पर हावी थे, जींद, नाभा, पटियाला, कपूरथला की सिख रियासतें पहले से ही रणजीत सिंह के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ देती आ रही थीं। इन सब बातों के मिले-जुले प्रभाव ने भी बहादुर सिख सैनिकों को बाध्य किया कि वे हथियार डाल दें। यद्यपि सिख सैनिक गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी के उस विश्वासघात से क्षुब्ध थे जिससे खालसा राज को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया था। किन्तु लाहौर के रेजीडेंट सर हैनरी लारेंस के उस सख्त विरोध से भी वे परिचित थे जो खालसा राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के कारण प्रकट किया गया था। हैनरी लारेंस ने अपने इस विरोध और पंजाबियों को दिए कुछ महत्त्वपूर्ण आश्वासनों के कारण सिखों में अपनी सहज विश्वसनीयता बना ली थी जिसके फलस्वरूप भी सिख सैनिकों ने बिना किसी विरोध के हथियार डाल दिये थे।

दूसरे चरण में, अंग्रेजों ने कुछ महत्त्वपूर्ण किलों को छोड़ कर अन्य सभी किलों को मिट्टी में मिलवा दिया। इन किलों का सैन्य वृत्ति को बनाए रखने में बहुत महत्त्व रहता था। उनसे सिखों का अतीत, उनका इतिहास, उनका वीरत्व जुड़ा हुआ था। इनके ढह जाने से यह प्रभाव शनैः शनैः समाप्त होने लगा और पंजाब की देहाती जनता सैनिक कम, किसान अधिक, बनती चली गई।

तीसरे चरण के अन्तर्गत सिखों के लिए सैनिक भर्ती के दरवाजे बन्द कर दिए गए। 'कलकत्ता

रिव्यू' (१८५६) के अनुसार उस समय तक बम्बई एवं मद्रास प्रेजीडेंसी की ब्रिटिश सेना में एक भी सिख सैनिक नहीं था। बंगाल प्रेजीडेंसी की सेना में वे १५०० के लगभग थे। पंजाब की नियमित सेना में उन्हें रखा ही नहीं गया और अनियमित सेना की एक टुकड़ी में उनकी संख्या केवल ८० तक सीमित कर दी गई थी। सेनाओं में सिखों को 'गन्दा सिपाही' (सम्भवतः केशधारी होने के कारण) सम्बोधित कर अपमानित किया जाता था। केश कटवाने के लिए उन पर दबाव डाला जाता था और उन्हें प्रेरित किया जाता था कि सैनिक बनने से किसान रहना कहीं अधिक स्वाभिमान की बात है। यह नीति सिखों के लिए महाविनाश का जो पैगाम लाई उसे तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों और अंग्रेज लेखकों की रिपोर्टों में देखा जा सकता है। जान लारेन्स इस नीति पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए लिखते हैं:

''सिख सैनिकों की बहुसंख्या, माझा और मालवा प्रदेश के अपने गांवों में पहुँच कर कृषि में लग गई है। पहले का पक्का पैदल सैनिक आज उतना ही पक्का किसान बन गया है और पहले का बहादुर अफसर अब गांव के बुजुर्गों में आ गया है।''

एक निर्धारित नीति के अनुसार अंग्रेज शासकों ने सिखों का दमन करते हुए उनकी सैन्य वृत्ति और चरित्र पर अवसरवादिता व धन-लोलुपता के लांछन लगाए। एक अंग्रेज आई. सी. एस. अधिकारी मि. थोरबर्न, जो पंजाब के फाइनेन्स कमिश्नर रह चुके थे, अपनी पुस्तक 'दि पंजाब इन पीस एण्ड वार' (१८८३) में एक स्थल पर ऐसे लांछन लगाते हुए लिखते हैं–

''सिख लोगों का दिल बनिये का दिल होता है अर्थात् उनकी दृष्टि सदैव अपने लाभ पर रहती है। और क्योंकि १८४६ में युद्ध हो या कृषि, सब जगह उन्हें आर्थिक लाभ की अपेक्षा ठोकरें ही मिल रही हैं, अतः जब उन्होंने देखा कि नए शासन में घरों में रहकर अपने परम्परागत व्यवसाय कृषि में लगना उनके लिए अपेक्षाकृत अधिक सुविधा व समृद्ध जीवन का आधार बन सकेगा, तो वे खुशी-खुशी खेतों की ओर पलायन कर गए।''

सैनिकों से हथियार व वर्दी छीनने तथा सेना में उनकी भर्ती बन्द कर देने से सिखों की सैन्य वृत्ति पर तो कुठाराघात हुआ ही, उनकी आर्थिक स्थिति भी बिगड़ने लगी। इस स्थिति में शेष समाज पर उनका प्रभुत्व दम तोड़ने लगा और पंच ककार के प्रति उनका आकर्षण मंद पड़ने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों उनका धर्म सैन्य वृत्ति, हथियारों और बाह्य चिन्हों तक ही सीमित हो चुका था।

सत्ता और शस्त्रों पर पलने वाले मजहबों का अन्त में ऐसा ही परिणाम निकलता है। सिख धर्म ही नहीं, उससे मिलते-जुलते अन्य मजहबों को भी इसी कारण इतिहास के गर्भ में विलीन होना पड़ा है। जो लोग राजनीति और धर्म के समीकरण में आज भी आस्था रखते हैं उन्हें १८५१-५२ की 'पंजाब प्रशासन रिपोर्ट' के इन अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए:

''सिख पंथ और उसकी धार्मिक नीति तेजी से उसी जगह जा रही है, जहां सिखों का राजनीतिक उत्कर्ष जा चुका है। पुराने खालसा के दो भाग हैं, प्रथम गुरु नानक के अनुयायी और दूसरे गुरु गोविन्द सिंह के अनुयायी। इनमें से पहला भाग तो भविष्य में भी बना रहेगा किन्तु दूसरा भाग काल के गाल में समा जाएगा। नानक के सिखों की संख्या थोड़ी है और वे शान्तिप्रिय हैं, वे अपनी परम्परागत आस्थाओं पर टिके रहेंगे। किन्तु गुरु गोविन्द सिंह के सिख, जिनका उद्भव बहुत बाद में हुआ, जिनके नाम के साथ 'सिंह' शब्द अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है, जिन्होंने युद्ध तथा विजय के रूप में ही धर्म को अपनाना सीखा था, अब खालसा की प्रतिष्ठा चली जाने (अर्थात् हथियार छिन जाने व भर्ती बन्द हो

जाने) के कारण, उनका उतना आदर अब नहीं रह गया है।

"पहले ये लोग हजारों के झुण्ड में (खालसा में) आए और अब उतनी ही बहु-संख्या में पलायन कर रहे हैं। वे जिस हिन्दू समाज में से मूलतः निकले थे, अब उसी में पुनः विलीन हो रहे हैं और अपने बच्चों को केशधारी के रूप में नहीं, सहजधारी के रूप में बड़ा कर रहे हैं। अमृतसर के पवित्र सरोवर पर अब पहले जैसी भीड़ नहीं रहती। क्योंकि मेलों में उपस्थिति प्रति वर्ष घट रही है। तरुणों के लिए पाहुल संस्कार (अमृत छकना) अब यदा-कदा ही दिखता है।"

सैनिक व्यवसाय समाप्त होने के कारण सिखों में इस मानसिकता ने जन्म ले लिया कि केशधारी बने रहने की अब कोई महत्ता नहीं रह गई है। केशधारी और सहजधारी में जो अन्तर आ गया था वह इस नई परिस्थिति में समाप्त होता चला गया। १८५५ की जनगणना के समय यह आश्चर्यजनक तथ्य सामने आया कि खालसा की आधारभूमि मांझा (लाहौर डिवीजन) क्षेत्र की ३० लाख की जनसंख्या में खालसा सिखों की संख्या केवल २ लाख रह गई थी। इस पर प्रकाश डालते हुए १८५५-५६ की पंजाब प्रशासन रिपोर्ट में कहा गया है–

"इस तथ्य से इस आम धारणा की पुष्टि होती है कि सिखों की संख्या तेजी से घट रही है। आधुनिक सिक्खी एक ऐसे राजनैतिक संगठन का नाम है जिसका जन्म पूर्णरुपेण हिन्दुओं में से हुआ है और जिसमें कोई व्यक्ति विशेष परिस्थितियों के अनुसार प्रवेश पा सकता है, अथवा उससे बाहर जा सकता है। कोई व्यक्ति उस प्रकार सिख के नाते जन्म नहीं लेता जिस प्रकार वह जन्म से हिन्दू या मुसलमान हो सकता है। सिख बनने के लिए उसे विशेष संस्कार (अमृत छकना) से गुजरना होता है। अब चूँकि सिख कामनवेल्थ टूट गया है, इसलिए लोग सिक्खी की दीक्षा नहीं लेते और हिन्दूधारा में वापस लौट रहे हैं।

एक नया मोड़

केशधारी बनने पर सिखों में जो एक अलग पहचान जन्म ले रही थी, जो एक अहं पैदा हो रहा था, जो एक विशेष प्रवृत्ति बढ़ रही थी, उस अंहकार को समूलतः नष्ट करने में इस नई परिस्थिति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। शनैः शनैः खालसा का यह भ्रम टूटने लगा कि केशधारी बनने पर ही कोई व्यक्ति नानक का सच्चा सिख हो सकता है, सहजधारी बनने पर नहीं। किन्तु खालसा पंथ के तथाकथित जागरूक नेता जिन्होंने 'खालसा राज' को अंग्रेजों की झोली में डालने का घृणित षड्यंत्र रचा था और जिनके संकेत पर ही स्वर्ण मन्दिर में अंग्रेजों की वफादारी की डींगें मार कर आश्वासनों की तश्तरी में मिलने वाली गुलामी पर जश्न मनवाया गया था, खालसों के इस पतन को अधिक देर तक सहन नहीं कर सकते थे।

इस पतन को लेकर खालसाओं में ही उनकी कटु आलोचना हो रही थी। पटियाला, नाभा, कपूरथला आदि के सिख राजाओं तक इस की शिकायतें पहुँची। स्वर्ण मन्दिर में भी इसे लेकर निराशा और क्षोभ व्याप्त होने लगा। इसका नतीजा यह निकला कि खालसाओं ने अंग्रेज प्रशासकों को अपनी वफादारी के आश्वासन देने शुरू कर दिये। यहां तक कि स्वर्ण मन्दिर के तोशाखाने तक की चाबी अंग्रेजों के हाथ में दे दी गई। प्रमुख खालसाओं की ओर से यह आग्रह बार-बार दोहराया जाने लगा कि सेना में सिख भर्ती पर रोक हटा ली जाए। सर जॉन लारेंस चूँकि खालसा की वीरता

का आदर करता था और दमन की अपेक्षा सुविधा देकर विरोधियों को खत्म करने की नीति में अधिक विश्वास रखता था, अतः उसने पहली स्थिति को बहाल करने की सोची। उधर लार्ड डलहौजी की तीक्ष्ण दृष्टि से भी यह तथ्य छिपा नहीं रह सका कि बेरोजगार खालसा सैनिक राख में दबी चिनगारी के समान हैं जो विद्रोह की हवा का मामूली झोंका पाकर शोला बन कर दहक सकती है। अपनी एक टिप्पणी में उसने लिखा था–

"रावी, व्यास और सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र की आबादी की वृत्ति लड़ाकू है और विशेषतः अब सेना से बर्खास्त किए गए सैनिकों की बहुत बड़ी संख्या उनके साथ जुड़ जाने से वह और भी बड़ा खतरा बन गई है।"

तब धूर्त अंग्रेज ने इस खतरे से बचने के लिए और स्वर्ण मन्दिर, सिख राजाओं तथा अपने हितैषी खालसा नेताओं पर अहसान जताने के लिए केशधारियों को सेना तथा पुलिस में लेना शुरू कर दिया। उनकी भर्ती करने से पूर्व सब तरह आश्वस्त होने का प्रयत्न किया जाता था कि वे अंग्रेज सरकार के प्रति पूर्णतया वफादार रहेंगे। सिखों की पाँच रेजिमेंट और पाँच दस्ते इसी समय खड़े किए गए जिन्होंने अपनी वफादारी का सबूत गोदावरी के तटों पर और १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध में क्रांतिकारियों का दमन करते समय दिया। इसी कालखण्ड में अफगानिस्तान से लगी सरहदों को सुरक्षित रखने के लिए 'पंजाब फ्रंटीयर फोर्स' गठित की गई जिसकी ग्यारह हजार की संख्या में दस प्रतिशत खालसा थे। पंजाब में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से पन्द्रह हजार संख्या की एक पुलिस फोर्स का गठन भी हुआ जिसमें खालसों की खासी संख्या थी।

आजादी का बिगुल

पंजाब की सेना को पुनर्गठित किया ही जा रहा था कि ११ मई १८५७ को दिल्ली ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इस गुहार के पीछे बहादुरशाह जफर का ही स्वर नहीं था, अपितु नाना साहब, तांत्या टोपे, महारानी झांसी के अतिरिक्त ब्रिटिश सेना के हिन्दू सैनिकों और देश भर में फैले साधुओं-सन्यासियों की आजादी के लिए छटपटाती स्वातंत्र्य-चेतना भी काम कर रही थी। क्रान्तिकारियों की योजना इतनी गुप्त थी कि यदि मंगल पांडे उत्तेजना में आकर निर्धारित समय से पहले ही क्रान्ति का बिगुल न बजाता तो असावधान अंग्रेज अपना बिस्तर गोल कर चुके होते। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आजादी की इस लहर ने ब्रिटिश सत्ता को हिला दिया था और भारतीयों के हृदय में आजादी की अदम्य अलख जगा दी थी।

इस आसन्न संकट के खतरों को समझते हुए चतुर अंग्रेज ने इस क्रांति को "पुरबिया सैनिकों की मदद से मुस्लिम शासन की वापसी" के षड्यंत्र के रूप में प्रस्तुत कर खालसाओं में आई रिक्तता, कुंठा, ग्लानि व उदासीनता को अपने हितों में भुनाने की चाल चली और ब्रिटिश सेना में उनकी भर्ती के दरवाजे पूरी तरह खोल दिये। खालसा यह भूले नहीं थे कि अंग्रेजों ने पुरबिया सैनिकों, दिल्ली के मुगल बादशाह और झज्झर के नवाब की मदद से ही खालसा राज का अपहरण कर उन्हें दासता की जंजीरें पहनाई थीं, उन्हें बेरोजगार कर वापस घरों को भेज दिया था। सर हैनरी लारेंस अपने अच्छे प्रशासन और उदार स्वभाव के कारण सिख प्रजा के दिल पर छाये हुए थे। उन्होंने इस स्थिति का लाभ उठा कर खालसाओं में विद्रोही पुरबियों व मुस्लिम सैनिकों के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना भर दी। खालसा सैनिक असमंजस में थे कि वे क्या करें, क्या न करें। जब उन्होंने नाभा, जींद, पटियाला, कपूरथला के सिख राजाओं को अंग्रेजों की मदद पर उतरते देखा तो वे भी पूरे मन से

अंग्रेज के पीछे हो गए। डा. गोकुल चन्द नारंग ने इस सन्दर्भ में उचित ही लिखा है:

"वे सिख जो कुछ पीढ़ियों से सैनिक वृत्ति अपनाए हुए थे, आसानी से अपने हाथ हलों की मूठ पर नहीं रख सकते थे। अतः जब उन्हें जागीरों और पेंशनों का आश्वासन दिया गया तो वे भारी संख्या में अनेक युद्धों में शामिल हुए।"

(ट्रांसफोरमेशन आफ सिखिज्म, पृ. ३३६-३३७)

पंजाब में जब गदर का समाचार पहुँचा तो वहां १०,५०० यूरोपियन सैनिक और ५८,००० भारतीय सैनिक थे। लाहौर में भारतीय सैनिक किले पर अधिकार करने की सोच ही रहे थे कि चालाकी से १३ मई को उनसे हथियार रखवा लिये गए। १४ मई को अमृतसर के पुरबिया सिपाहियों को निहत्था कर दिया गया। इसी प्रकार गोविन्दगढ़ में कार्रवाई की गई। फिर भी फिरोजपुर, लुधियाना, अम्बाला, थानेसर, स्यालकोट, होती मरदान, पेशावर, फिल्लौर और मुलतान में पुरबिया सैनिक विद्रोह करने में सफल हुए। लेकिन उन्हें सख्ती से कुचल दिया गया। जुलाई के अंत तक लगभग १३,००० भारतीय सैनिकों को शस्त्रहीन कर दिया गया। इस कार्रवाई में खालसा सैनिकों ने अंग्रेज सैनिकों का पूरा साथ दिया।

चार महीने की स्वल्प अवधि में अठारह नई पल्टनें खड़ी की गईं जिनमें अधिकांश सिख थे और सभी अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे। पटियाला, जींद, नाभा, कपूरथला की सिख रियासतों ने १७,००० सैनिक भर्ती करके अंग्रेजों की सहायतार्थ भेजे। समय आने पर कुछ सिख राजाओं ने अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए अपनी फौजों की कमान खुद संभाली। सितम्बर १८५७ में अंग्रेजों को प्राप्त अन्तिम विजय का श्रेय पंजाब को ही जाता है।

पंजाब ने गदर को दबाने के लिए ३४ हजार सैनिक ही नहीं दिये, अपितु अन्य सब प्रकार की आर्थिक मदद भी दी। इसी समय जब छह प्रतिशत कर्जा जमा करने की अपील की गई तो पंजाब से इकतालीस लाख रुपये उपलब्ध हुए। कमांडर-इन-चीफ जनरल विल्सन ने अन्तिम सफलता में पंजाब की देन को महत्वपूर्ण माना था। सर जॉन लारेंस ने भी माना कि यदि सिख सैनिक वफादारी न निभाते तो भारत से अंग्रेजों का बोरिया बिस्तर गोल हो जाता। इस योगदान के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भी कृतज्ञता प्रकट की थी।

पंजाब का सिख गदरियों के कितना विरुद्ध था, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। बहादुरशाह जफर ने अपना एक विशेष दूत–ताजुद्दीन–पटियाला, नाभा व जीन्द के राजाओं के पास स्वतंत्रता की इस मुहिम में योगदान देने की प्रार्थना करते हुए भेजा था। उसका काम यह स्पष्टीकरण देना था कि किस प्रकार हिन्दू-मुसलमान इकट्ठे होकर अंग्रेजों को देश से निकालने के लिए तत्पर हैं। किन्तु ताजुद्दीन अपनी रिपोर्ट में लिखता है–"सारे सिख सरदार सुस्त और कायर हैं। उनसे बहुत कम आशा है। वे फिरंगियों के हाथ के खिलौने हैं। मैं उनसे एकांत में मिला और उनसे बातें कीं। मैंने उनके सामने अपना कलेजा पानी पानी कर दिया पर मेरे विचार से उनका विश्वास नहीं किया जा सकता।"

इसके पश्चात् भी बहादुरशाह जफर ने दूत भेजे, लेकिन उन्हें कत्ल कर दिया गया।

इस संक्रांति काल में सिख तटस्थ रहते तो अंग्रेज की पराजय निश्चित थी और जो सौ साल की गुलामी भारत को और भोगनी पड़ी, वह न भोगनी पड़ती। किन्तु सिखों की धर्मांधता को इतना उत्तेजित कर दिया गया था कि ख्वाजा हसन निजामी के शब्दों में–"जब सिख सैनिकों ने दिल्ली की जामा मस्जिद में प्रवेश किया तो उन्होंने वहां सूअर काट-काट कर पकाये और वहां पायखाने व

पेशाब घर बनाकर उसकी पवित्रता भंग की।" सम्भवतः यह मस्सा रांघड़ द्वारा स्वर्ण मन्दिर को अपवित्र किए जाने की ऐतिहासिक घटना का बदला चुकाया गया था।

१८४६ से ही अंग्रेजों ने गुरु तेगबहादुर के नाम पर यह बात फैला रखी थी कि भारत पर टोप वाले का राज होगा जो मुस्लिम शासन की कब्र खोदेगा। इस भविष्यवाणी को सिख मानस पर अंकित करने के लिए कैप्टेन हडसन ने दो मुगल शाहजादों की हत्या करके उनकी लाश को प्रदर्शनार्थ वहीं रखा जहाँ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर के शीश का प्रदर्शन किया था। यह बात जब सिख सैनिकों और पंजाब की सिख जनता तक पहुँची तो उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेजों के प्रति वफादारी करके उन्होंने पंथ की शान बढ़ाई है।

इतना होने पर भी, एक दूसरा और महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है। क्रांति-पूर्व ब्रिटिश सेनाओं में सिख सैनिकों की संख्या लगभग दो हजार थी और उनमें से अधिकांश पंजाब के बाहर नियुक्त थे। इन सिख सैनिकों ने पंजाब के सिख सैनिकों के ठीक विपरीत आचरण करके यह सिद्ध किया था कि मजहबी वातावरण से दूर रह कर ही आजादी और स्वाभिमान की महत्ता समझी जा सकती है। ५ जून १८५७ को बनारस स्थित लुधियाना रेजीमेंट ने बगावत का झण्डा उठा कर क्रांतिकारियों के प्रति सहयोग का हाथ बढ़ाया। मध्य प्रदेश की महू छावनी में २३ वीं रेजीमेंट के ८० सिख सैनिकों को विद्रोह करने पर आगरा में बंदी बनाया गया। झांसी की १२वीं रेजीमेंट के २१ सिख सैनिकों को विद्रोह के आरोप में फांसी दी गई। इलाहाबाद में नियुक्त सिख सैनिकों को विद्रोह से रोकने के लिए लेफ्टिनेंट बेज़िया को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा।

गदर के बाद

१८५७ की राज्यक्रांति का दमन करने के पश्चात् पंजाब में पुरस्कारों और दण्डों का जबरदस्त दौर चला। अतिवादी अंग्रेज और सिख दिल्ली को मिट्टी में मिलाने और जामा मस्जिद को ढहाने के इच्छुक थे, किन्तु जॉन लारेंस के हस्तक्षेप से यह सम्भव नहीं हो सका। वफादार सिख सैनिकों को इनामों, पदों, जागीरों से पुरस्कृत किया गया। नाभा नरेश को पुरस्कार में झज्झर का क्षेत्र, जीन्द नरेश को दादरी का क्षेत्र, पटियाला नरेश को नारनौल डिवीजन का इलाका मिला। इसी प्रकार कपूरथला औा कश्मीर के राजाओं को भी इनाम मिले।

महत्वपूर्ण व्यक्तियों को ही नहीं, पूरे पंजाब को इस विजय से पुरस्कृत करने के लिए सिख बहुल क्षेत्र में नहरों, सड़कों, पुलों, रेलवे लाइनों, स्कूलों, अस्पतालों की सुविधाओं का अंबार लगा दिया। किसानों की दशा सुधारने के लिए और राज प्रबंध को चुस्त बनाने के लिए अनेक कदम उठाए गए। पंजाब में ऐसा वातावरण बनाया गया कि सिखों के हित अंग्रेजों के साथ ही जुड़े हुए हैं। सुप्रसिद्ध पत्रकार अरुण शोरी के कथनानुसार सिखों की गदर के समय दिखाई गई वफादारी से अंग्रेजों का यह विचार बना कि वे अंग्रेजी राज के मजबूत खम्भे हैं।

१८५७ की क्रांति की घटनाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् अंग्रेज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिन पुरबिया सैनिकों के बल पर १७५७ में बंगाल पर और १८४९ में पंजाब पर विजय प्राप्त की गई थी, अब उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। मराठा सैनिकों ने भी विद्रोह में भाग लिया था, अतः उनकी वफादारी भी सन्दिग्ध हो चुकी थी। पुरबियों और मराठों को सेना से निकाल कर जब उनका विकल्प ढूँढने का प्रयास किया गया तो उन्हें सिख ही अपने सामने खड़े दिखाई

दिये । सन् ५७ की राज्य क्रांति के दौरान ब्रिटिश सेना में निष्ठावान सिखों की संख्या जिस गति से

बढ़ी वह चौंकाने वाली थी । किन्तु पंजाब के बाहर अनेक रेजीमेंटों के सिख सैनिकों ने क्रांतिकारियों का जो साथ दिया, उसे अंग्रेज सहज ही नहीं भुला सकता था ।

इसी दौरान एक ऐसा व्यक्ति उभर कर सामने आया जिसके निष्कर्षों ने ब्रिटिश प्रशासन और सैनिक व्यूह-रचना को गहराई तक प्रभावित किया । सेना और प्रशासन में ही नहीं, बल्कि पंजाब के सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में इस व्यक्ति ने एक तूफान और हड़कंप सा पैदा कर दिया । यह व्यक्ति था मैकालिफ । मैकालिफ एक व्यक्ति नहीं, एक तूफानी प्रवृत्ति थी, एक विचारधारा थी जिसने सिख मानस को ऐसी गति व दिशा दी कि पंजाब का सिख भारत की मूलधारा से अब तक कटे रहने का आभास समय-समय पर देता रहा है । देश में भिंडरांवाले, जगजीत सिंह चौहान, शाबेग सिंह, भाई अमरीक सिंह आदि यदि अब भी पैदा हो रहे हैं तो इसका कारण यह है कि मैकालिफ का प्रभाव अक्षुण्ण बना हुआ है । मैकालिफ की देन से पूर्व ब्रिटिश सेना में आए एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि इसी के कारण मैकालिफ ने जन्म लिया और प्रसिद्धि पाई ।

नीति-परिवर्तन

पंजाब के सिख सैनिकों की स्वामिभक्ति और पंजाब से बाहर के सिख सैनिकों के विश्वासघात से अंग्रेज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि ब्रिटिश सेना के सिख सैनिकों को हिन्दू प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखा जाए, उनमें एक अलग राष्ट्रीयता का बोध जागृत किया जाए, उनके मज़हबी जोश को उत्तेजना दी जाए, उनमें अन्य भारतीयों की अपेक्षा उच्चता की भावना का संचार किया जाए, तो निश्चय ही यह वर्ग भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के झण्डे दृढ़ता और ईमानदारी से थामे खड़ा रहेगा । अपने इस निष्कर्ष को क्रियान्वित करने के लिए अंग्रेजों ने जो मनोवैज्ञानिक उपाय ढूँढे उनका इतिहास अत्यंत रोचक है । एक अंग्रेज अधिकारी कोम्मा ने 'फोर्टनाइटली रिव्यू' के सितम्बर १९२३ के अंक में प्रकाशित अपने एक लेख में इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा था :

"गदर के तुरंत पश्चात् जब ब्रिटिश सेना में सिखों की अबाध भर्ती का सिलसिला चला तो अधिकारियों ने सिख धर्म की अनेक अच्छाइयों को ढूंढ निकाला । गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा पंथ का गठन करते समय जिन कर्मकाण्डों को अपनाया था, उनका आंख बन्द कर सिख रेजीमेंटों में पालन होने लगा । प्रत्येक सिख सैनिक के साथ ऐसे व्यवहार होने लगा मानो वह एक साधारण किसान की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है । उसे समझाया गया कि हिन्दुओं से उसका किंचित् भी साम्य नहीं है, अतः उसे रेजीमेंट में अपनी मूल जाति को भुला देना चाहिए । प्रत्येक रेजीमेंट को एक ग्रंथी दिया जाता था । उसकी देखरेख में नए रंगरूटों को बड़े गम्भीर वातावरण में विशुद्ध और पुरातन विधि से खालसा पंथ की दीक्षा दी जाती थी । इसी प्रकार पवित्र ग्रंथ साहब के प्रति अत्यधिक श्रद्धा का प्रदर्शन किया जाता था । जब ग्रंथसाहब की सवारी निकलती थी तो सब अंग्रेज सेना अधिकारी 'सावधान' की स्थिति में खड़े होकर ग्रंथ साहब को सलामी देते थे । सिख सैनिकों को वे 'वाहे गुरुजी का खालसा, वाहे गुरुजी की फतह' के उच्चारण से अभिवादन करते थे । परिणामतः जब प्रत्येक सिख सैनिक सेवा निवृत्ति पर अपने गाँव लौटता था तो एक कट्टर सिख बन कर

जाता था और तत्पश्चात् हिन्दू धर्म के स्वच्छन्दशील वातावरण से आवृत होने पर भी वह सिख धर्म की मशाल को प्रज्वलित रखता था।"

ब्रिटिश सरकार की गुप्तचर सेवाओं के सहायक निदेशक मि. डी. पेट्री ने १९११ में इस सम्बंध में जो रिपोर्ट तैयार की थी उसका अध्ययन करने से पता चलता है कि सिख सैनिकों को इस प्रकार कट्टर खालसा बनाने के पीछे मूल उद्देश्य था सिखों में एक अलग राष्ट्रीयता आरोपित करना। रिपोर्ट का मुख्य अंश इस प्रकार है:

"सिखों को भारतीय सेना में बड़ी संख्या में भर्ती करके उनके सैनिक गुणों को उचित मान्यता दी गई है। इस समय अर्थात् १९०२ में १,७४,००० भारतीय सैनिकों में उनकी संख्या ३३,००० है अर्थात् वे कुल संख्या के पंचमांश के लगभग हैं। इस समय सिख धर्म की रक्षा के प्रमुख माध्यमों में सिख रेजीमेंट का नेतृत्व करने वाले-सैनिक अधिकारियों की यह परिपाटी है कि वे नये सिख रंगरूटों को गुरु गोविन्द सिंह द्वारा निर्धारित पाहुल संस्कार से गुजरने के लिए अवश्य भेजते हैं। सिख सैनिकों के लिए आवश्यक होता है कि वे सिख रीतियों व कर्मकाण्डों का सख्ती से पालन करें। मूर्ति-पूजा की छूत से उन्हें अलग रखने का हर सम्भव प्रयास किया जाता है। भारतीय सेना में सिखों का प्रयत्नपूर्वक 'राष्ट्रीयकरण' किया जाता है अर्थात उन्हें बोध कराया जाता है कि वे पूर्णतया भिन्न एक पृथक राष्ट्र हैं। उनके इस 'राष्ट्रीय अभियान' का प्रत्येक सम्भव उपाय से पोषण किया जाता है। सिख रेजीमेंट के ब्रिटिश अधिकारी ग्रंथ साहब को सेल्यूट देते हैं। यह आम धारणा है कि हिन्दू धर्म में वापस जाने और उसके अंधविश्वास व जटिल सामाजिक रिवाजों को दोबारा अपनाने से कोई भी सिख अपनी सैनिक प्रवृतियों को गवां बैठता है और लड़ने वाले यंत्र के रूप में उसका पतन हो जाता है।"

ऐसे वातावरण में दीक्षित-प्रशिक्षित सिख सैनिक जब छुट्टियां लेकर अथवा सेवा-निवृत्त होकर अपने पैतृक गाँव लौटते थे तो वे 'ब्रिटिश सरकार के वफादार नागरिक' की ही भूमिका नहीं निभाते थे, अपितु 'खालसा पंथ' के एक कट्टर रक्षक का दायित्व भी वहन करते थे। उनका परिवार तो कट्टरता के परिवेश में घिरा ही रहता था, समाज में भी उनकी मतांधता अपना रंग जमाये रखती थी। जब ऐसे लोग गुरुद्वारों में पहुँचते थे अथवा सिख समाज की अन्य इकाईयों में जाते थे तो वहां भी अपनी कट्टरता, मतांधता, अलगावपन और बनावटी श्रेष्ठता का प्रभाव अंकित करना चाहते थे। इसका परिणाम आने वाले समय में यह निकला कि सिख समुदाय में कुछ ऐसे उग्रवादी संगठनों ने जन्म लिया जो आज तक भारत की राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भाव, सामाजिक भ्रातृत्व और सांस्कृतिक सौजन्य को पलीता लगाते आ रहे हैं। इन उग्रवादी संगठनों का पोषण पहले अंग्रेज चिन्तक करते रहे और आज दलगत राजनीति कर रही है।

मैकालिफ की माया

मैकालिफ आई. सी. एस. अंग्रेज अधिकारी था जो १८९३ में डिस्ट्रिक्ट जज के पद से त्याग-पत्र देकर सिख धर्म का इतिहास लिखने बैठा था। वैसे १८८२ से ही सिख इतिहास के अध्ययन में वह रुचि लेने लगा था। अपने को पूर्णतया समर्पित कर अत्यंत मनोयोग से उसने 'सिख धर्म' नामक ग्रंथ लिखा जो १९०९ में छह खण्डों में आक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ। सिख बुद्धिजीवी इसे सिख धर्म के इतिहास का सर्वश्रेष्ठ शोध-ग्रंथ मानते हैं और इसका अत्यंत आदर करते हैं।

मैकालिफ ने अपने समकालीन सिख विद्वानों का भरपूर सहयोग लिया। इस ग्रंथ में उन्हें उस समय के सर्वाधिक चर्चित सिख विद्वान् काहन सिंह नाभा की अमूल्य सेवाएँ मिलीं। ये काहन सिंह वही हैं जिन्होंने मैकालिफ की उक्त पुस्तक से पूर्व ही १८७८ में **'हम हिन्दू नहीं'** नामक ग्रंथ लिख कर हिन्दू-सिखों में फूट के बीज बोये थे। यह पुस्तक सिख समुदाय में इतनी लोकप्रिय हुई कि वह आज भी पृथकतावादी सिखों के लिए बाईबल बनी हुई है।

काहन सिंह मैकालिफ का इतना विश्वासपात्र और प्रिय रहा है कि मैकालिफ ने अपने उक्त बृहद् ग्रंथ का कापीराइट और रायल्टी की वसीयत काहनसिंह के नाम कर दी थी। मैकालिफ और काहनसिंह के इन मधुर सम्बंधों को देखते हुए समझा जा सकता है कि **'हम हिन्दू नहीं'** और **'सिख धर्म'** नामक पुस्तकों में कितना साम्य रहा होगा। वस्तुतः मैकालिफ का ग्रंथ काहनसिंह की पुस्तक का बृहद् संस्करण और उसकी व्याख्या में लिखा गया एक मीमांसा ग्रंथ ही है।

यहाँ यह जान लेना रुचिकर होगा कि मैकालिफ से पहले इंडिया आफिस की ओर से डाक्टर ट्रम्प नामक जर्मन मिशनरी को सिख धर्म का अध्ययन करने और गुरुग्रन्थ साहब का अंग्रेजी में अनुवाद करने का दायित्व सौंपा गया था। उसने ईमानदारी से अपने दायित्व को निभाया। किन्तु उसने जो निष्कर्ष निकाले, वे चौंकाने वाले थे और उनसे सिख समाज द्वारा अपनाई गई कई परम्पराओं का खण्डन होता था। यद्यपि ट्रम्प ने अपनी बात सप्रमाण कही थी, किन्तु उससे सिखों के श्रद्धालु मनों को चोट लगी और उन्होंने उसके कार्य के प्रति क्षोभ प्रकट किया। सिखों ने उन पर ग्रन्थ साहब की अवमानना का आरोप लगाया। सिख भावना को पहुँची इस ठेस को अंग्रेजों ने महसूस किया। अपने वफादार वर्ग को राहत पहुँचाने तथा खुश करने के लिए उन्हें ऐसे व्यक्ति की तलाश थी जो उनकी इच्छानुसार इस काम को सम्पन्न कर सके। तब इस काम के लिए इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य मैक्स आर्थर मैकालिफ को सर्विस से त्याग-पत्र दिलवा कर इस काम के लिए नियुक्त किया गया।

ग्रंथ-लेखन में मैकालिफ का जो दृष्टिकोण रहा उसे इस पुस्तक के निम्नलिखित अंशों को देख कर आसानी से समझा जा सकता है:

१. "हिन्दुत्व ने सिख मत को अपनी चपेट में ले लिया है, तुलनात्मक दृष्टि से नया सिख मत अपनी सुरक्षा के लिए भारी जोर लगा रहा है, परन्तु यदि सरकार इसे सहायता न दे, तो इसका सर्वनाश सन्निकट है।"

(भूमिका पृ. ५७)

२. "जैसे सरकारी सहायता के अभाव में बौद्ध-धर्म भारत में पूर्णतया नष्ट हो गया, वैसे ही यदि सरकार सहायता न करे तो सिख-धर्म के भी भारत के मतमतांतरों के जगड्वाल में लुप्त हो जाने की आशंका है।"

(भूमिका पृ. ५७)

३. वास्तव में हिन्दू-धर्म की ताकत और जीवनी शक्ति अद्भुत है ... इसी भाँति अनेक शताब्दी पूर्व हिन्दू-धर्म ने अपने देश में उत्पन्न बौद्ध-धर्म को समाप्त किया ..... इसी ढंग से हिन्दू धर्म ने उत्तरी भारत के सीथियन आक्रमणकारियों के धर्म को आत्मसात् किया, इसी प्रकार इसने अशिक्षित मुसलमानों के दीन को नीम-बुतपरस्त सम्प्रदाय में बदल दिया और इसी विधि से यह बाबा नानक द्वारा संशोधित आश्चर्यजनक धर्म को निगल रहा है। मुझे विश्वास है कि जब रोशन-दिमाग शासक सिख धर्म के गुणों से परिचित हो जायेंगे तो वे इसे हिन्दू-धर्म रूपी खाई में, जिसने पहले अनेक धर्मों को निगल लिया है, खुशी से नष्ट नहीं होने देंगे।

(भूमिका पृ. ५८)

४. "हमारे समय में सिख धर्म की रक्षा करने के लिए सिख पल्टनों के अफसर अपने सिख रंगरूटों को गुरु गोविन्द सिंह की आज्ञानुसार पाहुल छकने के लिए भेज देते हैं, साथ ही वे यह प्रयास करते हैं कि ये अमृतधारी जवान मूर्ति-पूजकों के सम्पर्क से बचने के लिए अपने भावी जीवन में उनसे अलग ही रहा करें। यद्यपि ऐसा करने से सरकार की धर्मनिरपेक्ष नीति का खण्डन एवं अवहेलना होती है तथापि सैनिक अधिकारी व्यावहारिक रूप में सिख-धर्म के सरपरस्त और निगहबान बन गए हैं।" (भूमिका, पृ. २५)

उपर्युक्त अंशों से स्पष्ट है कि मैकालिफ सिखों को हिन्दू-धर्म रूपी आग से सावधान कर उनके दिलों को हिन्दुओं से दूर रहने की चेतावनी दे रहा है। वह सिखों को यह विश्वास दिलाकर कि ब्रिटिश सत्ता उनके धर्म की रक्षक है, सिखों में अंग्रेजों के प्रति वफादार रहने की भावना पैदा कर रहा है। इतिहास में प्रक्षिप्त अंश मिलाकर, ऐतिहासिक घटनाओं की मनमानी व्याख्या करके, मैकालिफ ने सिख-मानस को ऐसा भ्रमित किया है कि उस समय के दिग्गज सिख विद्वानों ने भी उसे चुपचाप सहन करके अपना मौन समर्थन दे दिया। उनके लिए शायद महत्वपूर्ण यह नहीं था कि पुस्तक में क्या कुछ भरा हुआ है, बल्कि यह था कि सिख धर्म पर एक अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने कलम उठाई है और यह ग्रंथ-रत्न छह जिल्दों में, अंग्रेजी में, आक्सफोर्ड में छपा है। गुलाम भारत का न सही, क्या आज़ाद भारत का सिख बुद्धिजीवी मैकालिफ के एक निबंध–"सिख लोग लड़ाकू कैसे बने?" के निम्नलिखित अंशों की ऐतिहासिकता व सच्चाई पर कुछ प्रकाश डालने की स्थिति में है?–

"आनन्दपुर को लेकर जब पहाड़ी राज्यों के राजा और मुगल आपस में मिल गए तो किसी ने गुरु (गोविन्द सिंह) से पूछा–"हिन्दुओं और मुसलमानों की इतनी बड़ी संख्या के विरुद्ध मुट्ठी भर सिख कैसे टिक पायेंगे?" इस पर गुरु ने उत्तर दिया–

जो अकाल पुरुष की मर्जी है, वही होगा। जब तुर्क सेना आएगी। ... मेरे सिख वार पर वार करेंगे। तब खालसा जागेगा और लड़ाई के खेल को समझेगा। शस्त्रों की झंकार के बीच खालसा वर्तमान और भावी आनन्द, शांति, ध्यान एवं दिव्य ज्ञान में सहभागी बनेगा। तब अंग्रेज आएगा और खालसा के साथ मिलकर पूरब और पश्चिम सब तरफ राज करेगा। पवित्र बाबा नानक सब प्रकार का वैभव उन्हें प्रदान करेंगे। अंग्रेजों के पास बहुत ताकत होगी और वे तलवार के बल पर अनेक राज्यों पर कब्जा करेंगे। अंग्रेजों और सिखों की संयुक्त सेनाओं की ताकत बहुत होगी। जब तक वे मिल कर रहेंगे, अंग्रेजों के राज्य का खूब विस्तार होगा और उन्हें हर प्रकार की समृद्धि प्राप्त होगी। जहां कहीं अपनी फौज ले जायेंगे, वे विजय प्राप्त करेंगे और अपने अधीनस्थों को गद्दी सौंपेंगे। तब प्रत्येक घर में दौलत होगी, हर घर में सुख, धर्म व विद्या होगी और हर घर में औरत होगी।"

इस अनर्गल लेख को पढ़कर उन लुभावनी बातों का स्मरण सहज में हो आता है जिन्हें मुहम्मद साहब मुसलमानों को मैदाने जंग में भेजते समय अक्सर कहा करते थे कि जंग में साथ देने पर यह सबाब मिलेगा, बहिश्त में ये चीजें भोगने को मिलेंगी। इस लेख में तो मैकालिफ ने सिखों के लिए यहीं बहिश्त उतार दिया है, बशर्ते कि वे अंग्रेजों के वफादार, जी-हुजूर और फ़रमाबरदार बने रहें।

उक्त प्रकार की एक अन्य भविष्यवाणी गुरु तेग बहादुर के मुख से कहलवाई गई जिसका आशय था कि खालसा राज के बाद टोप वाले (अंग्रेज) का राज आएगा जो सिखों को बरकत, खुशहाली और इज्जत बख्शेगा। कोम्भा ने माना है कि किसी चापलूस लेखक ने १८४६ में पंजाब में अंग्रेजों की पहली विजय के दौरान यह भविष्यवाणी प्रक्षेपित की है।

किन्तु देखने में आया है कि ब्रिटिश-हितों के संरक्षक सिख नेता इस भविष्यवाणी का अनेक

अवसरों पर दोहराते रहे हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में जब ब्रिटिश सेना में सिखों की अधिकाधिक भर्ती करने का प्रश्न उठा, तो स्वर्ण मन्दिर के मैनेजर सरदार अरुड़ सिंह ने सितम्बर १९१४ में इस भविष्यवाणी का सहारा लेकर अंग्रेजों की मदद करने और सेना में भर्ती होने के लिए सिखों को उत्साहित किया था।

मैकालिफ का प्रभाव

अब यद्यपि स्थिति बदल चुकी है, ऐतिहासिक मान्यताएं नए अर्थ ग्रहण कर रही हैं, इतिहास को निरपेक्ष दृष्टि से देखने-परखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, किन्तु कैसी विडम्बना है कि सिख मानस आज भी मैकालिफ के निष्कर्षों से जोंक की तरह चिपटा हुआ है। मैकालिफ के समकालीन ट्रम्प तथा मैकनिकाल अपनी पुस्तकों में इस सत्य को चरितार्थ कर रहे थे कि गुरु गोविन्द सिंह सिख धर्म के केन्द्र में हिन्दू रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा निश्चयों को लाये और उन्होंने सिख-हिन्दू का भेद मिटा दिया। किन्तु पृथकतावाद के सार्थवाह इन पर ध्यान न देकर मैल्कम, कनिघंम और मैकालिफ को विशेष रुचि से पढ़ते रहे। इसका फल यह निकल रहा है कि आज का सिख मानस भी हिन्दू से उतना ही दूर है जितना कि मैकालिफ के समय में था। डा. शेर सिंह के निम्नलिखित विचार ऐसा ही आभास देते हैं:

"हिन्दू धर्म जैसा कि ऐतिहासिक घटनाओं से ज्ञात होता है, बड़ी शालीनता तथा धीमी रुचि वाला दूरदर्शी संगठन है। किसी नए धर्म अथवा मत को पहले तो सहन किये जाएगा और फिर यदि नए धर्म वाले बहुत सावधान न रहें, तो उस मत को अपनाया भी जाएगा तथा अन्त में वह मत हिन्दू धर्म रूपी महान् सागर में लुप्त हो जाएगा। डाक्टर बैटी रायमन के कथनानुसार यह हिन्दू धर्म की समाविष्ट करने वाली संग्राहक शक्ति है, हिन्दू धर्म का यह महान् गुण है । सैंकड़ों मत उत्पन्न हुए, पर्याप्त प्रयत्न करने पर भी अन्त में वे लुप्त हो गए। प्राचीन भारतवासियों के विश्वास और निश्चय अलग अथवा शुद्ध रूप में कहीं भी देखने में नहीं आते।

"भारत में बौद्ध-मत के साथ भी धीरे-धीरे ऐसा ही हो रहा है। और तो और, वे धर्म तथा मत जो भारत से बाहर उत्पन्न हुए तथा फले-फूले, जब भारत में आए तो हिन्दू धर्म के रंग में रंगे जाने से बच न पाए। क्या पता, समय पाकर वे भी हिन्दू धर्म की शाखाएं बन जाएं। भारतीय इस्लाम, भारतीय ईसाई धर्म, भारतीय पारसियों के विश्वास एवं रहन-सहन देखें तो यह आश्चर्यपूर्ण विलीनता तथा प्रभावशाली शक्ति स्पष्ट हो जाएगी। दशमेश जी के पश्चात शीघ्र ही सिखों पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। उस समय से लेकर अब तक सिख अपने जीवन-संग्राम में ही जूझ रहे हैं। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह पड़ा कि वे सैद्धांतिक पक्ष को भली प्रकार से अलग नहीं कर पाये और अपने सिक्खी जीवन का दार्शनिक आधार पाने में असमर्थ रहे हैं।"

(गुरुमत दर्शन, पृ. २१-२३)

डा. शेर सिंह सर ए. सी. लायल की पुस्तक 'एशियाटिक स्टडीज' के पृ. १४४ पर प्रकाशित इन शब्दों को उद्धृत करते हुए– "सिख जैसे-जैसे राजनैतिक तथा व्यावहारिक जीवन में आगे बढ़ रहे हैं वैसे-वैसे वे अपने आप को हिन्दुओं से अलग करने के लिए कम प्रयत्न करते हैं" – अपनी चिन्ता

और व्यथा प्रकट करते हैं और सिख समाज का आह्वान करते हैं कि वे हिन्दू समाज से अपेक्षित दूरी व अलग पहचान बनाए रखें।

(गुरूमत दर्शन, पृ. २२)

महाराजा रणजीत सिंह ने सम्प्रदाय निरपेक्षतावादी जीवन दर्शन का पालन कर जिन उदात्त सिद्धान्तों की स्थापना की, कट्टरवादी सिखों को वह कभी रास नहीं आया। कहने को वे 'खालसा राज' के आधार पर अपने को परम्परागत शासक मानते हैं और इसी कारण 'खालिस्तान' की मांग उठाते हैं। किन्तु हकीकत यह है कि वे महाराजा रणजीत सिंह को भी सच्चा सिख मानते ही नहीं। उनकी दृष्टि में सच्चा सिख वही हो सकता है जो अपनी जन्मदात्री जाति से पृथक् रहे उसे अछूत समझे और उससे उतनी ही दूरी बनाए रखे जितनी हिन्दू और मुसलमान या ईसाई व यहूदी के बीच रहती है। तथाकथित 'खालसा राज' के संस्थापक महाराज रणजीत सिंह के प्रति सिख मानस में कितनी संकीर्णता भरी हुई है इसका संकेत डा. शेर सिंह के इन शब्दों से भली भाँति मिल जाता है:

"महाराजा रणजीत सिंह और अन्य सिख राजाओं तथा सरदारों का जीवन बहुधा हिन्दू सांचे में ही ढला हुआ है। वे अपने कार्य-व्यवहार के समय ऐसे संस्कार तथा रीति-रिवाज अपनाते थे जो या तो वास्तव में हिन्दू थे और बाद में उन्हें सिख धर्म का जामा पहनाया गया अथवा रूप दिया गया। वे प्रारम्भ में शुद्ध रूप में ही सिख थे तथा समय पाकर अब हिन्दू रंग में रंग गए थे। ... गुरुद्वारों के लिए जागीरें, जमीनें संगमरमर तथा राजसी शामियाने आदि जुटाना या प्रबंध करना उनके (रणजीत सिंह के) विचारों में सिख धर्म के प्रचार का मुख्य साधन था। ... उन्हें धार्मिक क्षेत्र में सिखों का अशोक और मुसलमानों का औरंगजेब कहकर कभी स्मरण नहीं किया जाएगा।

(गुरुमत-दर्शन, पृ. २१-२३)

मैकालिफ के मानस-पुत्र

कैसा आश्चर्य है कि सिखों पर हिन्दू प्रभाव को लेकर तो सिख विचारक तूफान खड़ा करते हैं किन्तु सिखों पर मुस्लिम व ईसाइयों के प्रभाव को लेकर कोई बात नहीं उठती। इसका कारण यह है कि अपने अंग्रेज आका मैकालिफ के मानस-पुत्र बन कर वे अपने मूल धर्म व जाति से पृथक् होने को छटपटा रहे हैं और एक अलग पहचान स्थापित कर धरातल पर 'खालिस्तान' को उतारना चाहते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि आज जो पृथकतावादी सिख बुद्धिजीवी रणजीत सिंह को हिन्दू धर्म से प्रभावित होने के कारण कोस रहे हैं, कल वे गुरु गोविन्द सिंह के प्रति भी हीन शब्द न कह बैठें! गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा सजा कर सिखों को एक अलग पहचान दी, किन्तु इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि उन्होंने यह पहचान हिन्दू की कोख से ही दी है। आज जो गर्भ से ही खालसा बन रहे हैं उनकी वकालत गुरु गोविन्द सिंह नहीं करते। सच्चा खालसा वह है जो वयस्क होने पर, स्वेच्छा से, समर्पित भाव से अमृत-पान करके केशधारी बनता है। आज जो जन्म से अ-संस्कारी खालसा बन रहे हैं, उस परम्परा का गोविन्द-दर्शन में कहीं नामोल्लेख नहीं है। खालसा को एक पृथक् जाति बनाने का विचार गुरु गोविन्द सिंह का नहीं है, बाद में मनमानी करने और गुरु-दर्शन को न समझने का परिणाम है। यदि गुरुश्री का विचार एक पृथक् खालसा जाति बनाने का होता तो वे न तो हिन्दुओं में ज्येष्ठ संतान को केशधारी बनाने की परम्परा का श्रीगणेश करते, न मात्र वयस्क को ही अमृत-पान करने की रीति चलाते, न ही सहजधारी व केशधारी में वैवाहिक संम्बंध स्थापित करने का समर्थन

करते और न ही गुरुद्वारों को साझा उपासना-गृह बनाते।

दूसरे, गुरु गोविन्द सिंह उतने कट्टर, संकीर्ण और साम्प्रदायिक कभी नहीं रहे जितने आज के तथाकथित सिख पृथक्तावादी उन्हें चित्रित कर रहे हैं। सिख गुरुओं में वे पहले गुरु थे जिनकी साक्षरता सर्वाधिक थी। जिन्होंने खुले दिमाग से अपने देश के प्राचीन इतिहास, धर्म और दर्शन का अवगाहन किया था, और जिन्होंने पहली बार सिख धर्म को पंथिक बंधन से मुक्त कर एक विशाल फलक पर, एक नया आयाम देकर प्रतिष्ठित किया था। मजहबी कट्टरता और संकीर्णता को दूर करने, अलगाव की भावना को खत्म करने और अपनी जन्म-भूमि तथा जन्म-जाति के उद्धार के लिए ही उन्होंने अपने १९ सहयोगियों को काशी जाकर वेद-वेदांत, दर्शन तथा धर्म शास्त्रों का गहन अध्ययन करने का आदेश दिया था। यही प्रचारक बाद में 'निरमले' कहलाए और इन्हीं से सिख-धर्म में एक ऐसी धारा प्रवाहित हुई जिसे आज के सिख विचारक सिख-धर्म पर हिन्दू प्रभाव कहकर ठुकरा रहे हैं। ऐसा करके वे गुरु गोविन्द सिंह का सम्मान कर रहे हैं या अपमान, इस प्रश्न को हम उन्हीं पर छोड़ते हैं।

मैकालिफ के प्रभाव का उक्त पंक्तियाँ संकेत मात्र देती हैं। अन्यथा सुशिक्षित सिखों के हृदय और मस्तिष्क पर उनका दूरगामी गहरा असर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मैकालिफ ने सिख-धर्म और इतिहास को वैसा निखार दिया जैसा कि श्रद्धालु सिख चाहते थे। किन्तु इस कृपा के लिए उसने सिखों से कितनी भारी कीमत वसूल की, इसका सहज अनुमान लगा पाना कठिन है। इस कृपा की आड़ में मैकालिफ ने ऐसे तत्वों का सिक्खी जीवन में आरोपण किया कि वे जान ही नहीं सके कि कब वे अपनी मातृभूमि से कट गए हैं और अपनी जन्मदात्री जाति से विमुख हो गए हैं। अपने हितों के लिए सिखों को अपने पक्ष में करने के लिए ब्रिटिश-कूटनीति जो खेल अत्यंत सावधानी और गुप्त ढंग से खेल रही थी, मैकालिफ उसकी प्रखर और मुखर अभिव्यक्ति मात्र था। सिखों को एक वफादार कौम बनाने और पंजाब की राजनीति में उनको अंग्रेजों का हस्तक बनाने के लिए मैकालिफ ने यह आवश्यक समझा कि सिखों की प्रवृत्ति बदल दी जाए। इस दुःसाध्य कार्य को करने के लिए सिख धर्म, सिख इतिहास, सिख कौम की अतिरंजित प्रशंसा करके मैकालिफ ने पहले तो सिखों में अपनी विश्वसनीयता का सुदृढ़ आधार तैयार किया और बाद में ऐतिहासिक घटनाओं तथा सिख मत के सिद्धान्तों के मनमाने अर्थ निकाल कर सिखों में यह अहसास पैदा किया कि उनका अस्तित्व हिन्दूधारा से विलग रहकर ही टिक सकता है और इस स्थिति को प्राप्त कराने में ब्रिटिश सत्ता उनकी पीठ पर खड़ी है।

सुविधाभोगी सिख बुद्धिजीवियों ने इस स्थिति को अपने लिए स्वर्ण अवसर समझा और मैकालिफ के स्वप्न को साकार करने के लिए **'श्री गुरु सिंह सभा'** और **'चीफ खालसा दीवान'** ने महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई। यह मैकालिफ बनाम अंग्रेज कूटनीति का ही परिणाम था कि इन दो उग्रवादी संगठनों के सामने 'नामधारी आन्दोलन' और 'निरंकारी आन्दोलन' पंजाब में अपनी जड़ें अधिक गहरी न जमा सके। 'नामधारी आन्दोलन' के तेवर तो क्योंकि अंग्रेज हितों के विरुद्ध पड़ते थे, अतः इसे दबाने के लिए सरकार और उसके सिख हस्तकों ने मिल कर षड़यंत्र रचा। इस कालखण्ड में गुरुद्वारों पर ही अंग्रेजों का वर्चस्व नहीं था, अपितु शिक्षा केन्द्रों में भी उनका बोलबाला था। विशेषतः खालसा कालेज अमृतसर के विद्यार्थी वहां से कट्टर सिख बनकर निकलते थे और जीवन भर मैकालिफ के जीवन-दर्शन का प्रचार करते रहते थे। जिस प्रकार मुसलमानों को अंग्रेज भक्त

बनाए रखने के लिए अलीगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापना की गई, उसी प्रकार खालसा कालेज अमृतसर की स्थापना की गई।

इस परिवर्तन को कुछ समझदार लोग महसूस अवश्य करते थे, किन्तु उनसे कुछ करते नहीं बन रहा था। डा. धर्मानंत सिंह एम. ए., पी. एच. डी. ने अपनी पुस्तक "वैदिक गुरमति" में सन् १९०२ के उदाहरण द्वारा समझाया है कि कैसे मैकालिफ के प्रचार से प्रभावित कुछ नौजवान सिख विद्यार्थियों ने रावलपिण्डी में महात्मा चिदानन्द देव द्वारा सुखमनी साहब १-१ और २४-७ की हो रही व्याख्या का विरोध कर इन पदों में आये वेद, स्मृति आदि शब्दों का मनमाना अर्थ निकाल कर यह सिद्ध करना चाहा कि इन शब्दों का तात्पर्य हिन्दुओं के वेदों व स्मृतियों से नहीं है और न ही हमारे गुरु वेदभक्त थे। इस अवसर पर महात्मा जी ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुओं में दुविधा की कष्टदायक अंधेरी झूलने वाली है, सिखों को हिन्दुओं से अलग करने वाले ऐसे प्रबल कारण पैदा हो रहे हैं कि उन्हें रोकना दुःसाध्य ही नहीं, अपितु असम्भव है। बड़ा खतरा यह है कि इस अंधेरी में विद्वानों के प्रज्ञा चक्षुओं में स्वार्थ की धूल झोंकी जानी है और उनके महापुरुषों की वाणी के अर्थ नहीं, अनर्थ करने हैं।"

(वैदिक गुरमति पृ. ५-७)

यह भविष्यवाणी आज कितनी सही सिद्ध हो रही है, गुरु सिंह सभा, चीफ खालसा दीवान, अकाली आन्दोलन और आतंकवादियों के सन्दर्भ में इसे देखा-परखा जा सकता है। मैकालिफ ने ऐसी आधार-भूमि तैयार की जिस पर सिख बुद्धिजीवी वर्ग का मानसिक कायाकल्प हुआ और उसने ऐसा साहित्य तैयार किया, ऐसी परम्पराएं विकसित कीं जिनसे सिखों में अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता के भाव उत्पन्न हुए, अंग्रेजों की दासता स्वीकार करने में उन्हें संतोष अनुभव हुआ, धार्मिक कट्टरता ने जन्म लिया, हिन्दुओं से पृथक् होने की प्रवृत्ति पैदा हुई और एक अलग खालसा राज स्थापित करने की उत्कंठा ने जन्म लिया। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान, जबकि समूचा भारत धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक एकता और राष्ट्रीय अखंडता की ओर अग्रसर था, तब भी यह वर्ग अलगाव का परचम उठाये रहा।

पंजाब में आज नाखून माँस से जो जुदा हो रहे हैं वह मैकालिफ द्वारा प्रदत्त एवं आरोपित जीवन-मूल्यों का ही चमत्कार है। मैकालिफ ने सिख बुद्धिजीवियों के भीतर यह काल्पनिक भय पैदा करके कि हिन्दू धर्म उनकी पहचान को निगल रहा है, उनके भीतर जरूरत से ज्यादा भ्रांति और सतर्कता का बीजारोपण किया। सिख बुद्धिजीवी ने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि जब आर्य समाजियों, जैनियों, पारसियों तआ अन्य धर्मावलम्बियों की अपनी पहचान विलुप्त होने का कोई खतरा कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा, तो सिखों को ही यह भय क्यों सता रहा है ? और यदि यह खतरा कल्पना नहीं एक वास्तविकता ही थी, तो भी सिखों में हिन्दुओं से अलग रहने का विचार क्यों कर पैदा हुआ जबकि गुरु गोविन्द सिंह पहले ही एकता का महामन्त्र देते हुए कह गए थे:

सकल ज़गत् में खालसा पंथ गाजे।
जगे धर्म हिन्दू, सकल भंड भाजे॥

ख़ालसा विजय में हिन्दू-धर्म-रक्षण का यह उदात्त विचार गुरु गोविन्द सिंह के जीवन-दर्शन का सार था जिसे अपने गर्हित आचरण से अलगाववादी एवं उग्रवादी सिखों ने मटियामेट कर दिया। मैकालिफ की माया के आगे आज दशमेश पिता भी अवश, असहाय एवं किंकर्तव्यविमूढ़ से नजर

आते हैं। स्थिति इतनी बिगड़ चुकी है कि गुरु-वाणी की दुहाई देकर भी सिखों की आदिम भूख को न मिटाया जा सकता है और न ही उनकी भटकी हुई आस्था को सन्मार्ग पर आरूढ़ करना सम्भव रहा है। अपने मूल से कटकर कोई वृक्ष कितने दिन तक हरा रह सकता है, कितने दिन तक फूल और फल दे सकता है ? समझदार एवं प्रभावशाली सिख इस दिशा में सोचें और कुछ करें तो मैकालिफ की माया के प्रति व्यामोह को भंग करना असाध्य नहीं, कठिन चाहे हो।

७ एक स्वर्णिम पृष्ठ : राष्ट्र भक्त कूका

१८५७ में जब भारत अंग्रेजी दासता की कब्र खोदने के लिए छटपटा रहा था, पंजाब की शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि में एक नया बीज अंकुरित हो रहा था।

आगे चल कर यह बीज 'नामधारी' संगठन के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। यों तो यह संगठन काफी पुराना था किन्तु बदलते सन्दर्भ को सही अभिव्यक्ति देने का श्रेय बाबा रामसिंह को जाता है जिन्होंने महाराजा रणजीत सिंह की सेना में रहते अंग्रेजों द्वारा स्वाधीनता का निर्मम अपहरण होते हुए देखा था।

इस बीभत्स काण्ड का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि खालसा राज का पतन धार्मिक एवं राजनैतिक नेतृत्व की विसंगतियों; भ्रष्टता और दौर्बल्य के कारण हुआ है और इसका प्रभाव सामान्य जनता को भी अपने में लपेटता जा रहा है।

इस स्थिति से निपटने के लिए बाबा रामसिंह ने न तो खालसा पंथ की कट्टरता का स्पर्श किया और न हिन्दू धर्म के अंधविश्वासों से नाता जोड़ा।

अस्पृश्यता के वे घोर विरोधी थे, किन्तु खान-पान में स्वच्छता के समर्थक थे। मूर्ति-पूजा, कब्रपरस्ती तथा अन्य कर्मकाण्डों का जहाँ उन्होंने खण्डन किया, वहाँ गो-रक्षा और हवन का मण्डन किया। धूम्रपान-मदिरापान-मांसाहार-विलासिता और व्यभिचार जैसी चारित्रिक पतन की बातों को त्यागने का उन्होंने उपदेश दिया। उन्होंने खर्चीले विवाहों का निषेध और विधवा विवाह का समर्थन किया। उन्होंने मन्दिरों और गुरुद्वारों में पनप रहे गुरुडम को रोकने का प्रयास किया। अंग्रेजी शासन की स्थापना पर उन्होंने स्वाधीनता की अलख जगाते हुए विदेशी डाक-व्यवस्था, विदेशी शिक्षा-पद्धति, विदेशी सरकार की नौकरी, विदेशी-न्यायालयों का बहिष्कार करने की प्रेरणा दी।

इन बातों का सहज परिणाम यह निकला कि हजारों लोग उनके अनुयायी बन गए जो 'कूका' कहलाए। बाबा रामसिंह इतने लोकप्रिय हुए कि उनके गुरु बाबा बालक सिंह को उनके अनुयायी ग्यारहवाँ गुरु और स्वयं उन्हें बारहवाँ गुरु मानने लगे।

बाबा रामसिंह की इस बढ़ती लोकप्रियता से चिढ़ कर उनके कुछ विरोधी, जो कि पौराणिकता के अलम्बरदार थे, सरकार के कान भरने लगे। उन्होंने प्रचार किया कि कूका आन्दोलन ब्रिटिश-साम्राज्य के विरुद्ध एक गहरा षड्यंत्र है।

कुछ उत्साही कूका और बेरोजगार सैनिक जो इस आन्दोलन में कूद पड़े थे, वे कभी-कभी

अपने दीवानों में सरकार विरोधी भाषण दे देते थे। इंसपेक्टर जनरल पुलिस की २८ जून १८६३ की एक रिपोर्ट पर टिप्पणी देते हुए सरकार के सचिव टी. डी. फोरसाइथ ने ३० जून को लिखा था कि बाबा रामसिंह की बातें निर्दोष और अच्छी हैं किन्तु उनके नाम पर ऐसी बातें फैलाई जा रही हैं जो सरकार के विरुद्ध जाती हैं। भाई रामसिंह के इरादे कुछ भी हों, किन्तु उनके दीवानों में दिए गए उपदेशों ने लोगों के मन हिला दिये हैं और आगामी दीवाली पर उपद्रव होने का खतरा है, अतः उन्हें नजरबन्द कर दिया जाए और उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखी जाए।

बाबा रामसिंह की नजरबन्दी के दौरान उनके जोशीले अनुयायियों ने गुस्से में आकर फिरोजपुर, लुधियाना, स्यालकोट, गुजराँवाला व होश्यारपुर में बनी अनेक बुजुर्गों की समाधियाँ, पीरों की कब्रें और खानगाहें, गूगे की मढ़ियाँ और मन्दिरों की बाहरी मूर्तियाँ तोड़-फोड़ कर साफ कर दीं। इस अपराध में अनेक कूके दण्डित हुए। चूँकि यह मामला धार्मिक था, अतः सरकार ने सख्ती बरतना उचित नहीं समझा।

इसी दौरान कुछ कूके देशी राजाओं की फौज में भरती हो गए और अमृतसर, रामकोट आदि स्थानों पर उन्होंने उन कसाइयों को मार डाला जो खुले आम गोवध करते थे। सन् १८७० में बाबा रामसिंह ने अपने दूत नेपाल, अवध, हैदराबाद और अन्य रियासतों में भी भेजे, जिसके कारण का पता तो न चला, पर सरकार के कान खड़े हो गए।

१८४९ में सरकार ने गोवध पर लगा प्रतिबंध उठा लिया था जिससे जनता में रोष था। १४ जून १८७० को स्वर्ण मन्दिर के पास स्थित एक बूचड़खाने पर हमला करके कूकाओं ने चार कसाइयों को मार डाला। १४-१५ जनवरी को १८७१ को मलौट व मलेरकोटला के बूचड़खाने पर आक्रमण किया गया। ऐसा ही हमला १६ जुलाई १८७१ को रामकोट के कसाइयों पर हुआ जिसमें तीन कसाई मारे गए। मलेरकोटला व मलौट के ४७ अपराधी कूकाओं को बिना उन पर मुकदमा चलाए तोप के मुँह पर बाँध कर उड़ा दिया गया।

परन्तु इन राष्ट्र भक्त कूकाओं ने जिस बहादुरी से अपना बलिदान दिया वह धर्म और राष्ट्र के इतिहास में अभूतपूर्व है।

कसाइयों की हत्या करने वाले इन गोभक्तों का पुलिस पता नहीं लगा सकी। परन्तु उन्होंने कानून का उल्लंघन किया था और हिंसा की थी,इसलिए गुरु रामसिंह ने भरी संगत में हत्या करने वालों से धर्म के नाम पर अपील की कि जिन्होंने हत्या की है, वे स्वयं खड़े होकर अपना अपराध कबूल करें और फिर सरकार के सामने आत्म-समर्पण करें।

अपने गुरु के प्रति निष्ठा कहिए, धर्म के सही स्वरुप के प्रति आस्था कहिए–एक एक करके कसाइयों की हत्या करने वाले भक्तजन खड़े होते गए और बाद में उन्होंने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया।

कोई आक्रोश नहीं, कोई प्रतिरोध नहीं, कोई शिकायत नहीं।

बारी-बारी से तोप से बांध कर उन्हें उड़ा दिया गया।

इन अनाम शहीदों का बलिदान क्या गुरु अर्जुनदेव और गुरु तेगबहादुर के बलिदान से किसी भी प्रकार कम है?

पर अंग्रेज-भक्ति की सिख मानसिकता ने कभी इन बलिदानों को गौरव से मंडित नहीं करने दिया। बल्कि बाद में ऐसे सिख भी पैदा हो गए जो गायों के सिर काट कर मंदिरों में फेंकने लगे।

कहाँ ये बलिदानी, साहसी गोभक्त और राष्ट्रभक्त कूके, कहाँ भिंडरांवाले के डरपोक

अनुयायी – जो अपराध करके अकाल तख्त में जाकर छिप जाते थे।

और फिर कहाँ भिंडरांवाले और कहाँ रामसिंह!!

बाबा रामसिंह इस प्रकार बूचड़खाने तोड़ने के विरुद्ध थे किन्तु लगता है उनके आन्दोलन को बदनाम करने और सरकार को उनके विरुद्ध भड़काने के लिए कुछ अवसरवादी शरारती तत्व कूकाओं में आ मिले थे। बाबा निर्दोष थे, किन्तु उनके डेरे की तलाशी ली गई। वहाँ कोई आपत्तिजनक चीज नहीं मिली। किन्तु फिर भी उन्हें गिरफ्तार कर इलाहाबाद और वहाँ से रंगून भेज दिया गया, जहाँ १८ नवम्बर १८८४ को उनका देहान्त हो गया।

इतिहास के इस स्वर्णिम पृष्ठ के सम्बन्ध में 'हिन्दुस्तान' (२९-८-८३) में बाला दुबे ने लिखा है:

"द्वितीय सिख युद्ध के बाद ही अंग्रेज अपनी असलियत पर आने लगे थे। गायें धड़ाधड़ काटी ही नहीं जा रही थी बल्कि उनका मांस खुले आम डलियों में रखकर गली-गली वेचा जाने लगा था। अमृतसर में हाहाकार मच गया था। सिखों के थरथराते हाथ अपनी तलवारों पर जा पड़े, हिन्दू उन्हें सहायता देने आ पहुंचे। सनसनी फैलते ही अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर एफ. एन. बर्च ने १५ मई १८७१ को अपने कमिश्नर को लिखा–'हिन्दू और सिख गायों के काटे जाने पर रोष प्रकट कर रहे हैं।" पर मदान्ध अंग्रेज कमिश्नर ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे दिन घोर अग्नि परीक्षा के थे। हिन्दू और सिख नेताओं को अंग्रेजों ने जेलखानों में डाल रखा था–दीवान मूल राज, राजा छतर सिंह, राजा शेर सिंह और दीवान बूटा सिंह सभी वीर बंद थे। और जिस दिन भाई देवा सिंह ने गाय की हड्डी पवित्र हर मंदिर साहब के आंगन से उठाकर सिंहों को दिखलाई तो वे अपनी मांदों से दहाड़ते हुए निकल आए। हिन्दू और सिखों ने १४ और १५ जून १८७१ को अमृतसर के कसाइयों पर कटकटा कर हमला कर दिया। प्यारा, जीवन, शादी, अमामी–चारों उद्दंड कसाई मारे गए और करम दीन, इलाही बख्श और खीवा को अधमरी अवस्था में छोड़ दिया गया।

वीर कूका सिखों ने सिरों पर कफन बांध लिए। वे मौत को गले लगाने को बेताब हो रहे थे। जब अंग्रेजों ने पकड़ा-धकड़ी की तब वीर बेहल सिंह, फतह सिंह, हाकिम सिंह और लहना सिंह ने हंसते-हंसते फांसी के फन्दे अपनी गर्दनों में ऐसे पहने मानो वे फूलों की माला पहन रहे हों। फांसी के तख्ते पर जाने से पहले उन्होंने हर मंदिर साहब के पवित्र तालाब में स्नान किया, फिर प्रसाद पाया और फिर कीर्तन करते हुए वे हिमायती सिंहों की गर्जना 'सत श्री अकाल' के बीच कितने तेजस्वी लगे थे।

पर उनका व्रत टूटा नहीं, उनका संकल्प डगमगाया नहीं। शहीदों का खून रंग लाया और वे फिर दुगने जोश से खड़े हो गए। अबकी बार वे १५ जुलाई १८७१ के दिन लुधियाना के पास रायकोट के बूचड़खाने पर क्रुद्ध ततैयों की तरह टूटे थे। अंग्रेजों ने रायकोट के गुरुद्वारा के ऐन बगल में गायें काटने का बूचड़खाना बनवाया था। उन्होंने दो कसाईयों को मार डाला और सात को घायल कर दिया। एक बार फिर वीर कूका सिखों का मस्ताना दल हंसी-खुशी फांसी के तख्ते पर चढ़ गया।–गुरमुख सिंह, मस्तान सिंह और मंगल सिंह को बूचड़खाने के बाहर फांसियाँ दी गईं। ज्ञानी रतन सिंह (मंडी वाले) ज्ञानी रतनसिंह (नाईवाल वाले)–दोनों रतनसिंहों के अनूठे जोड़े को २६ नवम्बर को जेल के निकट फांसी दी गई थी। मण्डी के ज्ञानी रतन सिंह ने शहीद होने से पहले पास खड़े अंग्रेज अफसर से चिल्लाकर कहा था–"मैं किसी जाट माता की कोख में रहकर दस महीने बाद फिर तुझसे बदला लेने आऊंगा। तुम्हारे दिन आ गए हैं। हम बार-बार पैदा होंगे और तलवार पकड़ेंगे और तब तक चैन से नहीं बैठेंगे जब तक तुम्हारा नाश नहीं कर देंगे।" इसके बाद लुधियाना के डिप्टी कमिश्नर कावन ने सारा दोष वीर कूका सिखों के गुरु रामसिंह जी के सिर पर थोपना चाहा।

पर उन पर हाथ बढाना इतना सरल नहीं था।

तभी कूका सिखों को खबर लगी कि मलेरकोटला में हिन्दुओं और सिखों को जबरन खड़ा करके उन्हीं के सामने गायें काटी गई हैं। तभी माघी मेला भी आ पड़ा जहां देखते ही देखते ५०० हिन्दू और सिख भैनी साहब में जमा होकर अपने-अपने सिरों पर कफनी बांधकर तैयार हो गए। सरदार हीरा सिंह ऐसे दहाड़े थे मानो घायल होने पर सिंह बेकाबू होकर झपटा है। उन्होंने संकल्प यात्रा से पहले गुरु रामसिंह के लंगर में परसाद छका और फिर सरदार हीरा सिंह ने अपनी तलवार से धरती के सीने पर एक लक्ष्मण-रेखा खींचते हुए कहा – 'जो अपना सिर देने को तैयार हों वे ही 'सरदार' इस लक्ष्मण रेखा को फलांगें।' देखते-देखते १४० सिंह मौत से नाता जोड़ने आ खड़े हुए। फिर मलोट होते हुए सरदार हीरासिंह के वे नायाब हीरे मलेरकोटला की ओर बढ़े। मलेरकोटला रियासत के अफसर भी गाफिल नहीं थे। उन्हें पता लग चुका था कि मस्तानों की बारात मलेरकोटला में चढ़ने को आतुर है और उन्होंने भी वैसी ही तैयारी कर ली थी।

१५ जनवरी १८७२ को वीर कूका दल चिड़िमार मुहल्ले की उस गली पर टूटा था जहां कसाई-ही-कसाई रहते थे। उधर मलेरकोटला की सेना एवं पुलिस उनसे दस गुना ज्यादा नफरी में पहले से ही इकट्ठी हो चुकी थी। रियासत के सिपाहियों के पास तलवारें और बन्दूकें भी थीं। अपने से दस गुने ज्यादा सैनिक देखकर कूका वीर दल और भी भड़क उठा। फिर जीवन का मोह त्याग कर वे ऐसे टूटे जैसे लहलहाते खेत पर टिड्डी दल टूटता है। खनखन तलवारें बज रही थीं। गोलियों की धांय धूं अलग कानों के पर्दे फाड़े डाल रही थीं। बड़ी भयंकर लड़ाई हो रही थी चिड़िमार मोहल्ले की उस संकरी-सी गली में। और जब लड़ाई के दौरान मलेरकोटला के एक अफसर ने कूका गुरमुख सिंह की आखों के सामने ही एक बैल को काटा तो गुरमुख सिंह भूखे बाज की तरह उस अफसर पर झपटा और एक ही हाथ में उसका सिर धड़ से बिल्कुल ही अलग कर दिया। काश कि कूका वीरों के पास भी उस दिन बन्दूकें होतीं। अपनी तलवारों से ही उन्होंने रियासत के आठ सिपाही मार डाले और चार को सख्त घायल कर दिया। उनके सात वीर खेत रहे और दो घायल हुए। तीन बार झपटे वे कूका वीर और फिर रियासत के सिपाहियों को खदेड़ते हुए वे आगे बढ़ चले। पर तभी अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर कावन की भेजी हुई कमुक भी आ पहुंची। जो कूका निकल चुके थे, वे सरहद पार कर गए पर कुछ जिद्दी वीर भी थे जो अपनी सलीबों से गले लगने को बेताब थे। उस दिन ६८ कूका वीर पकड़े गए जिन्हें पटियाला के नायब नाजिम ने अमरगढ़ के किले में बंद किया था। फिर १६ जनवरी १८७२ को उन्हें कावन को सौंप दिया था। दांत पीसता हुआ अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर उन्हें १७ जनवरी को मलेरकोटला के परेड ग्राउण्ड पर लाया था। ४९ कूका वीर मुसकरा रहे थे। उनके बीच माता खेमकौर का १२ वर्षीय इकलौता बेटा भी था जिसे देखकर डिप्टी कमिश्नर कावन की पत्नी ने पसीज कर उसे क्षमा-याचना दिलवाने की सिफारिश अपने पति से की थी। कावन फिर उस वीर शेर के बच्चे से बोला – 'अगर तू यह कह दे कि तू सतगुरु राम सिंह का सिख नहीं है तो तुझे छोड़ दिया जाएगा।' यह सुनते ही बारह वर्ष का वह अग्नि-पुत्र चिल्लाता हुआ लपका और डिप्टी कमिश्नर कावन की दाढ़ी पकड़ कर उखाड़ने लगा। उसने दाढ़ी तभी छोड़ी जब कावन के सिपाहियों ने उसके तलवारों से टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर नौ तोप मैदान में खड़ी की गईं। सैकड़ों लोग यह बीभत्स कांड देखने जमा हो गए थे। जब कूका वीरों को तोपों से बांधने की कोशिश की गई तब वे बोले – 'हम बंधना नहीं चाहते और न ही पीठ देकर खड़ा होना चाहेंगे। हम अपने सीने तुम्हारी तोप

के दहानों से सटकर खड़े होंगे।' और वे मुस्कराते हुए टुकड़े-टुकड़े हो गए। ४९ कूका वीर तोपबम बने थे।

कावन ने अपने वरिष्ठ अफसर कमिश्नर फोरसाइथ को यह सजा मंजूर करने के लिए लिखा भी था। उसका निर्णय आने से पहले ही उसने सात कूका सिखों को तोप-बम कर दिया। जब कमिश्नर ने उसे पत्र लिखा कि उसके आने से पहले कुछ भी नहीं किया जाए, तब मिस्टर कावन ने उक्त पत्र की अवहेलना करते हुए उसे अपनी जेब में डाल लिया और कूका संग्रामियों को तोपों से उड़वाता रहा। कावन ने फिर कुछ और कूका वीरों को पकड़ा था और कमिश्नर को लिखा था – 'इन्होंने खुली बगावत की है और इन्हें सख्त-से-सख्त सजा मिलनी चाहिए जो औरों के लिए इबरत भी हो।' कमिश्नर फारसाइथ भी अपनी कैंचुली छोड़कर निकल आया और आज्ञा दी कि इन सब को सजाए मौत दी जाए। सोलह कूका संन्यासियों को फिर तोपों से उड़वाया गया। उनमें से एक कूका वरयामसिंह ठिगने कद का था जो तोप के मुंह तक नहीं पहुंच पाता था। यह देखकर कावन ने कहा – इसे छोड़ दिया जाए।' पर वरयामसिंह ने फौरन ही इधर-उधर पड़ी ईंटें इकट्ठी कीं और उन्हें लगाकर उन पर खड़ा हो गया। अब तोप का खुला हुआ मुंह उसके सीने से सट गया था। वरयामसिंह चीखा, 'सत श्री अकाल', और फिर टुकड़े-टुकड़े होकर ऊपर हवा में बिखर गया।

पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने कलकत्ते लिख कर भेजा था – 'तोपों से उड़वाना सजा-ए-मौत का एक प्रभावशाली एवं दयापूर्ण तरीका है।' यह सुनकर गवर्नर-जनरल की कौन्सिल का मेम्बर लार्ड नेपियर बोला – 'ऐसी सजा को दयापूर्ण करार देना भाषा का दुरुपयोग है। यह सभ्य लोगों को शोभा नहीं देता और मानवता के विरुद्ध एक घिनौना कार्य है।' लार्ड नार्थब्रुक ने भी इसका अनुमोदन किया और कहा – 'ऐसे गैरकानूनी एवं अविवेक-पूर्ण कार्य के लिए मुझे कोई भी बहाना उचित नहीं लगता।'

फिर ब्रिटिश पार्लियामेंट में हैवी-लैण्ड वर्क ने जब बखिए उधेड़ने शुरु किए तब भारत के गवर्नर-जनरल ने दो काम तत्काल किए – लुधियाना के अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर कावन को निलंबित किया और बाद में बर्खास्त भी कर दिया और कमिश्नर फारसाइथ को पंजाब से राजस्थान भेज दिया और हिदायत दी कि उसे आइन्दा फिर किसी राजनीतिक पद पर नहीं रखा जाएगा।"

बाबा रामसिंह सीधे राजनीति में उतर कर स्वाधीनता के लिए भले ही न लड़े हों, लेकिन जो आधार वे तैयार कर रहे थे वह निश्चय ही पराधीनता की बेड़ियाँ काटने के लिए पंजाबियों में उत्साह और शक्ति का संचार करता। इस खतरे को चतुर अंग्रेज पहले ही ताड़ चुके थे। ऐसा अनुमान है कि अंग्रेजों ने अपने पिट्ठू कुछ सिखों से सांठगांठ कर इस आन्दोलन को कुचलने का षडयंत्र रचा। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि पंजाब के कुछ प्रमुख धार्मिक व राजनैतिक नेताओं ने २२ मार्च १८७२ को अमृतसर में लेफ्टीनेंट गवर्नर के दरबार में उपस्थित होकर उन्हें अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रतिवेदन दिया जिसमें कूका आन्दोलन को **'दुष्ट, पथभ्रष्ट एवं पंथ-द्रोही'** घोषित करते हुए उसके दमन में उठाये गए सरकारी कदमों की सराहना की गई थी और इस दमन कार्य में सरकार को पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया गया था।

इस प्रतिवेदन पर जिन लोगों ने हस्ताक्षर किये थे उनमें से कुछ इस प्रकार हैं: सरदार ठाकर सिंह संधावालिया, स्वर्ण मन्दिर के महाप्रबंधक सरदार मंगल सिंह रामगढ़िया, अकाल बुंगा के पुजारी भाई गुलाब सिंह, स्वर्ण मन्दिर के ग्रंथी भाई जस्सा सिंह, रामगढ़ के महंत भाई गुलाब सिंह, सरदार गुलाब सिंह भागोवालिया, सरदार दयाल सिंह मजीठिया, सरदार बख्शीश सिंह संधावालिया, सरदार

अजीत सिंह अरारीवाला, सरदार जवाहर सिंह जफरवाला आदि ।

सिंह सभा

इसे मात्र संयोग नहीं माना जा सकता कि इन सभी व्यक्तियों ने मिलकर १ दिसम्बर १८७३ को, अर्थात् प्रतिवेदन देने के अगले ही वर्ष 'सिंह सभा' नामक उग्रवादी संगठन की स्थापना की जिसकी पीठ पर सदैव ब्रिटिश सत्ता का हाथ बना रहा । इतिहासज्ञों को यह खोजना है कि कूका आन्दोलन को बदनाम करने, उसे विफल करने तथा बाबा रामसिंह को नजरबंद कराने में कहीं इन 'सफेद पोशों' का ही तो हाथ नहीं था? वैसे उन्होंने कूका आन्दोलन पर जिस तरह के आरोप लगाए हैं उनसे स्वतः सिद्ध है कि वे सर्वथा सन्देह से परे नहीं हैं ।

फिर बाबा रामसिंह के रंगून पहुँचते ही 'सिंह सभा' नामक उग्रवादी संगठन खड़ा करना भी यही संकेत देता है कि अंग्रेजों और स्वर्ण मन्दिर की साजिश से यह सब हुआ । बाद में 'सिंह सभा' ने सिख समुदाय में इतनी गहरी जड़ें जमाईं कि कूका आन्दोलन धीरे-धीरे ठंडा पड़ता गया ।

८ अलगाव का परचम और गुरुसिंह सभा

स्व. राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है –

"सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा, सब एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में, यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता है जिसके आधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपना कर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है, जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने पर भी सन्देह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह हैं, जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिए एवं सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी। और गांधी जी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।"

(दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ११)

किन्तु ज्वलित देह को क्षारोदक से शीतल करने वाले दुराग्रहियों की मानव समाज में न पहले कमी थी और न ही आज है। अपने को सही मानने और दूसरों को झुठलाने की क्रूरता से आज अनेक व्यक्ति, वर्ग और मजहब आक्रांत हैं। इसके विपरीत विभाजन की कड़वी घूँट पीकर भी भारत ने अपना परम्परागत धैर्य और संतुलन नहीं खोया और जिस धर्मांधता के बल पर यह विभाजन हुआ उस प्रवृत्ति को मूलतः नष्ट करने का अभिनव प्रयोग करते हुए भारतीय गणतंत्र ने अपना सांविधानिक ढाँचा धर्म-निरपेक्षता के आधार पर खड़ा किया।

धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्म से विमुखता नहीं, अपितु सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखने का एक जीवन-दर्शन है। जब पंडित सुन्दरलाल मुहम्मद साहब का जीवन-चरित्र लिख रहे थे, जब विनोबा भावे कुरआन पर भाष्य रच रहे थे, जब शेख अब्दुल्ला गीता पर कलम उठा रहे थे और जब बशीर अहमद 'मयूख' वेद मंत्रों का कविता में अनुवाद कर रहे थे तो वे इस जीवन-दर्शन की ही पुष्टि कर रहे थे। किन्तु अपनी ही पहचान में जीने-मरने वाले तथाकथित मरजीवड़ों को यह सहज जीवन

कभी रास नहीं आया और वे धर्मांधता, भाषावाद, क्षेत्रवाद की ज्वाला धधका कर चेतना और विवेक के धरातलों को ध्वंस करते रहे ।

इस संकीर्णता को पोषित करने के लिए भ्रम का ऐसा वातावरण तैयार किया जाता है कि उससे प्रभावित लोग केवल अपने ही वर्तमान और भविष्य में जीने के आदी हो जाते हैं । पंजाब के कतिपय सिख अपनी परम्पराओं और आस्था के विरुद्ध कटिबद्ध होकर आज ऐसी ही मृगमरीचिका का शिकार होकर मरुस्थल में प्यास बुझाने को भटक रहे हैं । कैसी अशुभ घड़ी होगी वह, जब राष्ट्र के एक प्रबुद्ध एवं निष्पक्ष विचारक खुशवंत सिंह 'अपनी पहचान' के अभिशाप से ग्रस्त होकर अपनी पुस्तक 'द सिख्स' (एलन एंड अनविन, १९५३) की प्रस्तावना में लिख रहे थे:

''अपने लोगों की कथा मैं लिख रहा हूँ, इसका मुख्य कारण यह उदास बनाने वाला विचार है कि मेरी इस मेहनत के साथ-साथ सिखों की कहानी का अन्तिम अध्याय भी लिखा जा रहा है । इस शताब्दी के अन्त तक सिख लोग इतिहास की एक भूली बिसरी चीज बन जाएँगे ।

''स्वाधीन भारत में जो राजनैतिक बदलाव आया है, उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि नस्ली, मजहबपरस्ती और अलगाव चाहने वाली ताकतें निर्बल हुई हैं । जहाँ तक सिखों का सम्बंध है, इसका मतलब यह है कि कौम के भीतर जाट और गैर-जाट तथा बाहर हिन्दू-सिख टकराव कम हुआ है । बाह्य-प्रतीक और परिचय चिन्ह छोड़ने की बढ़ती प्रवृत्ति और हिन्दू-सिख कटुता के अभाव के कारण सिखों का तेजी से हिन्दू धर्म में विलय हो रहा है । विलय की यह गति बनी रही तो सन्देह नहीं कि इस शताब्दी के खत्म होने से पूर्व ही सिक्खी हिन्दू धर्म की एक शाखा बन जाएगी और सिख लोग हिन्दू सामाजिक तंत्र के एक अंग बन कर रह जाएंगे ।''

इस पुस्तक को प्रकाशित हुए इक्तीस वर्ष बीत चुके हैं और आगामी सोलह वर्ष में यह शताब्दी खत्म होने वाली है । किन्तु, प्रश्न यह उठता है कि जब पिछले इक्तीस वर्षों में सरदार खुशवंत सिंह की दाढ़ी और जुल्फों का एक बाल तक किसी हिन्दू ने नहीं नोचा तो अगले सोलह साल में यह कैसे सम्भव है? आज कोई सिख यदि केशों से परहेज करता है तो इस का कारण यह नहीं कि किसी मंहत ने उनके पंथ की भर्त्सना की है, किसी सरकार ने उनके लिए नौकरियों के दरवाजे बन्द कर दिए हैं, किसी राजनैतिक दल ने उन्हें अपनाने में दीवार खड़ी की है, अथवा किसी हिन्दू परिवार ने उन्हें अपनी बेटी देने में संकोच किया है, बल्कि वह इस कारण करता है कि उसे गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित परम्परागत खालसा व्यवस्था के आधीन नहीं, अपितु जन्मजात आधार पर खालसा बनाया जाता है । जिस जीवन-दर्शन को व्यक्ति परिवेशगत प्रभावों के कारण अपनाने पर विवश होता है, न कि स्वेच्छा से, तो उस जीवन-दर्शन के प्रति वह ईमानदारी से आस्थावान् रह ही नहीं सकता ।

यह युग नीर-क्षीर विवेक, तुलनात्मक विवेचना और दुराग्रह-मुक्त चिन्तन का है । अतः, किसी भी प्रकार के वैमनस्य ग्रस्त अलगाव का कोई भविष्य भारत क्या किसी भी अन्य देश में नहीं है । यह स्थिति आज की नहीं, पहले की भी है । हिन्दुओं ने इस खतरे को अनेकान्तवाद का मार्ग प्रशस्त कर आसानी से हल कर लिया था । हिन्दुओं में चिन्तन की अनेक धाराएँ अनादि काल से प्रवाहित रही हैं । अतः, किसी ने गंगा में, किसी ने यमुना में, किसी ने गोदावरी में तो किसी ने कावेरी में जलपान करके अपनी प्यास बुझाई है । इस्लाम और ईसाइयत के जीवित रहने का भी रहस्य यही है ।

सिक्खी 'को पुनर्जीवित करने के लिए ही नामधारी और निरंकारी लहरें पंजाब में

उठीं। किन्तु आज जिनका आग्रह यह है कि केवल श्रीगुरुग्रंथ-साहब, हरमन्दिर-साहब और पवित्र सरोवर ही अन्तिम सत्य है और सिक्खी (केशधारण) ही सुखद भविष्य की अन्तिम गारंटी है, वे भ्रम में हैं और यह भ्रम जब टूटने लगता है तो आग्रही-जन कोई न कोई आन्दोलन खड़ा कर देते हैं, ताकि यह भ्रम बना रहे। अलगाव के ऐसे अनेक बहाने आज ही नहीं, अतीत में भी गढ़े जाते रहे हैं। गत तीन वर्षों में पंजाब में आतंक की जो लाल आँधी गहराती रही है उसके जनक वस्तुतः भिण्डराँवाले नहीं, अपितु वे लोग हैं जो अपने बौद्धिक चातुर्य के बल पर निराधार भ्रमों का विष उगल कर पंजाव के कैक्टसों को सींचते रहे हैं। अलगाव का यह परचम उठाने वाले खुशवंत सिंह अकेले नहीं हैं, बल्कि उनके पीछे अनेक घटक पंक्तिवद्ध खड़े हैं, जिन्हें बे-नकाब करना आज राष्ट्र की पहली आवश्यकता है जिससे हम धराशायी हुए अपने जीवन-मूल्यों को सँभाल सकें।

पंथ बनाम विपंथ

गुरु नानक जीवन भर जिन बातों से सावधान करते रहे, जिन बातों को अध्यात्म और धर्म से बाहर मानते रहे, वही बातें उनके उत्तराधिकारी गुरुओं ने पंजाब की सीधी-सादी जनता के गले में फंदा बनाकर डाल दीं। नानक के नाम पर गद्दी स्थापित हुई, पंथ का निर्माण हुआ, ग्रंथ का संकलन हुआ, वंशानुगत उत्तराधिकारी की परम्परा चली, गद्दी से राजगद्दी बनने लगी, उसके लिए गुरु-परिवारों में वैमनस्य बढ़ा, इस वैभव और वैमनस्य ने राजनैतिक महत्वाकांक्षा पैदा की, गुरुद्वारों का निर्माण हुआ और उसमें दान में प्राप्त राशि से अस्त्र-शस्त्र जुड़ने लगे, केशधारी खालसा के रूप में सेना खड़ी हुई (केशधारण का आधार पहले गुण-कर्म-स्वभाव था किन्तु बाद में इसका आधार जन्मगत होने लगा और वही रोग इसे लग गया जो जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को लगा) और फिर सत्ता छीनने के लिए संघर्ष हुआ।

इन सबका कुल परिणाम यह निकला कि धर्म गौण और राजनीति मुखर होने लगी। नानक एक पंथ के होकर रह गए और यह पंथ गुरुद्वारों में सिकुड़ता चला गया। बाह्य-चिन्हों के प्रति अपरिमित व्यामोह जगने से केशधारी ही सिख कहलाने लगे और सहजधारियों को सिख मानने का विचार जड़ से ही उखड़ गया। निर्मले, मजहबी, नामधारी, निरंकारी, ये सभी नानक के उपदेश को सर्वोपरि मानते हैं। इनमें से अधिकांश केशधारी हैं, किन्तु फिर भी सिख नहीं हैं।

नामधारी आन्दोलन के संस्थापक बाबा राम सिंह जी को स्वर्ण-मन्दिर ने पंथ-द्रोही घोषित किया जबकि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गुरुग्रंथ-साहब को सबसे पहले मुद्रित करा कर नानक के प्रति आस्था प्रकट की थी। इन सभी उप-सम्प्रदायों का उल्लेख न भी करें, तो भी केशधारी सिखों में राजनैतिक-स्तर पर अनेक गुट पैदा हो गये। अकेला अकाली दल ही चार गुटों में विभक्त हुआ है। सिख नेतृत्व में सदा से जाट सिखों का ही प्रभुत्व रहा है, यद्यपि मा. तारासिंह के कारण गैर जाट भी कहीं-कहीं प्रभुत्व हथियाने में सफल रहे। सिख धर्म पर राजनीति कितनी बुरी तरह छा गई और उससे सिख धर्म कितना अपवित्र और बदनाम हुआ इसका अनुमान भिंडराँवाले और उसके सहयोगी आतंकवादियों द्वारा स्वर्ण-मन्दिर परिसर के दुरुपयोग से लगाया जा सकता है। वहाँ निरीह लोगों के कत्ल हुए, असहाय नारी का सतीत्व लूटा गया, मदिरापान की महफिलें जमीं। इन हरकतों के आगे अहमदशाह दुर्रानी, तैमूर और मस्सा रंघड़ की हरकतें भी पानी भरती हैं। किन्तु देखिए, सिखों में धर्म के प्रति कितनी आस्था रह गई है कि भिंडराँवाले हजार पाप करने पर भी संत है, शहीद है, पंथ का

रक्षक और नानक का मुरीद है । नानक के उन्मुक्त विचारों को पंथ के शिकंजे में जकड़ने का ही यह दुष्परिणाम है ।

गुरु गोविन्द सिंह ने केशधारियों का निर्माण तात्कालिक परिस्थितयों को देखते हुए ठीक ही किया था, किन्तु योग्य नेतृत्व के अभाव में बाद में वह पंथ को ही डुबाता रहा । अब 'केश' प्रेरणा के नहीं, गुरुडम के प्रतीक बन गए, बाह्याचार के अंग बन गए, परम्परा का निर्वाह मात्र बन गए, जिसका नानक ने सदैव खंडन किया है । नानक का दर्शन मनुष्य के शरीर से नहीं, आत्मा से सम्बंधित था, वह विचार और भक्ति प्रधान था और उनका उद्देश्य जितना पवित्र था उतने ही उस की प्राप्ति के साधन भी । खालसा सजाने से ही यदि पंथ की रक्षा सम्भव होती तो गोविन्द सिंह 'खालसा' के साथ-साथ 'निर्मलों' का सृजन न करते । आज सर्वत्र खालसा ही खालसा रह गए हैं, निर्मलों को तो दुत्कार कर बाहर कर दिया गया है । जिस पंथ या संस्था में बुद्धिजीवियों का अकाल होगा उसका भौतिक विकास चाहे जितना हो जाए, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता ।

एक समय था जब पंथ और गुरुद्वारे सब के सांझे थे, 'सरबत का भला' चाहने वाले थे, किन्तु आज वहाँ से निहित स्वार्थों की गंध उठ रही है और उनकी पूर्ति के लिए वे सभी हथकंडे अपनाए जा रहे हैं जो सामान्य भाषा में अपना पेट भरने के लिए प्रायः पेशेवर असामाजिक तत्व अपनाते हैं । अपहरण, फिरौती, बलात्कार, डकैती, हत्या, सुरापान, ऐसी कौनसी बुराई शेष बची है जिसे तथाकथित आतंकवादियों ने नहीं अपनाया और समूची सिख संगत, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, पाँचों प्रमुख ग्रंथियों ने उसे अपनी मौन स्वीकृति नहीं दी? अपने इन पापों को धोने, उन पर लाख मिट्टी डालने से यह अपराधी समाज अपने मन को भले ही समझा ले, किन्तु नानक की आत्मा उनके इस घिनौने रूप को देखकर हमेशा रुदन करती रहेगी । गत तीन वर्षों में सिख समाज ने जिस गर्हित आचरण, जिस अपराधिक मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसके रहते नानक का सिख धर्म आगामी तीन सौ वर्षों तक भी अपने सही रूप को ग्रहण नहीं कर पाएगा । सरदार खुशवंत सिंह गलती पर हैं जो मानते हैं कि बाह्य घटकों के कारण सिक्खी खतरे में हैं । वास्तविकता यह है कि सिक्खी अपने ही भ्रमों के कारण अस्ताचल की ओर बढ़ रही है ।

समूचा सिख समाज आज असमंजस के इस दोराहे पर खड़ा है कि रक्षा खालसा पंथ की करनी है या सिख पंथ की । नानक और गोविन्द में सामंजस्य स्थापित करने की वे असफल चेष्टा कर रहे हैं । जब तक यह न माना जाएगा कि गोविन्द साधन थे और नानक साध्य, तब तक सिख धर्म अपना समुज्ज्वल अतीत पुनः हस्तगत नहीं कर पाएगा । जीवन में आवश्यकता गोविन्द की भी रहती है और नानक की भी, किन्तु यह समझना होगा कि नानक की आवश्यकता प्रतिपल, प्रतिक्षण के लिए है, और गोविन्द की आवश्यकता परिस्थिति विशेष में है सदा के लिए नहीं । चौबीस घंटे शस्त्रों से सुसज्जित रहने और तलवार घुमाने का कोई अर्थ नहीं है । जो काम त्याग और तपस्या से सम्पन्न हो सकते हैं, वे शस्त्रों से नहीं हो सकते । रेलवे लाइनों को उखाड़ने, स्टेशनों को फूँकने, नहरों को तोड़ने से सरबत का कितना भला होगा, इसका उत्तर तो वे चाहे जो दें, किन्तु इससे आम जनता की दृष्टि में सिक्ख धर्म हास्यास्पद बनता जा रहा है, त्याग और बलिदान का रक्तरंजित सिख इतिहास अविश्वसनीय होता जा रहा है, और उनकी राष्ट्रभक्ति पर सन्देह बढ़ता जा रहा है । अंग्रेजों की गुलामी जिस कौम को रास आती रही उसे अपने ही देश की आजादी आज क्यों अखर रही है -- यह सवाल आज के भारतीय बुद्धिजीवी को गहरे तक झकझोर देता है । नानक का उन्मुक्त अध्यात्म-

मंथन जब तक पंथिक बंधन से मुक्त नहीं होता तब तक इस स्थिति में परिवर्तन असम्भव सा लगता है।

नानक को पंथ बनाकर नहीं रखा जा सकता – ऐसा सोचने-समझने वाले कुछ तपस्वी, मेधावी, साहसी सिख आगे आकर नेतृत्व संभालें तो आशा की किरण आज भी दिखाई दे सकती है। सत्ता के प्रति आबद्ध अहं, पंच-ककारों में विजड़ित श्रद्धा, जन्मगत केशधारण के प्रति बढ़ती रुचि, अपनी अलग पहचान का आग्रह, अलगाव की पनप रही प्रवृत्ति और संकीर्ण विचार-सरणी पर जब तक सार्थक अंकुश नहीं लगेगा और स्वयं सिख स्वेच्छा से वैसा नहीं करेंगे, तब तक नानक की सही तस्वीर सामान्य-जन के हृदय और मस्तिष्क पर अंकित न हो सकेगी।

नानक और कबीर

कबीर के पीछे कोई बड़ा पंथ, ग्रंथ, महंत खड़ा नहीं हुआ किन्तु कश्मीर से कन्याकुमारी तक वे आज भी स्मरण किए जाते हैं, जन-जन में उनकी वाणी का प्रसार स्वयमेव हो रहा है। एम. ए. सरीखी उच्च श्रेणियों में उनका अध्ययन चल रहा है, पी. एच. डी. के छात्र उन पर शोध कर रहे हैं, लेखक उन पर रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं और यह काम गुरु नानक विश्वविद्यलय की तरह कोई कबीर विश्वविद्यालय स्थापित करके नहीं हो रहा है। उनके नाम पर तो स्यात् कोई प्राइमरी स्कूल भी न होगा, कालेज की तो बात क्या। कबीर के इस व्यापक प्रसार का रहस्य यही है कि वे खुले आकाश, खुले प्रकाश, खुली वायु की तरह व्यापक बने रहे, किसी पंथ की कैद में नहीं रहे।

नानक को कबीर की भाँति सर्वव्यापक बनाने का अन्तिम विकल्प केवल यह नहीं बचा कि गुरुद्वारों को मिट्टी में मिला दिया जाए, केशधारी अपना मुंडन करवा दें अथवा वे राजनीति से तोबा कर लें। आवश्यकता यह है कि ये सभी बातें उस तामसिक अहंकार का पोषण न करें जिसका नानक ने निषेध किया था। इन सभी बातों को समाज व देश के हित में रचनात्मक आधार देने की आवश्यकता है जिससे सिख धर्म द्वारा सरबत का भला हो सके। इन सभी बातों से ऐसे वातावरण का निर्माण करने की आवश्यकता है जिससे दिल टूटें नहीं, आपस में जुड़ सकें। अतीत में जब यह सम्भव हो चुका है तो आज क्यों असम्भव है? सिखों में उदारचेता, दूरदर्शी, सरबत का भला चाहने वाले मनीषियों की न पहले कमी थी, न आज कमी है। हमें विश्वास रखना चाहिए कि उनके चिन्तन-मंथन की जड़ें इस देश की धरती से ही पौष्टिक तत्व ले रही हैं। हमें भरोसा रखना चाहिए कि गत तीन-चार वर्षों में पंजाब की धरती पर जो अहं फला-फूला है, जिस वैमनस्य और कटुता ने तांडव नृत्य किया है और जिस भ्रम ने वहाँ विनाश आरोपित किया है वह शीघ्र ही अपनी मौत खुद मरेगा।

नानक को अतीत में कितना समझा गया है यह जानने की रुचि बहुत कम लोगों में है। पर समूचे देश में आज यह सोच अँगड़ाई अवश्य ले रहा है कि नानक को समझने की आवश्यकता आज पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। नानक-पंथी इस सोच को सही दिशा दे सकें तो भले ही सामान्य जन केशधारी न बनें, गुरुद्वारों में न जाएँ, ग्रंथ साहब का नियमित पाठ न करें, तो भी नानक को समझने की एक सच्ची सूझ उनमें अवश्य पैदा होगी। इससे शेष समाज में सिखों की विश्वसनीयता बढ़ेगी। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, मानवतावाद में बढ़ती आस्था और विज्ञान की दिन-प्रतिदिन

उन्नति से समूचा विश्व एक सीमित सी परिधि में आ गया है। अतः अलगाव के वे प्रतिमान, बहाने या भ्रम जो अतीत में प्रासंगिक मान लिए गए थे, आज अपनी सार्थकता खो रहे हैं। इस बदले हुए परिवेश में सिख नेतृत्व को अपनी परम्परागत चिन्तन-शैली में परिवर्तन करना होगा जिससे नानक का व्यापक प्रसार हो सके और अधिकाधिक लोग उनके जीवन-दर्शन को अपना सकें। निश्चय ही अलगाववादी प्रवृत्ति से कोई समाज या पंथ क्षणिक समृद्धि और क्षणिक सुविधाएं अर्जित कर लेता है किन्तु इसके दूरगामी दुष्परिणामों से वह मुक्त नहीं रह सकता। 'अपनी पहचान' कुछ लोगों के लिए आकर्षक नारा हो सकती है, किन्तु कस्तूरी-मृग की दयनीय दशा देख कर इसके परिणामों की विकरालता का सहज अनुमान लग सकता है।

अलगाव के प्रचारक

१८५७ में हुए प्रथम आन्दोलन को अंग्रेजों ने कुशलता से कुचल दिया था, किन्तु इस क्षणिक विजय से वे संतुष्ट होकर बैठे नहीं रह सकते थे। इस विजय के पश्चात् उन्होंने प्रमुखता इस बात को दी कि उन तत्वों की खोज की जाए जिनके कारण समूचा भारत विविधताओं के बावजूद एक सूत्र में बँधा हुआ है। इस कार्य के लिए अंग्रेजों ने बुद्धिजीवियों का ऐसा दल गठित किया जो भारत के इतिहास, धर्म, संस्कृति और सामाजिक गठन का तलस्पर्शी अध्ययन कर सके। इन तथाकथित बुद्धिजीवियों को आवश्यक हिदायतें दी गईं कि भारतीय प्रज्ञा के आधार को, उनके प्राचीन इतिहास को ऐसे रूप में रखा जाए कि भारतीयों की उस पर से आस्था जाती रहे और वे पारस्परिक फूट का शिकार होकर अंग्रेजों के मोहताज बने रहें। बाद में इन्हीं बुद्धिजीवियों का 'रायल एशियाटिक सोसायटी' नाम से संगठन हुआ। तुलनात्मक अध्ययन के नाम पर अंग्रेजों के इन वेतनभोगी विद्वानों ने ऐसे-ऐसे निष्कर्ष निकाले कि सुशिक्षित भारतीय धीरे-धीरे अपने आधार से दूर खिसकते चले गए। अपने इतिहास पर उनकी अँगुलियाँ उठने लगीं, अपने धर्म में अरुचि बढ़ने लगी और वे राष्ट्रीय गौरव से वंचित होते चले गए। इस प्रकार का साहित्य आज भी भारत के १९४७ के पहले के पुस्तकालयों में भरा पड़ा है। ब्रिटिश सत्ता का मुख्य ध्येय यह भी था कि हर स्तर पर भारतीयों में फूट का बीज बोया जाए जिससे भारत में उनका प्रभुत्व चिरस्थायी रह सके। साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति अपना कर उसने वर्गों और जातियों को आपस में लड़वा कर निर्बल बनाया।

इसका पहला और सफल प्रयोग पंजाब की धरती पर हुआ। पंजाब की इंच-इंच भूमि वीरता और बलिदान की साक्षी है, उससे पंजाबी हमेशा प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसका ज्ञान अंग्रेज शासकों को था। वे यह भी समझते थे कि यदि सिखों ने साथ न दिया होता तो १८५७ में ही उन्हें अपमानित होकर भारत से निकलना पड़ता। विदेशी आक्रमणकारी कभी इस सन्देह से मुक्त नहीं हो सकते कि विजित प्रदेश के निवासी पूरी ईमानदारी से उनका साथ देंगे ही, अतः अंग्रेजों का निरन्तर यह प्रयास रहा कि पंजाब की बहादुर सिख कौम अपनी मूलधारा से विलग रहे।

१८५७ में प्राप्त विजय के पश्चात् अंग्रेजों ने सिखों को ओहदे, खिताब, रिसालदारियाँ, जागीरें और मुरब्बे देकर पुरस्कृत किया। कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई की सुविधाएँ प्रदान कीं, व्यापारिक उन्नति के लिए सड़कें और लाइनें बिछाईं, आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के लिए अनेक स्कूल कालिज खोले। विशेषकर सिख धर्म और सिख इतिहास पर अनुसंधान करने के सुविचारित प्रबंध किए। इन सभी बातों का परिणाम यह निकला कि पंजाब में एक ऐसा वर्ग पनपने लगा जो अंग्रेजों के प्रति

कृतज्ञता से ओत-प्रोत था। १८५७ से पूर्व १८४८ के आसपास भी अंग्रेजों के फरमाबरदारों का पंजाब में पूर्णतया अभाव नहीं था। लाहौर के 'खालसा राज' का पतन होने पर जब डलहौजी अमृतसर गया तो सिखों ने स्वर्ण-मन्दिर में उसका शानदार स्वागत किया था। इस प्रसंग में खुशवंत सिंह के ये शब्द द्रष्टव्य हैं:

डलहौजी का स्वागत

"लार्ड डलहौजी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि सिख सत्ता का संपूर्ण विनाश मेरा ध्येय है। मुझे सिख वंश को समाप्त करके सारी जाति को अपने आधीन लाना है। यह कार्य मुझे शीघ्र करना है, संपूर्ण रूप से करना है और इस तरह करना है कि इस सम्बंध में आगे करने को कुछ भी न रह जाए। डलहौजी ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही किया। फिर भी जब वह अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर को देखने गया तो उसने जूते नहीं उतारे। पवित्र स्थान में वह जूते पहनें घूमता रहा और हजारों सिख यह तमाशा देखते रहे। देखते क्यों नहीं? डलहौजी के स्वागत में ही तो उस रोज मन्दिर में दीपावली मनाई गई थी।"

'द सिख्स'

राजभक्ति के कारण मिली असीम सुविधाओं का ही यह दुष्परिणाम था। अंग्रेजों ने पहले तो दमन करके सिखों के दिल छलनी किए, फिर उतनी ही तत्परता से घावों को भरने का प्रयत्न किया। अतः कृतज्ञता के भावों का इस प्रकार उमड़ना सहज-स्वाभाविक ही था। लाहौर के पतन से पूर्व ही जब अन्य सिख रियासतें स्वेच्छा से अंग्रेजों की झोली में जा गिरी थीं तो लाहौर राज्य की जनता को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता। आगे चलकर लगभग १९१३ तक वफादारी की यह लहर प्रतिपल बढ़ती ही गई। इसी कालखण्ड की एक घटना का उल्लेख करते हुए सर गोकुलचंद नारंग लिखते हैं:

"मुझे स्मरण है कि जब साम्राज्ञी विक्टोरिया का देहान्त हुआ तो दोआबे के एक प्रसिद्ध नगर के एक सिख सरदार ने एक बड़ा डोल कुएं में डालते हुए सभी सिखों को महारानी के शोक में अपने केश धोने के लिए आमन्त्रित किया था। महारानी की मृत्यु को उसने अपनी ही नहीं, बल्कि समूचे खालसा की माँ की मौत के रूप में माना था।"

(ट्रांसफौरमेशन आफ सिंखिज्म, पृ. ३३७)

इस स्थिति का श्रेय हैनरी लारेंस और जॉन लारेंस को ही जाता है कि उन्होंने उदारता की नीति अपना कर सिखों की तेग को ठंडा कर दिया। सिख धर्म और सिख इतिहास में रुचि दिखाकर अंग्रेजों ने सिखों का विश्वास सहज ही जीत लिया। सिखों में अब भी वीरता का अभाव नहीं था, लेकिन वह वीरता अंग्रेजों के लिए थी, ब्रिटेन के लिए थी, भारत और भारतीयों के लिए नहीं। सिखों का कायाकल्प करने के लिए सेना में किस प्रकार की नीति अपनाई गई, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

गुरु सिंह सभा : सुधार या बिगाड़

इस कालखण्ड में सिखों में अलगाववादी प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए अंग्रेजों ने मुख्य उपदेष्टा की

भूमिका निभाई। स्वर्ण मन्दिर की सिख सत्ता उनके हाथों की कठपुतली बनी हुई थी। किस प्रकार नामधारी बाबा रामसिंह को स्वर्ण मन्दिर ने पंथ-द्रोही घोषित कर देश से निर्वासित कराया, यह हम देख चुके हैं। जिन लोगों ने इस 'पाप दी खट्टी' में हिस्सा बंटाया था उन्हीं लोगों ने सन् १८७३ में 'श्री गुरु सिंह सभा' का गठन किया जिसका आधुनिक सिख इतिहास में अत्यतं महत्वपूर्ण स्थान है। 'श्री गुरु सिंह सभा' जिन परिस्थितियों का परिणाम थी उसका उल्लेख करते हुए डा. जगजीत सिंह ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे बड़े विचित्र हैं। उनकी दृष्टि में गुरु सिंह सभा के गठन के निम्न कारण रहे हैं:

१. राजपाट छिन जाने पर सिख पंथ पर संकट के पहाड़ टूट गए थे।

२. अमृतसर, अकाल तख्त और तरन-तारन आदि के प्रसिद्ध गुरुद्वारे अंग्रेज सरकार के प्रबंध में चले गए थे।

३. ईसाईयत के प्रचार से सिख नौजवान विधर्मी बन रहे थे। महाराज दिलीप सिंह का ईसाईयत में दीक्षित होना इसका अन्यतम उदाहरण था।

४. गुरुडम के व्यापक प्रसार से गुरु-अंश कहलाने वाले अनेक बेदी और सोढ़ी गुरु बन बैठे।

५. निर्मले महंतों के कारण सिखों में हिन्दू अवतारों, पौराणिक कथाओं, देवी-देवताओं, दीवाली-दशहरा पर्वों आदि का प्रचलन बढ़ गया था और गुरुवाणी हिन्दू-दर्शन का एक अंश बन गयी थी। शादी-गमी और अन्य अवसरों पर ब्राह्मणों को संस्कार के लिए बुलाया जाने लगा था।

६. सिखों को पतनावस्था से ऊँचा उठाने के लिए निरंकारी और नामधारी लहरें उठीं, किन्तु सिख फिर गाढ़ निद्रा में सोने को तैयार हो गए।

७. १८७५ में स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की जिसने अन्य धर्मों के साथ-साथ सिख धर्म के विरुद्ध भी प्रचार किया जिससे सिख पतित होने लगे।

८. अमृतसर स्थित गुरु के बाग में सनातनी प्रचारक पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी ने गुरु साहिबान की शान में कुछ आपत्तिजनक बातें कहीं जिससे सिखों में उत्तेजना फैली।

('सिंह सभा लहर' शीर्षक लेख जो कि गंडा सिंह द्वारा सम्पादित भाई जोध सिंह अभिनन्दन ग्रंथ में छपा है)

ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी कारण डा. जगजीत सिंह ने 'श्री गुरु सिंह सभा' की उपलब्धियों के आधार पर गढ़े हैं। अन्यथा ऐसे पुष्ट प्रमाण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'गुरु सिंह सभा' का गठन इन कारणों से नहीं बल्कि अंग्रेज के हितों के लिए हुआ था। आखिर क्या कारण है कि जिन लोगों ने बाबा राम सिंह के निर्वासन सम्बन्धी प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर किए थे, वे ही लोग 'गुरु सिंह सभा' के संस्थापक बने? आखिर क्या कारण है कि जो ब्रिटिश-हस्तक लाहौर के सिख राज के पतन में अंग्रेजों के साथ थे उन्हीं हस्तकों ने 'गुरु सिंह सभा' की पीठ ठोंकी? क्या कोई भी ईमानदार सिख इतिहासकार इस बात से इंकार कर सकता है कि 'गुरु सिंह सभा' को अंग्रेजी शासन ने प्रारंभिक वर्षों में सहायता दी थी? सिख इतिहासकारों को इन बातों का उत्तर देना होगा –

१-२. राज-पाट छिन जाने पर सिख पंथ पर कौनसा पहाड़ टूटा था? सेना में सिख साम्प्रदायिकता को प्रतिष्ठित कर अंग्रेजों ने पंजाब में सिख धर्म के प्रति आस्था का बीजारोपण किया, सिख

धर्म और इतिहास पर शोध-कार्य करने के लिए कनिंघम, मैकालिफ आदि को नियुक्त किया । गुरुद्वारों को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए प्रमुख सिख नेताओं ने ही स्वेच्छा से उनका प्रबंध अंग्रेजों को सौंपा था । ऐसी स्थिति में पहाड़ टूटने की बात कहाँ तक सार्थक है ?

३. ईसाईयत के प्रचार में क्या सिखों का कम हाथ रहा है ? अपनी शिक्षण संस्थाओं व गुरुद्वारों की चाबी जब सिखों ने अंग्रेजों के हाथ में सौंप दी, तो ईसाईयत के प्रचार की शिकायत क्यों ? सिख ईसाई कैसे बनते थे इसका एक मनोरंजक उदाहरण डा. धर्मानंत सिंह की पुस्तक 'वैदिक गुरुमति' के पृष्ठ ८१ पर पादटिप्पणी में इस प्रकार दिया गया है :

"सूबेदार मित सिंह जी (चौथे पौडे के) कभी बड़े सच्चे सिंह थे । निम्नलिखित वृत्तान्त उन्होंने अपने मुखारविन्द से जुलाई सन् १९१५ में तरन-तारन में सुनाया था । उनके हाथ में पवित्र इंजील थी और वे गिरदोनवाह के गांवों में ईसाईयत का प्रचार करने चले थे । उन्होंने बताया, "सरदार जी, मैं जब पैंशन पाकर आया तो रेलगाड़ी से उतरते ही प्रसाद लेकर पहले श्री दरबार साहब (तरनतारन) हाजिर हुआ । उस समय सवेरे के अभी सात ही बजे थे । पुजारी कहने लगे, 'आप लोगों का प्रसाद ८ बजे के बाद स्वीकार्य होता है ।' मैंने बहुत ही खुशामद की; पर पुजारी न माने । मैं कुढ़ता-झींकता पादरी गिलफर्ड साहब के पास चला गया कि मुझे अभी ईसाई बनाओ और मेरे साथ यह प्रसाद उठवा कर दरबार साहब चलो । पादरी साहब ने बड़ा कहा कि जल्दी मत करो । पर मैंने हठ किया । चुनांचे मैं सिखी से पतित होकर पादरी गिलफर्ड साहब के साथ वह प्रसाद उठवा कर नौ बजे से पहले दरबार साहब पहुँचा और पुजारियों ने प्रसाद ग्रहण करने से इन्कार नहीं किया । मैं इस क्षेत्र में २०० से ऊपर आदमियों को 'बपतिस्मा' दिलवा चुका हूँ ।"

यह कौन सिख नहीं जानता कि महाराज रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी नाबालिग युवराज दिलीप सिंह को ईसाईयत में इस कारण दीक्षित किया गया था कि वह लाहौर पर अपने अधिकार से वंचित हो जाए । जब युवराज बालिग हुए और अंग्रेजों की कुटिल नीति को समझ गए तो उन्होंने ईसाईयत का परित्याग कर पुनः अपने पूर्वजों के धर्म की दीक्षा ले ली और भारत लौटने का विचार किया । उनकी इस योजना की जानकारी पाकर उनके नजदीकी सम्बंधियों ने अंग्रेजों के कान भरे कि दिलीप सिंह पंजाब लौट आया तो सिख भड़क उठेंगे और स्थिति को संभाल पाना मुश्किल होगा । परिणामतः अंग्रेज ने अदन से ही दिलीप सिंह को वापस इंग्लैंड भेजने का षड्यंत्र किया । दूसरी ओर उनके सम्बंधियों ने दिलीप सिंह को भारत न लौटने का परामर्श दिया और उनसे कहा कि धर्मच्युत हो जाने से सिख समाज में आपका कोई सम्मान नहीं रह गया है और आपके आगमन पर आपके विरुद्ध जनता भड़क उठेगी । क्या ऐसी ही जालसाजियों से वे लोग सिख धर्म की उन्नति का स्वप्न ले रहे थे जिन्होंने 'गुरु सिंह सभा' के नेतृत्व में बढ़-चढ़ कर भाग लिया था ?

केशधारी व सहजधारी पादरी कैसे गुरुवाणी को असंगत और अशुद्ध करके सिखों के गले यह झूठ उतार रहे थे कि दसों सिख गुरु वस्तुतः खुदाबन्द ईसा मसीह का ही प्रचार करते रहे हैं—इसका विशद उल्लेख डा. धर्मानंत सिंह ने अपने उक्त ग्रंथ में पृष्ठ ८०-८३ पर किया है । 'गुरु सिंह सभा' ने आर्यसमाज के विरुद्ध तो अनेक ट्रैक्ट प्रकाशित किए, किन्तु इसाईयत के प्रचार के विरुद्ध सदा उदासीन रहे । अतः डा. जगजीत सिंह का यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि दिलीप सिंह व अन्य सिखों द्वारा इसाईयत अपनाने के कारण 'गुरु सिंह सभा' का गठन हुआ ।

४. गुरुडम की तो आज भी सिख समाज में कमी नहीं है, अन्यथा जरनैल सिंह भिंडरांवाले इतना सम्मान व कीर्त्ति कैसे अर्जित कर लेते? जब गद्दियां रहेंगी, गुरुद्वारे मठों की भूमिका निभाएंगे तो गुरुडम को पनपने से कौन रोक सकेगा? नानक की विचारधारा का प्रसार शिष्य-परम्परा द्वारा भी सम्भव था, फिर एक के बाद एक गुरु और वह भी वंशानुगत – क्या इससे गुरुडम की सम्भावना सिख समाज से कभी जा सकती है? कभी वेदी, कभी सिंधी – जिसका दाँव चला पंथ पर हावी हो गया। यह किसी बाह्य कारण से नहीं अपितु सिख धर्म की अपनी बुनियादी कमजोरी के कारण हुआ। ऐसा यदि न होता तो पंथ पर 'गुरु सिंह सभा', चीफ खालसा दीवान, अकाली लहर के अन्तर्गत मा. तारा सिंह, फतह सिंह, हरचंद सिंह लोंगोवाल और आतंकवादी लहर के अन्तर्गत संत भिंडरांवाले के कीर्तनी जत्था तथा अन्य उग्रवादी संगठनों की पकड़ कभी मजबूत न होती।

५. सिखों में पौराणिक कथाओं व देवी-देवताओं का प्रचार किसी हिन्दू ने नहीं, अपितु गुरु गोविन्द सिंह ने किया था। ट्रम्प और मैकनिकाल भी मानते हैं कि गुरु गोविन्द सिंह सिख धर्म के केन्द्र में हिन्दू रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा निश्चयों को लाए और सिखों को हिन्दुओं में जा मिलाया। डा. शेर सिंह भी जो वैसे मैल्कम, कनिंघम व मैकालिफ से इस बात में सहमत हैं कि गुरु गोविन्द सिंह ने सिखों को हिन्दुओं से बिल्कुल अलग कर दिया, यह मानते हैं कि 'दशम ग्रन्थ' में कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें गुरु साहिब ने पौराणिक कथाओं आदि का वर्णन किया है। वे यह भी मानते हैं कि आदि गुरु ग्रन्थ साहब में इन कथाओं एवं कहानियों के कई संकेत हैं। (गुरुमत दर्शन, पृ. १०१-१०२)। 'निर्मले' वे कहलाए जिन्हें गुरु गोविन्द सिंह ने उच्च शिक्षा के लिए काशी भेजा था। इन निर्मलों ने ही सिख धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट करने का अनथक प्रयास किया था। (आज भी निर्मलों में अनेक संस्कृत के विद्वान् पाए जाते हैं)। डा. शेर सिंह जब यह मानते हैं कि गूढ़ स्थलों की व्याख्या के लिए पौराणिक आख्यानों का आश्रय लिया गया है न कि उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है, तो इस आपत्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि पौराणिक कथाओं से सिख धर्म कलुषित हुआ। जहाँ तक हिन्दू रहन-सहन और आचार-व्यवहार की बात है, इसके बारे में कहा जा सकता है कि जब हिन्दुओं से ही सिख बने तो रहन-सहन, आचार-व्यवहार का बदलना कैसे सम्भव होता? आज भी सामाजिक दृष्टि से हिन्दू-सिखों में जितनी एकरूपता है उतनी अनेकता नहीं। जब तक हिन्दू-सिखों में वैवाहिक सम्बंध होते रहेंगे तब तक यह एकरूपता खण्डित नहीं हो सकती।

जहाँ तक पर्वों का प्रश्न है, दस गुरुओं में से किसी भी गुरु ने सिखों के लिए कोई पर्व विशेष निर्धारित नहीं किया है। इस सम्बंध में डा. धर्मानंत सिंह के अनुसार, पूर्व-सिंह-सभाई काल में (अर्थात्, सन् १८७२ में, सिंह सभा की स्थापना से पहले) हमारे पूर्वजों ने, क्या राजाओं और क्या जन-साधारण सबने, गुरु पर्वों की महानता को अनुभव करने से पहले, इन पुरातन पर्वों को ही अपनी संतुष्टि का अभीष्ट साधन बनाया हुआ था, और अब (उत्तर-सिंह-सभाई काल में, अर्थात् सिंह सभा की स्थापना के पश्चात्) गुरु पर्वों को मनाते हुए भी सिखों ने आर्य भारत के पुरातन त्यौहारों का परित्याग नहीं किया। मैं यहाँ लिखने में संकोच करता हूँ किन्तु अन्वेषक स्वयं ही देखें कि सम्पूर्ण "गुरु प्रताप सूर्य ग्रन्थ" में कितनी बार गुरु-पर्वों के मनाने का उल्लेख आया है। महाराजा रणजीत सिंह के उक्त वर्णित रोजनामचे (इवेंट एट दि काऊंट

ऑफ रणजीत सिंह, १८१०-१८४७) में जहाँ तहाँ भी कोई उल्लेख मिलता है, पुरातन पर्वों के मनाने का ही मिलता है।" (वैदिक गुरुमति, पृं. ११४-११५) । उन्होंने स्पष्ट किया है कि गुरु गोविन्द सिंह द्वारा खालसा पंथ रचना (सन् १६९९) से कम से कम दो सौ वर्षों (१८९९) तक हिन्दू व सिखों के त्यौहार सांझे थे और इसके साथ ही साथ उनके पवित्र स्थान (मन्दिर, नदी, सरोवर आदि) भी सांझे थे। (वैदिक गुरुमत, पृ. १४८-४९) ।

'गुरु सिंह सभा' द्वारा प्रचालित पर्वों के पीछे किसी गुरु या किसी धर्म पुस्तक का आधार नहीं है बल्कि यह उस अलगाववादी चेतना का परिणाम है जो 'गुरु सिंह सभा' के कारण पैदा हुई थी। अतः यह कहना कि सिख हिन्दू त्यौहारों को मनाते थे, इस कारण 'गुरु सिंह सभा' अस्तित्व में आई, एक कल्पित विचार है। यह अंग्रेजों की उस कुटिल नीति का ही प्रभाव था जो हिन्दू-सिख भाईचारे को मिटाना चाहती थी।

६. यह माना जाता रहा है कि निरंकारी और नामधारी लहरों ने सिखों में नई स्फूर्ति पैदा की, किन्तु न अंग्रेज सरकार और न ही स्वर्ण मन्दिर को यह स्वीकार था कि सिख कौम किसी ऐसे झंडे के नीचे इकट्ठी हो जिसका दण्ड स्वर्ण मन्दिर बनाम अंग्रेज के हाथ में न हो। ऐसी स्वतंत्र लहरों से अंग्रेज ही नहीं, स्वर्ण मन्दिर भी भयभीत था। सम्भवतः इसी कारण अंग्रेजों ने नामधारियों का दमन किया और स्वर्ण मन्दिर तो आज तक निरंकारियों के पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ है। जिन लोगों ने अंग्रेजों को नामधारियों के विरुद्ध उकसाया उन्हीं लोगों ने 'सिंह सभा' की स्थापना की और फिर माना यह जा रहा है कि इन आन्दोलनों के ठंडे पड़ जाने के कारण 'गुरु सिंह सभा' गठित हुई। ऐसी तर्कहीन बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?

दयानन्द और सिख

७. प्रायः आरोप लगाया जाता है कि आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने सिख धर्म की आलोचना करके हिन्दू-सिख एकता में दरारें पैदा कीं। इन पंक्तियों के लेखक ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के उन तीन पृष्ठों का अवलोकन किया है जिनमें स्वामी दयानन्द ने सिख धर्म की समालोचना की है। स्वामी जी ने यह मानने में कोई भूल नहीं की है कि नानक का शास्त्रीय ज्ञान संस्कृत भाषा की अनभिज्ञता के कारण अपरिपक्व था और संस्कृत के ज्ञान के बिना वेदों की गरिमा को जानना नानक के लिए असम्भव था। नानक को लेकर 'सूरज प्रकाश', 'नानक चन्द्रोदय' और 'जन्मसाखी' आदि कतिपय ग्रन्थों में उनके जिस ऐश्वर्य और चमत्कारों का अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख है, उससे स्वामी जी जैसा तार्किक विद्वान् तो कैसे सहमत होता, आज का निष्पक्ष सिख विचारक भी शायद ही सहमत हो सके।

उदासियों, निर्मलों, अकालियों और सुथरेशाहों की सत्ता प्राप्ति का खेल देखते हुए दयानन्द का इस निष्कर्ष पर पहुँचना आश्चर्यजनक नहीं था कि नानक के उन्मुक्त विचारों को पंथिक पाश में बांधना श्रेयस्कर नहीं हुआ। मुस्लिम प्रभावित पंजाब का स्मरण करते हुए स्वामी जी ने इस बात के लिए नानक तथा गुरु गोविन्द सिंह की प्रशंसा की है कि उन्होंने अपने अपने ढंग से पंजाब के हिन्दुओं का अस्तित्व बनाए रखा। 'पंच ककार' की प्रथा को दयानन्द ने बुद्धिमत्ता की संज्ञा दी है, परन्तु उसे युद्ध प्रयोजन के स्थान पर धर्म का अभिन्न अंग मान लेना उन्हें नहीं

जंचा। 'गुरु ग्रन्थ साहब' के आगे नतमस्तक होने, उसकी पूजा करने तथा उस पर भेंट चढ़ाने को दयानन्द एक प्रकार की मूर्त्तिपूजा ही मानते हैं।

स्पष्ट है कि किसी भी श्रद्धालु सिख को ये बातें पसन्द नहीं आ सकतीं किन्तु उन्हें यह समझना होगा कि यदि गुरु नानक को कैलाश-मानसरोवर के योगियों, कुरुक्षेत्र-हरिद्वार और जगन्नाथ पुरी के ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों व बाह्याचारों की आलोचना करने का अधिकार था तो वह अधिकार किसी अन्य को क्यों नहीं हो सकता। हकीकत यह है कि हर नया मजहब या पंथ या सम्प्रदाय अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों की आलोचना ही होता है। यदि ऐसा न हो तो नया मजहब अस्तित्व में आ ही कैसे सकता है? किन्तु हर पंथ के साथ यह विडम्बना भी छाया की भाँति चिपटी रहती है कि वही धर्म अंतिम सत्य है। ईसा मसीह जब अपने को ईश्वर का अन्तिम पुत्र कहते हैं, मुहम्मद साहब जब कुरआन को अन्तिम ईश्वरीय ग्रंथ और स्वयं को अन्तिम पैगम्बर मानते हैं, गुरु गोविन्द सिंह जब ग्रंथ साहब को अन्तिम गुरु घोषित करते हैं तो वे धर्म के व्यापक आधार, ईश्वर की सर्व-व्यापकता और चिन्तन की मुक्तधारा को अवरुद्ध करने का प्रयास करते हैं। तभी साम्प्रदायिक दुराग्रहों को पनपने का अवसर मिलता है, मजहबों की छाया में खून-खरावा होता है, अलगाववादी प्रवृत्तियां जोर पकड़ती हैं तथा अन्य धर्मों को समझने की रुचि नष्ट होती है।

नानक पंथियों ने दयानन्द को इस कारण दोषी पाया कि उन्होंने सिख धर्म की आलोचना की, किन्तु जो वास्तविकता है उसे सिखों की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति कभी समझ नहीं सकती। दयानन्द उस युग में वेदों के सबसे अधिक सफल प्रवक्ता रहे हैं, अंधविश्वासों, रूढ़ियों और कुरीतियों पर जिस प्रकार जमकर उन्होंने प्रहार किए, वैसा उनका समकालीन कोई अन्य सुधारक नहीं कर पाया। और फिर भारतीयों के खोए आत्मविश्वास को जगा कर उनमें देशभक्ति का संचार भी तो उन्होंने ही किया। क्या यह सब सिख धर्म की मूल भावना के निकट नहीं था? ग्रंथ साहब में बार-बार वेदों का नाम आया है। पर वेद कैसे हैं, उनमें लिखा क्या है, यह जानने का प्रयास किसी भी सिख गुरु ने नहीं किया। यह कार्य दयानन्द ने किया तो उसके प्रति सिखों को कृतज्ञ होना चाहिए। किन्तु नहीं, ऐसा करने से वे आर्यसमाजी हो जाएंगे, इस भय से सत्य को सत्य कहने में उन्हें संकोच होता है।

दयानन्द को छोड़िए, अब उनके आर्यसमाजी अनुयायियों का दृष्टिकोण देखिए। डा. धर्मानंत सिंह ने अपनी पुस्तक 'वैदिक गुरुमति' में इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि **आर्य संगीत पुष्पावली'** में उल्लिखित नानक के ये शब्द **''तू दरियाओ दाना बीना मैं मछली कैसे अंत लहा''** और नवम गुरु के **'राम सिमर राम सिमर एहै तेरै काज है'** शब्द उन्होंने पहली बार इसी पुष्पावली में देखे थे। इसी स्थान पर उन्होंने महात्मा हंसराज के ज्येष्ठ भ्राता लाला मुलखराज भल्ला के उस ट्रैक्ट का उल्लेख किया है जिसमें एक सुरीली कविता **''धर्म हेत गुरु तेग बहादुर जा दिल्ली में शीश दिया''** दर्ज थी।

उन्होंने एक अन्य स्थल पर रहस्योद्घाटन किया है कि ट्रम्प (१८७७) के पश्चात् अंग्रेजी में सिखों से पहले 'जपुजी' का भाष्य आर्य समाजी विद्वान् बाबा छज्जू सिंह ने सन् १८८३ में प्रकाशित किया था। डा. धर्मानंत सिंह ने अपने इस ग्रंथ रत्न में सुप्रसिद्ध आर्य समाजी लेखक डा. सर गोकुल चन्द नारंग का उल्लेख किया है जिन्होंने १९०८ में लन्दन में श्री गुरु गोविन्द

सिंह के जन्मोत्सव पर एक व्याख्यान दिया था । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर के भू. पू. प्रधान राय बहादुर दीवान बदरीदास बैरिस्टर का उल्लेख भी उन्होंने किया है जिन्होंने १९३८ में लाहौर हाईकोर्ट से मुसलमानों के विरुद्ध गुरुद्वारा शहीद गंज (लाहौर) का प्रसिद्ध मुकदमा जितवाया । जब इस महान् सेवा के लिए शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमृतसर ने उन्हें तीस हजार रु. भेंट करना चाहा तो उन्होंने यह कहते हुए रुपये लेने से इंकार कर दिया कि मैंने तो अपने शहीद पूर्वजों की पवित्र यादगार अपनी कौम के हाथों सौंपने के लिए यह सेवा की थी ।

ये कतिपय उदाहरण, जिनके साथ ऐसे ही अन्य ढेर सारे उदाहरण जोड़े जा सकते हैं, सिद्ध करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने सिख धर्म की जो समालोचना की थी वह केवल खण्डन के लिए या कटुता फैलाने के लिए नहीं की थी । स्वामी दयानन्द के समय में सिख साहित्य गुरुमुखी, अंग्रेजी अथवा उर्दू में उपलब्ध था अतः स्वामी दयानन्द ने अपने पंजाबी अनुयायियों से जो सुना, जो देखा, उसी के आधार पर अपने विचार व्यक्त किए। खण्डन-मण्डन का सिलसिला भारतवर्ष में सदियों से चलता आ रहा है, उसका उद्देश्य चिन्तन-मंथन को गति देना रहा है, न कि द्वेष फैलाना ।

इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है । एक बार कुछ सिखों ने नाभा के सिख नरेश को आर्य समाजियों के विरुद्ध भडकाने के उद्देश्य से कहा कि स्वामी दयानन्द ने बाबा नानक के बारे में 'सत्यार्थप्रकाश' में कठोर शब्दों का प्रयोग किया है । राजा ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया: "नानक बाबा थे, दयानन्द भी बाबा थे, एक बाबा ने दूसरे बाबा के बारे में यदि सत्य के नाम पर कुछ लिख ही दिया है तो हम-तुम उससे दुखी क्यों हों?" कटुता को मधुरता में बदलने के इस समझदारी के मार्ग पर यदि चला जाए तो साम्प्रदायिकता को फलने फूलने का अवसर कदाचित् ही मिले ।

८. ऐसी ही बात हमें पं. श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा हुए खण्डन के बारे में सोचनी होगी । जब हम किसी सनातनी अथवा आर्यसमाजी की नीयत पर सन्देह करते हैं तो हमें भूलना नहीं चाहिए कि इन्हीं हिन्दुओं ने सिख धर्म पर शानदार साहित्य की रचना की है और संकट के समय अपना अमूल्य योगदान भी दिया है । इन्हीं हिन्दुओं में ऐसे भी हैं जो गुरुद्वारे में मत्था टेकने जाते हैं, अखण्ड पाठ रखवाते हैं और नियमित रूप से सुखमणि साहब का स्वाध्याय करते हैं । इन्हीं हिन्दुओं में ऐसे परिवार भी हैं जो धर्म-भेद को भुला कर आज भी अपनी कन्याओं का रिश्ता सिख परिवारों में करते हैं । हिन्दुओं के अन्दर वैसी संकीर्णता, कट्टरता और विद्वेष कभी आ ही नहीं सकता जो एक मजहबी जमात की विशेषताएं समझी जाती हैं । सिख धर्म के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा असंदिग्ध रही है । ऐसे विवरणों से डा. धर्मानंत सिंह की उक्त पुस्तक भरी पड़ी है । सिखों में हिन्दू या आर्यसमाजियों के प्रति जो कटुता फैली, वह 'गुरु सिंह सभा' जैसी अतिवादी संस्थाओं द्वारा फैलाए गए भ्रम का परिणाम है । यह उन अतिरंजित निष्कर्षों का परिणाम है जो दीवान चन्दू शाह और पहाड़ी हिन्दू राजाओं के विरोध को समूचे हिन्दू समाज का विरोध मानने से निकाले गए ।

उपर्युक्त पंक्तियों से सहज सिद्ध है कि 'श्री गुरु सिंह सभा' की स्थापना उन कारणों से नहीं हुई जिनका प्रचार प्रायः सिख लेखकों द्वारा किया जाता रहा है । यह सभा 'फूट डालो, राज करो' की

ब्रिटिश नीति का अभिन्न अंग रही है। सिंह सभा की लहर ने अपने निर्माण के कुछ वर्षों के अन्दर जो उपलब्धियां प्राप्त कीं और उनसे पंजाब में अलगाव की जिस प्रवृत्ति ने जन्म लिया उससे लगता है कि सिंह सभा का उद्देश्य जहां सुधार का था, वहां बिगाड़ का भी अवश्य था।

सिंह सभा का उद्देश्य

सन् १८७३ में अमृतसर स्थित मर्जीठियां के बुंगे में एक सभा हुई जिसमें सर बाबा खेम सिंह बेदी, कपूरथला के कुंवर विक्रम सिंह, ज्ञानी हजारा सिंह, सरदार ठाकर सिंह संधावालिया, ज्ञानी सारदूल सिंह, ज्ञानी ज्ञान सिंह अमृतसरी तथा उनके अतिरिक्त अन्य अनेक पुराने रईस, सरदार, गुरुद्वारों के पुजारी सिंह, ज्ञानी, ग्रंथी, उदासी, निर्मले और सिख समाज की श्रेणियों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। ठाकुर सिंह संधावालिया की अध्यक्षता में सम्पन्न इस सभा में 'श्री गुरु सिंह सभा' का गठन हुआ और उसके निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गए:

१. सिख धर्म की चहुँमुखी उन्नति करना।
२. सिख धर्म और सिख इतिहास सम्बन्धी पुस्तकें लिखाना तथा प्रकाशित करना।
३. पंजाबी भाषा के विकास और पंजाबी में साहित्य, पत्रिकाएं तथा अखबार निकालने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना।
४. पतित होकर जो सिख विधर्मी हो गए हैं, अर्थात् जो केश कटाने के अपराधी हैं, जो सरकार के निकट मुफसद गिने गए हैं अथवा जो सिख कौम के विरोधी हैं उन्हें सन्मार्ग पर लाना तथा ऐसे लोगों को तब तक 'गुरु सिंह सभा' का सदस्य न बनाना जब तक वे पतित रहें।
५. उच्च अंग्रेज अधिकारी सभा की विद्या-शाखा के सदस्य बन सकेंगे, किन्तु अन्य कौमों व पंथों के लोग तब तक सदस्य नहीं बन सकेंगे जब तक कि वे सिख धर्म व पंजाबी भाषा के शुभचिन्तक होने का प्रमाण नहीं देंगे। (अंग्रेजों को तो जैसे शुभचिन्तक होने का प्रमाण देने की जरूरत ही नहीं!)
६. अन्य मतों के विरुद्ध कहना-सुनना-लिखना इसका कार्य न होगा।
७. 'सिंह सभा' में कोई बात सरकार विरोधी न होगी।

'श्री गुरु सिंह सभा' अमृतसर के पश्चात् १८७७ में लाहौर में प्रो. गुरमुख सिंह के प्रयास से दूसरी सिंह सभा बनी। १९ अप्रैल १८८० में इसका अमृतसर की सिंह सभा में विलय हुआ और दोनों का सम्मिलित नाम 'श्री सिंह सभा जरनल' रखा गया। इसके पश्चात् स्थान-स्थान पर सिंह सभाएं स्थापित होने लगीं और केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता महसूस हुई। फलतः १८८३ में 'खालसा दीवान' की स्थापना हुई। इसी बीच प्रो. गुरमुख सिंह ने १८८६ में एक अलग 'खालसा दीवान' लाहौर बना लिया क्योंकि वे सिख पंथ में अस्पृश्यता, हिन्दूनुमा सिख रीति-रिवाजों, गुरुद्वारों विशेषकर दरबार साहब परिसर में ठाकुर पूजा, मजहबी रामदासिये सिखों से रोटी-बेटी की सांझ के प्रति बरती जा रही उदासीनता और कुंवर विक्रम सिंह तथा बाबा खेम सिंह बेदी के लिए श्री गुरु ग्रंथ साहब की उपस्थिति में दीवान तथा अन्य अवसरों पर उनके लिए गद्दे व तकिये बिछाने के कट्टर विरोधी थे और ये बातें अमृतसर के खालसा दीवान से खत्म नहीं हो रही थीं। इस नए दीवान

के उद्देश्य पहले दीवान जैसे थे। परन्तु कुछ विशेष उद्देश्य थे जैसे अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का पंजाबी में अनुवाद करना, नारी शिक्षा को प्रोत्साहित करना, सिख-बच्चों के लिए अनाथालय खोलना, दस्तकारी की शिक्षा के लिए स्कूल व कालेज स्थापित करना, साहित्य-प्रकाशन के लिए प्रिंटिंग प्रेस स्थापित करना, अंग्रेज सरकार के आगे मांगों के प्रतिवेदन रखना तथा सिखों को अंग्रेजों की महती कृपाओं से अवगत कराना और सिखों में कौमी एकता पैदा करना जिससे वह अंग्रेज सरकार की नमक हलाली और फरमाबरदारी को पुष्ट कर सकें।

अमृतसर का खालसा दीवान नरम पंथियों का संघ था। 'गुरुमत ग्रंथ प्रचारक सभा' का निर्माण, गुरु पर्वों की तारीखों की खोज, खालसा तवारीख, पंथ प्रकाश, गुरु ग्रंथ साहब कोश और गुरु-तीर्थ संग्रह आदि पुस्तकों का प्रकाशन इसी दीवान ने किया। राजा विक्रम सिंह के प्रयत्नों से 'गुरु ग्रंथ साहब' का भाष्य भी इसी दीवान ने प्रकाशित कराया। १८९४ में 'खालसा ट्रैक्ट सोसायटी' का निर्माण हुआ जो अब तक कार्यरत है।

लाहौर का खालसा दीवान गरम पंथियों का संघ था। खालसा स्कूल, कन्या पाठशाला, गुरुद्वारों की मरम्मत, विलुप्त गुरुद्वारों की खोज, गुरुमुखी अखबार, पत्रिकाएं, खालसा गजट निकालना, १८८७ में गुरुमुखी टाइप तैयार कराना, गुरु ग्रंथ साहब प्रकाशित करना आदि इसके विशेष कार्य थे। इसके अतिरिक्त इस दीवान के पास भाई दित्त सिंह ज्ञानी, प्रो. गुरुमुख सिंह, भाई काहन सिंह नाभा और भाई मोहन सिंह वैद्य सरीखे सबल लेखक थे जिन्होंने हिन्दू व सिखों के बीच दरार पैदा करने वाला साहित्य लिखा। भाई काहन सिंह की पुस्तक **'हम हिन्दू नहीं'** विशेष रुप से चर्चित रही। दित्त सिंह ज्ञानी ने विशेषकर दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति विष वमन किया। प्रो. गुरुमुख सिंह ने सिख धर्म में आए हिन्दू प्रभावों के विरुद्ध जिहाद छेड़ा। मैकालिफ की 'सिख रिलीजन' पुस्तक जो छह खण्डों में थी, इस दीवान के सहयोग से ही लिखी गई थी। नानक की पुरातन जन्म साखी को १८८५ में प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी दीवान को है। अप्रैल १८८३ में डा. जै सिंह ने 'शुद्धि सभा' की स्थापना की, जिसे सफल बनाने के लिए १८९६ में 'खालसा धर्म प्रकाशक शुद्ध पत्र' नामक पत्र शुरू किया गया। १८९७ में उन्हीं के प्रयास से 'गुरुमत ग्रंथ' सुधारक कमेटी' बनी।

जून १८९६ में खालसा दीवान लाहौर के मुख्य स्तम्भ सर अतर सिंह का, अगस्त १८९८ में राजा विक्रम सिंह का, सितम्बर १८९८ में प्रो. गुरुमुख सिंह का और सितम्बर १९०१ में भाई दित्त सिंह का देहांत हो जाने से ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गई कि ३० अक्तूबर १९०२ को लाहौर व अमृतसर के दोनों दीवानों ने मिलकर 'चीफ खालसा दीवान' का गठन किया जो उस समय सिखों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था थी। आनन्द मैरिज ऐक्ट, सेंट्रल अनाथालय अमृतसर और खालसा प्रचारक विद्यालय तरन तारन के कारण चीफ खालसा दीवान प्रसिद्ध रहा। सन् १९१९ तक चीफ खालसा दीवान ब्रिटिश सरकार का पिछलगू बना रहा। १९१९ के जलियांवाला बाग के नर-संहार के नायक डायर को, जो कि दरबार साहब पर भी गोली चलाने का इच्छुक था, जब श्री दरबार साहब के प्रबधंकों ने सरोपा भेंट किया तो आम सिख चीफ खालसा दीवान का विरोधी और अकाली लहर का समर्थक बन गया। अकाली लहर ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, खालसा दीवान की शक्ति त्यों-त्यों घटती गई।

'गुरु सिंह सभा' के और चीफ खालसा दीवान के इस इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, प्रिंटिंग प्रेसों, स्कूल-कालेजों की बांढ़ ला कर

उसने सिख मानस का कायाकल्प करके रख दिया जिसके परिणाम स्वरूप सिखों में 'अपनी पहचान' के प्रति व्यामोह बढ़ा, हिन्दुओं से अलगाव की मनोवृत्ति पैदा हुई और एक पंथ, एक कौम, एक राष्ट्र की भावनाओं का उनमें प्रस्फुटन हुआ। शेष हिन्दू समाज से अपने को सर्वोपरि मानने का अहं भी उनमें पैदा हुआ। नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में श्री गुरु सिंह सभाओं की स्थापना से एक ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिससे सिखों में अपने धर्म के प्रति श्रद्धा और कट्टरता साथ-साथ पनपती गईं। 'आनन्द मैरिज ऐक्ट' और 'गुरु पर्वों की खोज' तथा नए तीर्थों का विकास आदि ऐसी बातें हुईं जिनसे आम सिख शेष हिन्दू समाज से कटता चला गया। इस कालखण्ड में सिखों और अंग्रेजों के सम्बंध अत्यंत प्रगाढ़ रहे। अंग्रेजों के प्रति सिखों में इतना विश्वास जम गया कि उन्होंने स्वर्ण मन्दिर सहित अनेक गुरुद्वारों और स्कूल-कालेजों की चाबी अंग्रेजों को सौंप रखी थी। इस स्थिति का ही यह परिणाम था कि समूचे भारत में सिख ही ऐसी वफादार कौम थी जिसपर अंग्रेज को पूरा भरोसा था। इस भरोसे के बल पर ही सिखों ने अनेक गुरुद्वारे महंतों से छीन लिए, स्वर्ण मन्दिर परिसर से हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियों को अपमानित करके बाहर फेंक दिया, सहजधारियों को धीरे-धीरे गुरुद्वारों से निष्कासित कर दिया। केशधारियों को ही 'गुरु सिंह सभा' का सदस्य बनाने की जो शर्त रखी गई थी उससे स्पष्ट है कि सहजधारियों को सिक्खी से पूर्णतया वंचित कर दिया गया था। आश्चर्य है कि अंग्रेज उसके सदस्य बन सकते थे, हिन्दू नहीं।

गदर का वरदान

१८५५ में जब अंग्रेजों ने भारत में जनगणना का प्रथम प्रयोग किया तो सिखों की अलग गणना नहीं हुई थी क्योंक १८५५-५६ की पंजाब प्रशासनं रिपोर्ट के अनुसार– "आधुनिक सिक्खी एक ऐसे राजनीतिक संगठन को कहा जा सकता है जिसका जन्म पूर्णरूप से हिन्दुओं के भीतर से हुआ है और जिसमें कोई व्यक्ति समय विशेष की परिस्थितियों के अनुसार प्रवेश ले सकता है अथवा बाहर जा सकता है। कोई व्यक्ति उस प्रकार सिख के नाते जन्म नहीं लेता जिस प्रकार वह जन्म से हिन्दू या मुसलमान हो सकता है। सिख बननें के लिए उसे विशेष संस्कार से गुजरना होता है।

अनेक अंग्रेज लेखकों ने सिखों को हिन्दुओं का अभिन्न अंग माना है। वस्तुतः सिख पंच ककारों के कारण हिन्दुओं से पृथक् लगते थे किन्तु खालसा के लिए निर्धारित पंच ककार (केश, कृपाण, कड़ा, कंघा व कच्छा) किसी धार्मिक पंथ के प्रतीक न होकर सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए थे। गुरु नानक विश्वविद्यालय, अमृतसर के कुलपति प्रसिद्ध इतिहासकार डा. जे. ग्रेवाल के अनुसार गुरु गोविन्द सिंह का आग्रह केवल केश और कृपाण धारण करने पर ही था, क्योंकि 'पंच ककारों' का उल्लेख समकालीन साक्षियों में उपलब्ध नहीं है। वर्तमान 'पंच ककारों' के बजाय पाँच शस्त्रों का उल्लेख अवश्य मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि 'खालसा' को पृथक् पंथ के रूप में स्वीकारने की बौद्धिक प्रतिभा का आविष्कार तब तक नहीं हुआ था।

चतुर अंग्रेज की समझ में जब यह बात आई कि अमृतधारी सिख खालसा हिन्दू समाज की सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति हैं, तो उन्होंने इस पंक्ति को तोड़ना अपने हित में समझा। १८५५ की प्रथम जनगणना के समय सिख निराशाजनक स्थिति में थे। सिख बहुसंख्यक क्षेत्र उस समय अंग्रेजों के दमन का शिकार था। रणजीत सिंह की सेना के सिख सैनिकों को अपमानित करके फौज से निकाल दिया गया था। हीनता की भावना से आक्रांत सिख अपनी बदनसीबी का कारण पंच ककारों को

मानने लगे और उन्हें त्यागने की प्रबल इच्छा शक्ति उनमें पैदा हुई । किन्तु १८५७ के गदर में सिखों ने अंग्रेजों को भारी सहायता पहुँचा कर उनका विश्वास जीत लिया । स्थिति ने एकदम पलटा खाया और जिन सिखों को अंग्रेज 'गन्दा सिपाही' कह कर दुतकारा करता था उन्हें धड़ाधड़ सेना में भरती किया जाने लगा । अनेक इतिहासकारों का मत है कि यदि १८५७ का गदर न होता तो सिख धर्म का अस्तित्व या तो पूर्णतः मिट जाता या फिर एक मामूली सी गद्दी तक सीमित हो कर रह जाता । एक अंग्रेज प्रशासक सी. एच. पाह ने भी इससे सहमति प्रकट करते हुए लिखा था – "इसमें तनिक सन्देह नहीं कि यदि सेना में सिखों की भरती के दरवाजे नहीं खुले होते तो वे अब तक अपने चारों ओर छायी हुई विभिन्न हिन्दू जातियों में विलीन हो गए होते ।" अतः कहा जा सकता है कि गदर सिखों के लिए वरदान बन कर आया था । इससे सिख पंथ में स्फूर्ति आई । गदर के पश्चात् अंग्रेजों ने सेना में हिन्दुओं के प्रवेश पर अंकुश लगाया तो दूसरी ओर सिखों की निर्बाध भरती शुरू की । परिणामतः पंजाब के लोग केश रखने लगे, पाहुल संस्कार में दीक्षित होने लगे । सेना में उन्हें हर सम्भव उपाय द्वारा हिन्दुओं से पृथक रखा जाने लगा और उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता भरी जाने लगी । इसका परिणाम यह निकला कि पंजाब में हिन्दुओं का प्रतिशत कम होने लगा और सिखों का प्रतिशत बढ़ने लगा । १८६८ की जनगणना में सिखों को हिन्दुओं से अलग दिखाने की चेष्टा की गई जिससे अंग्रेज यह सिद्ध करना चाहता था कि ये दोनों कौमें भिन्न-भिन्न हैं । फूट के इस बीज को पंजाब ने आराम से अंकुरित होने दिया । निम्न तालिका से समझा जा सकता है कि किस प्रकार पंजाब में हिन्दू शनै-शनै घटते गए, सिख बढ़ते गए ।

जनगणना वर्ष	हिन्दू प्रतिशत	सिख प्रतिशत
१८८१	४३.८४	८.२२
१८९१	४४.०८	८.०९
१९०१	४१.२७	८.६३
१९११	३५.७९	१२.११
१९२१	३५.०६	१२.३८
१९३१	३०.१८	१४.२९
१९४१	२९.७९	१४.६२

इसी कालखण्ड में गुरु सिंह सभा की लहर उठी जिसने सिखों का प्रतिशत बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया क्योंकि उसने अंग्रेज के प्रति वफादारी दिखा कर इतनी असीम सुविधाएं अर्जित कर लीं कि पंजाब के लोग सिख बनने को लालायित रहने लगे । सिंह सभा के धुआँधार प्रचार से अब केशधारी सहजधारी बनने में संकोच करने लगे थे । अंग्रेजों की कुटिल नीति और सिंह सभा की प्रचार नीति ने मिल कर हिन्दू-सिखों के मध्य दीवार उठाने में इस प्रकार सफलता अर्जित की ।

Map of the Sikh Nation : Khalistan
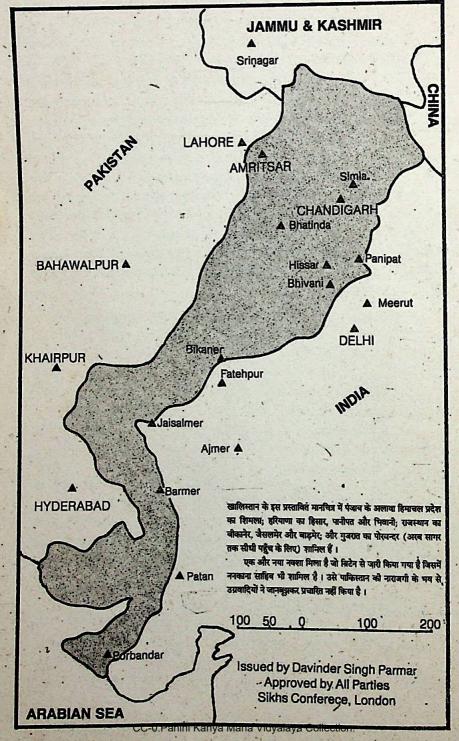
१ अकाली दल का जन्म : खालिस्तान की रणभेरी

अकाली दल का जन्म मुख्य रूप से महंतों की दासता और ब्रिटिश सरकार के प्रभाव से गुरुद्वारों को मुक्त कराने के लिए हुआ था।

सन् १९२० तक सिक्खी पूर्णतया अंग्रेज-भक्ति का पर्याय बन चुकी थी। यह स्थिति उन सिखों को स्वीकार नहीं थी जो सिक्खी सिद्धांतों के प्रति कट्टर एवं आस्थावान थे। सिक्खी के प्रति पूर्णतया समर्पित इन लोगों ने सिक्खी को हिन्दू व अंग्रेज प्रभावों से सर्वथा मुक्त करने के लिए दिसम्बर १९२० में अकाली दल की स्थापना की जो बाद में शिरोमणी अकाली दल कहलाया। इसके नेतृत्व में अनेक प्रचण्ड आन्दोलन किये गए। १९२०-१९२५ के कालखण्ड में अकाली दल ने गुरुद्वारों को ब्रिटिश सरकार व महंतों की दासता से मुक्त कराने का बीड़ा उठाया।

किन्तु जिन लोगों ने अकाली दल का गठन किया वे इससे भी बहुत पहले सक्रिय हो चुके थे। १९११ में अंग्रेजों की राजधानी कलकत्ते से उठकर नई दिल्ली (रायसीना) आ गई थी। १९१४ में सरकार ने लैंड एक्वीजीशन ऐक्ट के अन्तर्गत वायसराय की कोठी की सड़क सीधी निकालने के लिए गुरुद्वारा रकाबगंज की कुछ जमीन ले ली और उसकी बाहरी दीवार ढहा दी। इसे लेकर सिखों ने आन्दोलन चलाया और सरकार को अपना कदम पीछे हटाना पड़ा। सिखों और अंग्रेजों की यह पहली झड़प हुई जिसमें सिख विजयी रहे। इस विजय ने सिखों में राजनैतिक, पंथिक और कौमी चेतना जगायी और पहली बार समूचा सिख जगत एक मंच पर आ इकट्ठा हुआ। इस विजय से प्रेरणा प्राप्त कर उग्रवादी सिखों ने गुरुद्वारों को महंतों से मुक्त कराने का आन्दोलन शुरू किया।

महंतों का अनाचार

ख़ालसा दीवान माझा की १९०३-४ की रिपोर्ट के अनुसार तरनतारन का गुरुद्वारा व्यभिचार का अड्डा बना हुआ था। औरतों का अपमान, गुण्डागर्दी, अमावस के मेले पर लोगों का शराब पीकर परिक्रमा करना, गन्दें गीतों व छेड़खानियों का क्रम, बेरों व लड्डुओं की झोलियां औरतों पर उंडेलना, दर्शनी ड्योढी के सामने मुजरे व रास आदि होना वहाँ आम बात हो चली थी। ऐसी ही दशा ननकाना साहब की थी जहाँ के महंत साधुराम, किशनदास, नारायणदास एक के बाद एक तीनों ही शराबी-कबाबी-व्यभिचारी थे। १९०५ तक अमृतसर का दरबार साहब परिसर मूर्तिपूजा का गढ़ बन

गया जबकि सिख धर्म में अवतारवाद, देवी-देवताओं तथा मूर्तिपूजा का पूर्णतया निषेध था। सिख धर्म छुआ-छूत का भी विरोधी है, किन्तु दरबार साहब में एक बोर्ड टंगा हुआ था जिस पर लिखा था कि- "कोई अछूत ११ बजे से पहले दाखिल न हो" दरबार साहब का प्रबंधक सुन्दर सिंह अछूत सिखों का प्रसाद नहीं लेता था। इसी दरबार साहब में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के हीरो पंजाब के गवर्नर डायर को सरोपा भेंट किया गया जिसे सिख संगत ने पसंद नहीं किया। १९०६ में यात्रियों ने देखा कि मुक्तसर के गुरुद्वारे का महंत शराब में मदमस्त होकर गाने-बजाने का आनन्द ले रहा है। पंजा साहब गुरुद्वारे के महंत मिठ्ठा सिंह ने गुरुद्वारे की जमीन ही अपने नाम करा ली थी। पटना साहब के महंत मुकन्द सिंह ने तो सिख रागियों का तख्त पर चढ़ना तक बन्द कर रखा था।

इस समूची दयनीय दशा से मुक्ति पाने के लिए 'खालसा समाचार', 'खालसा एडवोकेट' 'पंथ सेवक', 'द खालसा', 'लायल गजट' आदि सिक्खी अखबार वर्षों से सिखों को उत्तेजित व प्रेरित करते आ रहे थे। मई १९२० में दैनिक 'अकाली' पंजाबी अखबार लाहौर से निकलना शुरू हुआ जिसने सिखों में नई रूह भर दी। 'अकाली' अखबार का दफ्तर सिख बुद्धिजीवियों की गोष्ठियों का केन्द्र बन गया और गुरुद्वारों को मुक्त कराने की लहर उठी। अक्तूबर १९२० में स्यालकोट स्थित गुरुद्वारा 'बावे दी बेर' तथा इसी महीने में जलियाँवाले बाग में पिछड़ी जातियों को अमृत छका कर करतार सिंह झब्बर, तेजासिंह चूहड़काना, तेजासिंह भुल्लर के नेतृत्व में दरबार साहब और अकाल तख्त को मुक्त करा लिया गया।

इसी बीच १९१९ में सिखों की राजनैतिक पार्टी 'सेंट्रल सिख लीग' और अप्रैल १९२१ में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का पंजीकरण हुआ। दिसम्बर १९२० में गुरुद्वारा पंजा साहब (लाहौर) पर सिखों का अधिकार हुआ, जनवरी १९२१ में गुरुद्वारा तरनतारन को मुक्त कराया और फरवरी १९२१ में गुरुद्वारा नौरंगाबाद तथा खडूर साहब का प्रबन्ध ठीक किया। १९२१-१९२२ में ननकाना साहब को आजाद कराया। अकाली दल राजनैतिक उद्देश्य के लिए दरबार साहिब की सम्पत्ति का दुरुपयोग न कर सके, इसलिए वहाँ के प्रबन्धक ने दरबार साहब की चाबियां १९२१ में सरकार को सौंप दी थीं। इन चाबियों को सरकार से प्राप्त करने के लिए सिखों ने कुन्जी आन्दोलन शुरू किया और १९२२ में उन्हें सरकार ने कुंजियां (चाबियां) लौटा दीं। १९२२ में ही 'गुरु का बाग' से महंत का अधिकार खत्म कराया। फरवरी १९२३ में मुक्तसर का गुरुद्वारा मुक्त कराया और मार्च १९२३ में आनन्दपुर साहब के गुरुद्वारे पर सिखों ने कब्जा किया।

जैतो का मोर्चा

सितम्बर १९२३ से जुलाई १९२५ तक अकालियों ने सरकार के विरुद्ध जैतो का मोर्चा लगाया जिसका कारण यह था कि सरकार ने पटियाला नरेश का पक्ष मानते हुए नाभा नरेश रिपुदमनसिंह (जिन्होंने इंपीरियल लैजिसलेटिव कौंसिल में आनन्द मैरिज बिल पेश किया था) को राजअधिकार से वंचित कर दिया था। रिपुदमनसिंह के समर्थन में उन्हें पुनः गद्दी दिलाने के लिए अकाल तख्त अमृतसर से लगभग २० जत्थे भेजे गए। जैतो के गुरुद्वारा गंगासर में जो कि आन्दोलनकारियों का नाभा रियासत में प्रमुख केन्द्र था, अंग्रेजों ने अखंड पाठ पर पाबंदी लगा दी। जुलाई १९२५ में यह पाबंदी सरकार ने हटा ली और मोर्चा बिना किसी विशेष उपलब्धि के उठा लिया गया।

इन विविध मोर्चों व आन्दोलनों में सिखों ने एकता, त्याग और बलिदान के अनेक मील के पत्थर

स्थापित किये जिनसे आने वाली नस्लें आजतक प्रेरणा व प्रकाश लेती रही हैं। इन आन्दोलनों ने सिखों के प्राचीन इतिहास को मुखर कर उनमें सैन्य वृत्ति जगाई। केन्द्रीय सत्ता के प्रति उदासीनता और अवमानना के भाव भरे। १९२०-२५ के इस आन्दोलन भरे कालखण्ड में सिखों ने एक हजार से अधिक बलिदान दिये, साठ हजार के लगभग गिरफ्तारियां दीं और लाखों रुपये जुर्माना भरा। सिखों के लिए यह संघर्ष-काल स्वर्णयुग सिद्ध हुआ क्योंकि इन आन्दोलनों व उनमें प्राप्त विजयों ने सिखों के उज्ज्वल भविष्य के लिए एक मजबूत आधार प्रदान किया किन्तु इससे पंजाब की सामाजिक एवं धार्मिक एकता छलनी-छलनी हो गई और कटुता, घृणा, विद्वेष, वैमनस्य ने अपने पाँव समूचे पंजाब में फैला लिये जिसका प्रभाव आजतक अंकित है।

सिखों का यह आन्दोलन महंतों और सरकार के विरुद्ध था, किन्तु अनायास हिन्दू व अन्य वर्गों को भी उसने लपेट लिया। स्वर्ण मन्दिर से मूर्तियां बाहर फिंकवाने की घटना ने हिन्दुओं में सिखों के प्रति कटुता पैदा कर दी और वे अनायास महंतों की ओर झुक गए। फलतः जब सिखों ने 'ननकाना साहब' की मुक्ति के लिए चढ़ाई की तो उसे विफल करने के लिए महंतों ने फरवरी १९२१ में लाहौर में करतार सिंह बेदी की अध्यक्षता में 'सनातनी सिख कांफ्रेस' बुलाई जिसमें बेदी, सोढ़ी, भल्ले, उदासी, निर्मले, नामधारी, निहंग, अड्डनशाही, सुथरे, गहिर गंभीरिए, निरंकारी, चरणदासिए सहजधारी, सनातनी, महंत, संत और पुजारी आमंत्रित किए गये थे। ननकाना साहब के महंत ने करतार सिंह बेदी के साथ मिलकर साठ हजार रुपये संग्रह किया और 'संत सेवक' नामक साप्ताहिक अखबार लाहौर से निकाला जो अकाली आन्दोलन व सिखों के विरुद्ध जहरीला प्रचार करता रहा, ठीक उसी तरह जैसे उस समय के सिख अखबार कर रहे थे। परिणामतः ननकाना साहब जो प्रेम और शांति का प्रतीक था, इंसानों के खून से लाल हो उठा। इसकी देश भर में तीखी प्रतिक्रिया हुई।

ननकाना में शिवलिंग

मार्च १९२१ में गांधी और शौकत अली ननकाना साहब गये और इसे महंतों व सरकार के सम्मिलित अत्याचार की संज्ञा दी और जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड से भी अधिक अमानुषिक बताया। सिखों को शिकायत रही कि एक ओर राष्ट्रीय नेता ननकाना सहाब में हुए सिखों के हत्याकाण्ड की निन्दा कर रहे थे और दूसरी ओर 'प्रताप' और 'केसरी' जैसे आर्यसमाजी अखबार प्रचारित कर रहे थे कि ननकाना साहब में शिव लिंग भी स्थापित था। इस प्रचार का आधार सच्चा था या झूठा, इस बारे में आज कुछ कहना कठिन है किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकार अनेक हिन्दू मंदिरों को मुसलमानों ने मस्जिद बना दिया वैसे अनेक हिन्दू देवालयों को गुरुद्वारा बना दिया गया था। हिन्दू कभी संकीर्ण नहीं रहा, नानक के धर्म में उसकी भी श्रद्धा थी, अतः अनेक मन्दिरों में ग्रंथ साहब भी रख दिया जाता था। बाद में इन मन्दिरों को ग्रंथ साहब के कारण गुरुद्वारा घोषित कर दिया गया। प्रश्न यह है कि कैसे गुरुद्वारे महंतों के कब्जे में चले गये थे; जबकि पंजाब की राजसत्ता हमेशा मुसलमानों अथवा सिखों के हाथ में रही? इतिहास-पुराण के पन्नों को पलट कर आज कहा भी जा रहा है कि स्वर्ण-मन्दिर स्थित सरोवर हिन्दू साहित्य में उल्लिखित 'अमृत कुण्ड' है। ('नवभारत टाइम्स' २९ जुलाई १९८४)। आर्यसमाजी अखबार यदि महंतों का समर्थन कर रहे थे तो उससे यह कैसे मान लिया जाए कि वे किसी ऐतिहासिक सत्य की रक्षा के लिए नहीं, अपितु सिखों से द्वेष होने के कारण ऐसा कर रहे थे? गाँधी जी स्वयं गुरुद्वारों पर जबरन

अधिकार करने की सिखों की नीति के कभी समर्थक नहीं रहे। गांधी जी ने उन लोगों को कभी शहीद नहीं माना जो ननकाना साहब में मरे थे। लाला लाजपतराय ने भी १६ नवम्बर १९२१ में बन्दे मातरम् में सिखों की जोर-जबरदस्ती को उचित नहीं माना था।

सिखों में हिन्दुओं के प्रति इतना विद्वेष था कि पहले तो उन्होंने स्वर्ण मन्दिर परिसर से हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ बाहर फेंक दीं और जब ८ मार्च १९२२ को दरबार साहब के अनुरूप दुर्ग्याना मन्दिर की आधार शिला पं. मदन मोहन मालवीय ने रखी, तो कहा गया कि यह हिन्दुओं को सिखों से अलग करने की आर्य समाजी शरारत का ही नतीजा है। (हरजीत सिंह दिलगीरः 'शिरोमणि अकाली दल' पृ. ७८)। आर्य समाजियों के मन में सिखों के प्रति यदि दुर्भावना होती तो सितम्बर १९२२ में स्वामी श्रद्धानन्द व लज्जावती अकाल तखत में 'गुरु का बाग' के सम्बंध में सरकार की निन्दा न करते और स्वामी श्रद्धानन्द 'गुरु का बाग' सत्याग्रह में जेल न जाते। एक अन्य आर्यसमाजी सर गंगा राम की मध्यस्थता से इस समस्या का समाधान न निकलता।

फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यह युग पुनरुत्थान का युग था, हर धर्म व संगठन अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत था। अतः संक्रान्ति काल में उत्तेजना, पारस्परिक विरोध और कटुता का पैदा होना स्वाभाविक था। अकाली यदि हिन्दू व आर्यसमाजियों पर दोषारोपण करते थे तो वे खुद भी दूध के धोये न थे। कुछ महंत आनाचारी होंगे, इससे इंकार नहीं, किन्तु सभी महंतों को दुराचारी प्रचारित करना झूठ की पराकाष्ठा थी जिसे अकालियों ने पंथ, अपने संख्या बल, संघटन शक्ति और अखबारों व आन्दोलनों के बल पर प्रचारित किया। गुरुद्वारों को अपवित्र करने के विरुद्ध यदि सिखों में सच्चा रोष था तो वह आज कहाँ चला गया?

अकाल तख्त में सुरा-सुन्दरी के दौर संत जरनैलसिंह भिंडरावाला, खालिस्तान के अलम्बरदारों, शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबंधक कमेटी तथा शिरोमणि अकाली दल की जानकारी के होते चलते रहे, लेकिन किसी गुरु के सिख के मुख से इसके विरुद्ध एक शब्द तक नहीं निकला और यहाँ तक कि जब श्वेत-पत्र में इस शर्मनाक काण्ड पर प्रकाश डालने का प्रश्न उठा तो भारत सरकार व कांग्रेस (आई.) की सिख लाबी ने इस पर मिट्टी डालने की जी-तोड़ कोशिश की जिससे पंथ और गुरुद्वारों की सार्वजनिक रूप से बदनामी न हो। जब बाबा संता सिंह सिख समाज से पूछते हैं कि अकाल तख्त के मलबे में शराब की बोतलें कैसे निकल रही हैं तो उन्हें तनखैया, पंथ-द्रोही, सरकार का पिट्ठू कहा जाता है और सिख संगत से बहिष्कृत कर दिया जाता है। सुरा-सुन्दरी की एक ऐसी ही घटना दिल्ली के गुरुद्वारा शीशगंज में भी घटी थी, तब भी उस पर चुप्पी साध ली गई थी।

गुरु नानक ने माँसहारियों को कुत्ता कहा है, शराबियों को राक्षस माना है किन्तु आज कितने सिख ऐसे हैं जो इन अभक्ष्य पदार्थों से परहेज करते हैं? नामधारियों ने इन दोनों पदार्थों को अपने जीवन से निकाल दिया था, लेकिन सिखों ने उन्हें पंथ द्रोही मान कर दुतकारा। गुरु गोविन्द सिंह व बाबा रामसिंह ने गोरक्षण की बात कही, लेकिन अकाली नेता मा. तारासिंह ने एक बार कहा कि गाय के माँस और अन्य पशुओं के माँस में कोई अन्तर नहीं अर्थात् गाय और सुअर को वे एक समान ही मानते थे। आतंकवादियों ने तो गायों के कटे अंगों को हिन्दू मन्दिरों में डाल कर अपने को और भी प्रगतिशील दिखाने का प्रयास किया है। गुरु गोविन्दसिंह ने नैना देवी पर हवन करके इसकी महत्ता में अपनी आस्था प्रकट की, किन्तु उनके सजाए सिंह अबोहर के आर्यसमाज मन्दिर में बने हवन कुण्ड में जाकर मूत्र-विसर्जन करते हैं और सिख समाज बजाय इस निर्लज्जता की निन्दा करने के अपराधियों को बचाने का प्रयास करता है। अभी पिछले दिनों उन्होंने श्रीनगर का हजूरी बाग आर्यसमाज मन्दिर

जला कर राख कर दिया । यह रोष व जोश क्या दुर्बल और रुग्ण मानसिकता का परिचय नहीं देता? यही मानसिकता १९२०-२५ में अकालियों के तेवर को टेढ़ा करती रही है, महंतों व सरकार के विरुद्ध ही नहीं अपितु समूचे हिन्दू समाज के विरुद्ध ज़हर उगलती रही है ।

गुरुद्वारा ऐक्ट १९२५.

इस बात से इंकार करने का कोई बहाना अकालियों के पास नहीं है कि अपना राजनैतिक बर्चस्व बनाने के लिए ही गुरुद्वारों को महंतों से छीनने व हथियाने का सिलसिला शुरू किया गया था । इस आन्दोलन के पश्चात अकाली दल भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उभर कर सामने आया और पंजाब में उसे एक विशेष घटक बनने का गौरव प्राप्त हुआ । बांद का इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि जब भी ऐसे शक्ति ग्रहण करने की आवश्यकता महसूस हुई उसने 'पंथ खतरे में' की गुहार लगाकर और किसी न किसी आन्दोलन की शुरुआत कर जीवन-शक्ति प्राप्त की ।

१९२०-२५ के आन्दोलनों का एक महान् उपलब्धि अकालियों को यह मिली कि 'गुरुद्वारा ऐक्ट' -१९२५ उन्हें प्राप्त हुआ जो उनकी राजनैतिक शक्ति का सुदृढ़ आधार बना । इस कानून के जरिए सिख पंथ को राज्य के अन्दर एक लघु राज्य का दर्जा मिल गया । इसे स्वीकार करते हुए हरजिन्दर सिंह दिलगीर लिखते हैं - "गुरुद्वारा ऐक्ट का उस समय के अनेक सिख नेताओं ने विरोध किया था । कईयों ने सख्त विरोध किया पर उन्हें कदाचित् यह पता न था कि इस ऐक्ट के बन जाने से उनकी शक्ति संघटित हो गई है । इसी ऐक्ट के कारण सिखों अथवा शिरोमणि अकाली दल का अस्तित्व बनाये रखने में भारी सहायता मिली और वह भी संकट की उस घड़ी में जबकि इस ऐक्ट के अभाव में अकाली दल खत्म हो गया होता । इस ऐक्ट के कारण सिखों ने एक अर्द्ध राज्य (हाफ स्टेट और स्टेट विदइन ए स्टेट) वाली स्थिति प्राप्त कर ली थी । इसका नतीजा १९२६ से आज तक साफ नजर आता है ।" (दिलगीरः शिरोमणि अकाली दल, पृ. ९६)

'गुरुद्वारा ऐक्ट' दीर्घ प्रयत्नों व समझदारी का फल था । ननकाना साहब के कत्लेआम के बाद फरवरी १९२१ से ही इसकी आवश्यकता अनुभव होने लगी थी । १४ मार्च १९२१ को मियाँ फ़ज़ल हुसैन ने पंजाब कौंसिल में इस आशय का प्रस्ताव रखा था कि गुरुद्वारों के झगड़े निपटाने तथा उनके सुप्रबंध के लिए गर्वनर जनरल अध्यादेश जारी करें और जब तक इसके सम्बंध में ऐक्ट नहीं बनता तब तक विवादास्पद गुरुद्वारों के प्रबंध के लिए सरकार तीन सदस्यों का आयोग गठित करे । सिख सदस्यों के विरोध के बावजूद यह प्रस्ताव पारित हो गया । अप्रैल १९२१ में फ़जल हुसैन ने इस प्रस्ताव को बिल के रूप में कौंसिल में रखा और इसे सिलैक्ट कमेटी को सौंप दिया गया । कमेटी के सिख सदस्यों ने यहाँ भी इसका विरोध किया और कमेटी से यह बात मनवा ली कि (१) अच्छे आचरण वाला महंत ही गुरुद्वारे में रहे (२) प्रबंध के लिए पंथिक कमेटी बने और (३) आय-व्यय का हिसाब पब्लिक को दिया जाए । किन्तु महंतों ने यह माँग की कि १९२० वाली मर्यादा रखी जाए और सिख के बजाय यूरोपियन प्रधान रहे । फलतः कांफ्रेंस फेल हो गई ।

इसके बाद नवम्बर १९२२ में फ़ज़ल हुसैन ने फिर प्रयास करके गुरुद्वारा बिल पंजाब कौंसिल में पेश किया । बिल बनाने वाली कमेटी में पाँच सिख सदस्य थे लेकिन पाँचों ने ही कमेटी से त्यागपत्र देकर इस बिल को जन्म से पूर्व ही मार दिया ।

नवम्बर १९२४ में गुरुद्वारा ऐक्ट बनाने के लिए तीसरा प्रयास शुरू हुआ और अनथक प्रयासों

के फलस्वरूप जनवरी १९२५ में जाकर इसका प्रारूप तैयार हुआ । इस ऐक्ट में पूर्वी पंजाब के ६४ व पश्चिमी पंजाब के १७७ विवादास्पद गुरुद्वारों की सूची तैयार हुई । एक अन्य सूची ११६ अखाड़ों व डेरों की थी किन्तु इन्हें गुरुद्वारा नहीं माना गया । ऐक्ट के अनुसार कोई भी ५० सिख किसी गुरुद्वारे को कमेटी के अधीन करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकते थे । इस ऐक्ट के अनुसार गुरुद्वारों के चुनावों का भी प्रबंध हुआ और पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी मतदान का अधिकार मिला । शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी में इस ऐक्ट को लेकर मतभेद रहा किन्तु इसे समय की आवश्यकता समझते हुए स्वीकार कर लिया गया । शि. गु. प्र. क. चाहती थी कि अकाल तख्त और केशगढ़ भी उसके पास रहें और गुरुद्वारों की आमदनी धर्म, विद्या व दान पर व्यय हो ।

'गुरुद्वारा ऐक्ट' के इस इतिहास से स्पष्ट है कि जोर-जबरदस्ती से गुरुद्वारों को हथियाने वाले उग्रवादी सिख किसी वैधानिक व्यवस्था को अपने लिए लाभदायक नहीं समझते थे । वे केवल संघर्ष व आन्दोलनों में विश्वास रखते थे इसी कारण बिल को ऐक्ट बनाने में अडंगेबाजी लगाते रहे । सिखों के 'गुरुद्वारा झपटो' आन्दोलन को लेकर जब यह राष्ट्रीय मत बनता चला गया और अखबारों में यह आशय प्रकट होने लगे कि संघर्ष का पथ छोड़कर वैधानिक उपायों द्वारा विवादास्पद गुरुद्वारों के मामले तय हों, तो विशेषतः सिखों को यह ऐक्ट स्वीकार्य हुआ ।

फिर अंग्रेजों की झोली में

'गुरुद्वारा ऐक्ट' बन जाने से सिखों के आन्दोलन ठंडे पड़ गए किन्तु ये आन्दोलन यह प्रभाव छोड़ गए कि उन पर अंग्रेज-भक्ति का जो लेबुल चिपका हुआ था, वह उखड़ गया । फलतः अंग्रेजी सेना में पंजाब-सरहदी सूबा-कश्मीर के ४७ प्रतिशत फौजियों में सिखों की संख्या जो १९.२ प्रतिशत थी वह घटा कर १९३० में १३.५८ प्रतिशत कर दी गई । दूसरी ओर १९१४ में मुस्लिम सैनिकों का प्रतिशत जो ११.१ था वह १९३० में २२.२ प्रतिशत हो गया । सर सय्यद अहमद खाँ और अन्य अंग्रेज परस्त मुस्लिम नेताओं के प्रयासों का यह फल था कि १८५७ के गदर में मुस्लिम विरोध की कड़वाहट को अंग्रेज भूल गया । किन्तु अंग्रेजों की इस नीति के कारण सिख नेतृत्व के आगे वही चिन्ता व संकट आ खड़ा हुआ जो लाहौर पतन के पश्चात् सेना से सिख सैनिकों को निकालने से आ खड़ा हुआ था । गुरुद्वारा आन्दोलन के कारण सिखों व अंग्रेजों के सम्बध तनावपूर्ण हो गए थे किन्तु सिख नेतृत्व को सूझ नहीं रहा था कि वह अंग्रेज सरकार की कृपा के पात्र कैसे बने रहें ।

सिखों के सौभाग्य से १८५७ के गदर की तरह द्वितीयं महायुद्ध छिड़ गया । संकट की इस घड़ी में अंग्रेजों को वफादार, बहादुर सैनिकों की जरूरत पड़ी । उधर सिख-नेतृत्व भी अंग्रेज की नाराजगी से दुखी था । अतः दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता महसूस हुई । सिख नेतृत्व ने महाराजा पटियाला की रहनुमाई में 'खालसा डिफेंस लीग' गठित की जिसका कार्य अंग्रेजों के लिए बलि के बकरों को अधिकाधिक संख्या में तैयार करना था । इस 'लीग' के साथ खालसा डिफेंस शब्द जोड़ने का भाव यह था कि अंग्रेज का डिफेंस होने से ही सिखों का डिफेंस सम्भव है । लीग ने पंजाब में धुआँधार प्रचार करके अंग्रेज द्वारा निर्धारित लक्ष्य से अधिक सिख नौजवान सेना में भरती कराए । पुरस्कार स्वरूप सरकार ने सिखों को पंजाब हाईकोर्ट के एक जज की पदवी तथा वाइसराय कौंसिल में एक स्थान दे दिया ।

जून १९२६ में जब 'गुरुद्वारा ऐक्ट' के अन्तर्गत 'सैंट्रल बोर्ड' (जिसका नाम बदलकर अक्तू. १९२६ में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी रखा गया) के चुनाव हुए तो अंग्रेज परस्त मेहताब सिंह की पार्टी के बजाय मास्टर तारा सिंह का गुट बहुमत में आ गया। तब से अब तक अकाली दल का शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी पर वर्चस्व बना रहा है। इसी के परिणाम स्वरूप अकाली दल सिखों की धार्मिक-राजनैतिक आकांक्षाओं का प्रतीक बना और गुरुद्वारों की सम्पत्ति का राजनैतिक गतिविधियों के लिए प्रयोग करता रहा है। अपनी इसी ताकत के बल पर अकाली दल ने खालिस्तान की रणभेरी उस समय बजाई जबकि पंजाब में मुस्लिम, हिन्दू, सिख व अन्य जातियों का प्रतिशत क्रमशः ५५ : ३० : १३ : २ था और ये तेरह प्रतिशत सिख भी पटियाला से रावलपिंडी तक बिखरे हुए थे। खालिस्तान की मांग ने अकालियों का असली चेहरा देश के सामने पेश कर दिया।

मुस्लिम लीग ने यद्यपि मार्च १९४० में अपने लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान' की मांग पहली बार उठाई थी, किन्तु इसका आभास १९२९ से होने लगा था जबकि मुस्लिम कांफ्रेंस में सर मुहम्मद इकबाल ने पंजाब में से अम्बाला डिविजन और कुछ अन्य जिले निकालने की मांग की थी। ऐसा होने पर पंजाब के मुसलमानों की संख्या ६३ प्रतिशत से भी अधिक हो जाती। पंजाब में 'पाकिस्तान' की मांग का हिन्दू व सिखों ने डट कर विरोध किया। किन्तु लुधियाने के डा. वीर सिंह भट्टी ने 'खालिस्तान' सम्बंधी एक पैम्फलेट छाप कर करेले की बेल नीम पर चढ़ा दी।

पैम्फलेट में मांग की गई थी कि पटियाला, नाभा, जींद, फरीदकोट, कलसिया की सिख रियासतें और मलेरकोटला, शिमला, जालंधर, अम्बाला, फिरोजपुर, अमृतसर, लाहौर, लायलपुर, गुजरांवाला, शेखूपुरा, मिंटगुमरी, हिसार, रोहतक और करनाल जिलों को मिलाकर 'खालिस्तान' बनाया जाए और महाराजा पटियाला के नेतृत्व में एक मिली-जुली वजारत बने। मई १९४० में बाबा गुरदित सिंह के नेतृत्व में सवा सौ सिख एकत्रित हुए और उन्होंने मांग की कि जम्मू से जमरूद तक का क्षेत्र अंग्रेजों ने महाराजा रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी दिलीप सिंह से ट्रस्टी के रूप में लिया था, वह सारा प्रदेश सिखों को वापिस कर दिया जाए जिससे 'गुरु खालसा राज' स्थापित किया जा सके।

इसी समय दो घटनाएं घटीं जिनसे सिखों में 'खालिस्तान' के नारे के प्रति रुचि बढ़ी। एक तो अगस्त १९४० में राजगोपालाचार्य का यह सुझाव आया कि मुसलमान अपना प्रधानमंत्री बनाकर कौमी सरकार कायम करें तथा दूसरे सर क्रिप्स पंजाब की हदबन्दी इस तरह करना चाहते थे जिससे वहां किसी जाति का बहुमत न रहे। लेकिन ऐसा करने में वे विफल रहे। इन दो बातों से अकालियों में इस सन्देह ने जन्म लिया कि केन्द्र में उनकी सुनवाई नहीं, तथा पंजाब में उनका अस्तित्व मुसलमानों व हिन्दुओं के मध्य खतरे में है।

दिसम्बर १९४३ में सिंह नेशनल कालेज, लाहौर (अकाली दल द्वारा संचालित) ने आज़ाद पंजाब के बारे में अपना घोषणापत्र जारी किया। मास्टर तारा सिंह ने इसे अपना समर्थन दिया। उनकी भारी आलोचना हुई, किन्तु इसके बावजूद शिरोमणि अकाली दल ने जून १९४३ में आजाद पंजाब की स्थापना के लिए प्रस्ताव पारित कर दिया। अगस्त १९४३ में पंजा साहब में हुई सिख पोलिटीकल कांफ्रेंस ने भी इस पर सहमति की मोहर लगा दी यद्यपि फरवरी १९४३ में सेंट्रल अकाली

दल की वर्किंग कमेटी ने इस मांग का विरोध करते हुए जिन्ना व तारासिंह को सरमायेदारों का एजेंट व क्रिप्स् के संकेत पर नाचने वाले नर्तकों की संज्ञा दी थी। जनवरी १९४४ में अकालियों की दिल्ली कांफ्रेंस ने भी इस मांग का समर्थन किया। इसी दौरान पेशावर की सिख सीट का चुनाव हुआ जिसमें 'खालिस्तान' की मांग उठाने के कारण मा. तारासिंह का उम्मीदवार कांग्रेस के उम्मीदवार से हार गया। अतः मार्च १९४४ में मा. तारासिंह ने शिरोमणि अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबधंक कंमेटी से त्यागपत्र दे दिया और किसी अज्ञात स्थान को चले गए। पर वे चुप नहीं बैठ सके और जून में अपने जन्म दिवस पर फिर राजनीति में आ कूदे।

५ अगस्त १९४४ को जिन्ना ने अकालियों की ओर दाना फेंका कि वे उनकी मांगों का अध्ययन करने को तैयार हैं। इसी महीने मास्टर जी ने सर्व सिख पार्टीज कांफ्रेंस अमृतसर में बुलाई जिसमें राजा जी की योजना का विरोध और खालिस्तान की मांग का समर्थन किया गया। राजा जी की योजना के अनुसार पंजाब के १६ जिले पाकिस्तान में व १२ जिले भारत में आने थे। इन १६ जिलों में सिखों की काफी जनसंख्या थी, सम्पत्ति और गुरुद्वारे थे। ३ सितम्बर १९४४ को अकाली दल की मांग पर विरोध दिवस मना कर सरकार से कहा गया कि गांधी और जिन्ना भारत का बंटवारा कर रहे हैं किन्तु सिखों के अधिकारों को लूटा जा रहा है। अक्तूबर १९४४ में मा. तारा सिंह ने सिखों का आह्वान करते हुए कहा कि कम्युनिस्टों, अंग्रेजों और गांधी-जिन्ना तीनों से पंथ और कौम को खतरा है। नवम्बर १९४४ में सिखों के दो प्रतिनिधि दिल्ली में जिन्ना से मिले। जिन्ना ने उन्हें परामर्श दिया कि वे पाकिस्तान का विरोध न करें, क्योंकि वह तो बनना ही है। इसके बदले वे पाकिस्तान की तरह स्वतंत्र खालिस्तान की मांग क्यों नहीं उठाते? इसी महीने में अकाली सिल्वर जुबली कांफ्रेंस, जंडियाला (जालधंर) में हुई जिसमें दो लाख सिखों ने भाग लिया। इस कांफ्रेंस में 'पाकिस्तान' की मांग का पुरजोर विरोध करने का संकल्प किया गया और जिन्ना का दांव नहीं चला।

मार्च १९४४ में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में 'सीधी कार्रवाई' करने का ऐलान हुआ। सर फिरोज खां नून का बयान आया कि हम अहिंसा में विश्वास नहीं रखते और हमें कुछ ऐसे कदम उठाने पड़ सकते हैं जो हलाकू और चंगेज के कारनामों को भी मात कर दें। इसके तत्काल बाद ही सुहरावर्दी के संयुक्त बंगाल में हिन्दुओं का कत्लेआम शुरू हुआ। इसी बीच पंजाब के मुख्यमंत्री सर सिकन्दर हयात खां की मृत्यु हो गई जो कि मुस्लिम लीगियों के दिल का काँटा बना हुआ था। पंजाब की हकूमत अब खिजर हयात खां टिवाना के हाथों में आई जो दब्बू किस्म का शासक था। मुस्लिम लीग हर रोज उसके विरुद्ध प्रदर्शन करने लगी, उसे गालियां बकने लगी। अंततः उसे त्यागपत्र देने पर विवश होना पड़ा। इस प्रकार अब मुस्लिम लीग पंजाब की सबसे प्रभावशाली पार्टी बन कर सामने आई जो हिन्दू व सिखों के लिए समान रूप से खतरे की घंटी थी।

पैंतरा बदला

स्थिति सिखों के अनुकूल नहीं थी। अकाली दल कांग्रेसी सिखों के कारण अब तक यही मांग करता आया था कि भारत के अन्दर ही उसे खालिस्तान चाहिए, किन्तु अब उसने जिन्ना से प्रभावित होकर और कांग्रेस से निराश होकर यह कहना शुरू कर दिया कि हम 'पाकिस्तान' बनने का तो विरोध करते हैं, किन्तु यदि इसे बनाने का फैसला किया जाता है तो हमारी मांग यह है कि फिर सिखों को भी भारत से अलग एक सिखिस्तान चाहिए। इसी बीच ज्ञानी करतार सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह, अंग्रेजों के

आगे प्रशासनिक स्तर पर सिखिस्तान की मांग उठाते रहे। २ मार्च १९४७ को मा. तारासिंह अपने अनुयायियों सहित असेम्बली हाल की तरफ बढ़े और अपनी कृपाण म्यान से निकाल कर ऐलान किया कि वे मुस्लिम लीग को कार्य नहीं करने देंगे, यद्यपि इससे थोड़े समय पहले मास्टर जी ने स. अजीत सिंह को सरहदी सूबे में मुस्लिम लीगी मंत्रिमण्डल में शामिल होने की स्वीकृति दी थी। मास्टर जी की इस गुहार पर हिन्दू-सिख विद्यार्थी एक हो गए और उन्होंने लाहौर में जलूस निकाला जिसमें मुस्लिम लीग विरोधी नारे लगाए गए। डी. ए. वी. कालेज लाहौर के मैदान में एक विशेष सभा हुई जिसमें ज्ञानी करतार सिंह, ऊधम सिंह नागोके आदि ने भाषण दिया।

अब मास्टर तारा सिंह ने कांग्रेस से कतई विमुख होकर अंग्रेज सरकार व जिन्ना का मुँह ताकना शुरू कर दिया। जुलाई १९४७ में अंग्रेज सरकार ने निश्चय कर लिया था कि भारत का बंटवारा पाकिस्तान व सिखिस्तान के साथ हो, किन्तु लगता है मुस्लिम लीग की आम राय को देखकर जिन्ना को यह स्थिति स्वीकार नहीं हुई। यों सिखिस्तान न मिलता देख मास्टर जी ने जिन्ना से कहा कि पाकिस्तान के अन्दर ही 'सिख होमलैण्ड' की हमारी मांग मान लो। किन्तु जिन्ना इसके लिए भी तैयार न हुआ। शायद इसका कारण वे ऐतिहासिक दुश्मनियां थी जिन्हें दोनों पक्ष कभी भूल नहीं सकते थे।

इस स्थिति से तंग आकर मा. तारा सिंह व अन्य अकाली नेताओं ने गांधी, नेहरू व अन्य राष्ट्रीय नेताओं को बुरा-भला कहना शुरू कर दिया। इस कटुता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब नेहरू ने कहा कि मा. तारा सिंह तो पन्द्रह तिपाइयों पर एक साथ बैठना चाहते हैं, तो मास्टर जी ने जवाब दिया था कि सिखों की स्वाधीनता के लिए अगर मैं जिन्ना या और किसी से बात करने जाऊँ तो मुझे नेहरू से परमिट लेना जरूरी नहीं है। सिख नेता खुले आम गांधी और जिन्ना दोनों को जालिम व धोखेबाज कहते थे।

'खालिस्तान' का स्वप्न अधूरा रहा किन्तु उससे पंजाब कटुता की चपेट में आ गया, जिससे हिन्दू-सिखों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास बढ़ा। 'खालिस्तान' के लिए अकाली नेता जो तर्क देते थे वे ये थे कि सिख एक अलग कौम व राष्ट्र है, अपनी पहचान बनाए रखने के लिए स्वतंत्र राज्य उनकी पहली जरूरत है। हमारा पंथ व संस्कृति हिन्दुओं की गुलामी के नीचे दम तोड़ देगें। इस प्रकार के उग्रवादी विचारों ने जहाँ सिखों के मन में जोश भरा वहाँ हिन्दुओं के मन में उनके प्रति वितृष्णा बढ़ती चली गई।

अपनी पहचान और अपनी अस्मिता को कल्पित खतरों से बचाने के लिए सिखों ने ब्रिटिश भारत में अलगाव का परचम किस कदर ऊँचा उठाया और ब्रिटिश सरकार ने अलगाववादी ताकतों को किस प्रकार प्रोत्साहित किया, यह हमने देख लिया। पंथ, भाषा, पर्व, उपासना स्थलों, तीर्थों व रीति-रिवाजों को लेकर ही नहीं अपितु राजनैतिक आकांक्षाओं को लेकर भी सिखों विशेषकर अकालियों ने पंजाब की खुशहाली, भाईचारे, मुहब्बत और साम्प्रदायिक सद्भाव को पलीता लगा दिया। मजहब और राजनीति के गठजोड़ ने गुरुओं के मूल उद्देश्य को भुला कर सिखों को ऐसी राह का पथिक बना दिया जो पतन और विनाश के गह्वर की ओर जाती थी। ये अलगाववादी तत्त्व ब्रिटिश भारत में ही नहीं स्वतंत्र भारत में भी सक्रिय रहे। मज़हब और राजनीति के गठजोड़ ने आज़ादी के बाद क्या गुल खिलाए यह हम आगे देखेंगे।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समूचा सिख समाज हिन्दुओं व हिन्दुस्तान से विद्रोह कर बैठा था। यदि ऐसा होता तो हिन्दू-सिख परिवारों में वैवाहिक सम्बंध भी खत्म हो चुके होते, स्वतंत्रता

आन्दोलन में वे अपनी जवानियाँ देश के लिए न्योछावर न करते और आज़ाद भारत के आम चुनावों का वे सर्वथा बहिष्कार करते । सिख समाज में पहले भी और आज भी, ऐसे समझदार लोग रहे हैं जो पंथ या राजनीति के बल पर होने वाले अलगाव का हर सम्भव विरोध करते रहे हैं । किन्तु यह कौन नहीं जानता कि विष की एक बूँद ही अमृत से भरे कलश को ज़हर बना देती है । साम्प्रदायिक भावना को भड़काना जितना सहज है उतना सहज उसे शांत करना नहीं है । आम आदमी पहले यह देखता है कि उसका अपना मतलब कैसे सिद्ध होता है, न कि उसे समाज व राष्ट्र के हित की चिन्ता होती है । एक सामान्य सिख के लिए पंथ सर्वोपरि है, समाज व राष्ट्र बाद में । इसे पंथिक कट्टरता, इतिहास की कतिपय भूलों, गुलामी की कड़वाहट और सत्ता की भूख का परिणाम समझा जा सकता है ।

साम्प्रदायिक सद्भाव व राष्ट्रीयता के लाभ और मजहबी राजनीति से होने वाले दुष्परिणामों के प्रति पंजाब को सचेत करने की महती आवश्यकता थी जिसे आज़ादी के तुरन्त बाद पूरा नहीं किया जा सका । कांग्रेस का यह दायित्व था कि राष्ट्र की वर्चस्वी राजनैतिक पार्टी होने के नाते इस ओर गम्भीरता व तत्परता से कदम बढ़ाती, किन्तु दुर्भाग्य से कांग्रेस ने भी अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपना कर देश को पीछे और दलगत स्वार्थों को आगे रखा ।

१० आजादी की अलख : ढाक के तीन पात

स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में लाहौर का कांग्रेस अधिवेशन (दिसम्बर १९२९) अनेक कारणों से चिरस्मरणीय रहेगा। इस अधिवेशन में रावी के तट पर जवाहरलाल नेहरू ने सिंह गर्जना करते हुए पूर्ण स्वाधीनता का समाघोष राष्ट्र को दिया था। इसी अधिवेशन में २६ जनवरी १९३० को पूरे देश में स्वतंत्रता दिवस मनाने की देशवासियों से पुरजोर अपील की गई। इसी अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी असहयोग आन्दोलन का फैसला लिया गया। इसी अधिवेशन में गोलमेज कांफ्रेंस का बहिष्कार करने का निर्णय किया गया। २६ जनवरी को देश के कोने-कोने में सार्वजनिक सभाओं का आयोजन हुआ जिनमें लोगों ने तन-मन-धन न्यौछावर कर आज़ादी प्राप्त करने का संकल्प किया। ३० जनवरी १९३० के 'यंग इंडिया' में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन के लिए देशवासियों को ग्यारह-सूत्री प्रोग्राम दिया। गांधी जी ने नमक-कानून तोड़ने के लिए 'डांडी यात्रा' की; लोगों ने शराब की दुकानों के आगे धरने दिए और विदेशी कपड़ों की होली जलाई। इस प्रकार समूचे देश में आज़ादी की ज्वाला दहक उठी। किन्तु कुछ ऐसे भी तत्त्व थे जो अपने निहित स्वार्थों की फूंक से इस ज्वाला को बुझाने में तत्पर थे।

राष्ट्रीय चेतना के विरुद्ध अपनी अलग खिचड़ी पकाने के पीछे कौन सी भावना काम कर रही थी? क्या इसके पीछे मक्कार अंग्रेज की कोई चाल थी, क्या साम्प्रदायिक आग्रह क्रियाशील था, क्या यह भय छिपा हुआ था कि आज़ादी मिलने पर हमें न्याय नहीं मिलेगा या यह प्रवृत्ति किसी प्रतिक्रिया का फल मात्र थी? कारण जो भी रहा हो, लेकिन उसके परिणाम स्वरूप हमारे राष्ट्रीय मूल्यों का ह्रास ही नहीं हुआ, अपितु उससे साम्प्रदायिक सद्भावना और सामाजिक एकता पर भी भीषण कुठाराघात हुआ। फलतः हमें आज़ादी तो मिली, लेकिन विभाजन के रूप में उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। यदि यह दो भाईयों का विभाजन होता तो भी गनीमत थी। विभाजन के दौरान हिंसा, लूटपाट, अपहरण, बलात्कार का जैसा ताण्डव नृत्य हुआ उससे यह विश्वास धराशायी हो गया कि बँटवारा दो भाईयों के मध्य हुआ था। अविश्वास, वैमनस्य और घृणा का वह दुष्चक्र आज भी यथावत् विद्यमान है जिसे हम भारत-पाक युद्धों में भलीभाँति महसूस कर चुके हैं। किन्तु विभाजन मुसलमान ही नहीं, अकाली भी चाहते थे। अकालियों की मांग किसी कारण से अंग्रेज और मुसलमान पूरी न कर सके तो वह आज़ाद भारत के लिए राख की चिंगारी बन गए और जब भी पंजाब में हवा का कोई तेज झोंका आता है, यह राख उड़ने लगती है, चिंगारी सुलगने लगती है।

सिख समाज में जिस प्रकार का धार्मिक व सामाजिक पुनरुत्थान हो रहा था उससे साम्प्रदायिक राजनैतिक चेतना का उभरना स्वाभाविक था। इस मजहबी राजनीति का परिष्कार करना कांग्रेस जैसे राष्ट्रीय दल के लिए दुःसाध्य नहीं था, किन्तु मुसलमान साम्प्रदायिकता जो गुल खिला रही थी उसे कुटिल अंग्रेज परदे के पीछे से हवा दे रहा था जिससे कांग्रेस के प्रयास निष्फल हो रहे थे। अकाली इसी कारण असमंजस की स्थिति में बने रहे। कभी वे कांग्रेस के साथ हो जाते, तो कभी उससे विलग हो जाते थे। अकाली राष्ट्रीय धारा से कभी ईमानदारी से नहीं जुड़ सके क्योंकि उनके पाँव हमेशा दो नावों पर टिके रहे। उन्होंने हमेशा इस बात को उछाले रखा कि वे 'पाकिस्तान' का विरोध करते हैं, किन्तु यदि उसे बनाने का फैसला होता है तो खालिस्तान की हमारी मांग भी बरकरार है। यह स्थिति क्यों आई?

मजहबी राजनीति

'स्टेट्समैन' (३१ दिसम्बर १९३२) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स की एक बैठक में आगा खाँ, सर मोहम्मद इकबाल और डा. शफात अहमद खां ने कहा था कि–"हिन्दू और मुसलमानों का राजनीतिक, सामाजिक या किसी भी प्रकार का संगठन असम्भव है। भारत में सिवा अंग्रेज के और किसी की हकूमत चल ही नहीं सकती।" २९ मई १९३३ को एक सार्वजनिक बयान में लाहौर की 'पंजाब हिन्दू यूथ लीग' ने कहा कि–' हम यह अनुभव करते हैं कि अब वह समय आ गया है जब हिन्दू-मुसलमानों की एकता की उतनी जरूरत नहीं है जितनी कि हिन्दुओं व अंग्रेजों की एकता की ... हिन्दू नेताओं ... को चाहिए कि वे संविधान और मंत्रिमण्डल में हिन्दू अल्पमतों की रक्षा पर अधिक बल दें।" १९३३ में ही हिन्दू महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष भाई परमानन्द ने 'स्वराज्य प्राप्ति की एकमात्र और अनिवार्य शर्त हिन्दू-मुस्लिम एकता' को निरर्थक कह कर उसकी अवहेलना की। हिन्दू महासभा पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव से अपनी असहमति व्यक्त कर चुकी थी और साइमन कमीशन के प्रस्तावों को स्वीकार करने का पक्ष ले रही थी। इसी कारण लाला लाजपतराय व मदनमोहन मालवीय सरीखे उच्चकोटि के नेता महासभा से बाहर निकल आए और साइमन कमीशन का डटकर विरोध करने लगे। पंजाब की मुस्लिम लीग भी साइमन कमीशन का स्वागत कर रही थी।

द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस

यह एक रहस्य है कि पूर्ण स्वाधीनता की गुहार लगने के पश्चात् इस प्रकार का बेसुरा अलाप कैसे निरन्तर जोर पकड़ता चला गया। राष्ट्रीय हित की बातों को पोटली में बांध कर एक ओर रख दिया गया और साम्प्रदायिक मांगों को जी भर कर उछाला गया। इसका नतीजा यह निकला कि जब दिल में आजादी का सुनहरी स्वप्न संजोकर गांधी जी दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में इंगलैंड पहुँचे तो ब्रिटिश सरकार ने भारत को आजादी देने के सवाल पर विचार करने के बजाय साम्प्रदायिक समस्या को सम्मेलन के सामने मुख्य प्रश्न के रूप में रख दिया। ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों व ब्रिटिश भारत के बीच एक संघीय सघंटन का सवाल उठा कर भी गांधी जी को अचंभे में डाल दिया। साम्प्रदायिक समस्याओं के निपटारे के लिए हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, मुस्लिम सम्मेलन और अन्य साम्प्रदायिक संगठनों के प्रतिनिधियों को लेकर एक उप-समिति बनाई गई जिसमें गांधी जी ने

कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया । इसके अध्यक्ष मेकडोनाल्ड थे । ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व आगा खां कर रहे थे जो मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के एक सुदृढ़ स्तम्भ माने जाते थे पर जो भारतीय नागरिक भी नहीं थे । उप समिति के मुस्लिम सदस्य उनसे प्रभावित थे । उप समिति में चूँकि ऐसे साम्प्रदायिक लोगों का जमघट था जो आजादी के सवाल को पीछे धकेल कर अपने-अपने सम्प्रदायों व वर्गों के लिए अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करने और दूसरों की सुविधाओं में कटौती कराने के आग्रही थे, अतः वहां मेंढकों को तोलने वाला दृश्य उपस्थित हो गया ।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री की उपस्थिति के कारण स्थिति और अधिक जटिल हो गई जो एक गुट को दूसरे गुट के मुकाबले अधिक सुविधाएं दिए जाते थे । गांधी जी ने इन नेताओं से बार-बार अनुरोध किया कि अंग्रेजों के इस षडयंत्र से सावधान रहकर आजादी के असली सवाल की बात करो, लेकिन ये नेता तो जैसे सधे हुए घोड़े की तरह अंग्रेज के संकेत पर हिलते-डुलते थे । नतीजा यह निकला कि गोलमेज कांफ्रेंस में न राजनैतिक समस्या का समाधान निकला, न साम्प्रदायिक समस्या का । अंग्रेजों की चाल ही यह थी कि साम्प्रदायिक समस्या की आड़ में राजनैतिक समस्या अर्थात् पूर्ण स्वाधीनता की मांग को ठुकरा दिया जाए । इस उप समिति ने कांफ्रेंस को अपनी रिपोर्ट भेज दी कि वह किसी समाधान पर नहीं पहुँच सकी । अन्ततः एक सोची-समझी योजना के अनुसार ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने कम्युनल एवार्ड की घोषणा कर दी जिससे भारत में राजनैतिक प्रतिद्वंदिता व मजहबी राजनीति का दौर बढ़ता चला गया ।

तर्कहीन आग्रह

ऐसे वातावरण में अकाली राष्ट्रीयता का दामन मजबूती से पकड़ कर नहीं चल सकते थे । यद्यपि कांग्रेस के पूर्ण स्वाधीनता के उद्घोष का उन्होंने पुरजोर स्वागत किया और १९३०-३१ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में उन्होंने बढ़चढ़ कर भाग भी लिया, तो भी अपनी कतिपय साम्प्रदायिक मांगों को छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं हुए । इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि जब १९२६ में कांग्रेस ने साइमन कमीशन के बहिष्कार करने की अपील की थी तो जनवरी १९२८ में शिरोमणी अकाली दल की वर्किंग कमेटी ने भी इसका बायकाट करने का फैसला किया था । इसी महीने में जलियाँवाला बाग में एक जलसा हुआ जिसमें मा. तारा सिंह, हीरा सिंह दर्द, डा. किचलू, डा. सत्यपाल और मौलाना जफर अली खान ने भाषण देकर साईमन कमीशन का बहिष्कार करने की अपील की । किन्तु हिन्दू-मुस्लिम-सिख एकता के इस प्रतीक की तब धज्जियाँ उड़ गईं जब २९ जनवरी १९२८ को अकाली दल द्वारा आमंत्रित सर्व पार्टी सिख कांफ्रेंस में यह प्रस्ताव पारित हुआ– "साम्प्रदायिक आधार पर चुनावों का होना राष्ट्र के लिए हानिकारक है पर क्योंकि कांग्रेस और मुस्लिम लीग इसे मान चुकी हैं इसलिए सिखों का फैसला यह है कि सिखों को पंजाब में तीन हिस्से सीटें दी जाएँ और राजप्रबंध में भी इतना ही भाग मिले । सिख किसी भी स्थिति में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुने गए अकेले बहुमत के नीचे रहना सहन नहीं करेंगे । मद्रास कांग्रेस में हिन्दू-मुस्लिम अधिकार सम्बंधी पारित हुए पाँचवें भाग वाले सांझे फिरकेवार मसले सिखों पर भी लागू किए जाएं । सिंध और सरहदी सूबे में अल्पसंख्यक सिखों के हितों की रक्षा की जाए ।"

('अकाली ते परदेशी' जनवरी १९२८)

अकालियों अथवा अन्य सिखों की उक्त मांग सिद्ध करती है कि वे अपने को हिन्दुओं से अलग

घटक मानते थे, जैसे कि मुसलमान व ईसाई मानते थे । कांग्रेस को अकालियों ने हमेशा हिन्दू संगठन के नाम से प्रचारित किया जबकि वह राष्ट्रवादी भारतीयों का जिनमें हिन्दू-मुस्लिम-सिख आदि सभी थे, एक राष्ट्रीय संघटन था । हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व तो उस समय कांग्रेस नहीं, हिन्दू महासभा कर रही थी । लेकिन अपनी साम्प्रदायिक मांगों को पुष्ट आधार देने के लिए अकालियों का कांग्रेस को हिन्दू संस्था कहना वास्तविकता नहीं, एक छल था । इसी तरह मुस्लिम लीग भी कांग्रेस को हिन्दू संस्था मानती थी ।

२४ जनवरी १९२८ को इन सिखों ने राजासांसी (अमृतसर) में हकट्ठे होकर 'सेंट्रल सिख एसोसिएशन' नामक संघटन बनाकर प्रस्ताव पास किया—"हम इस प्रांत में जमीन के बहुत बड़े भाग के मालिक हैं और सरकार को तीसरे हिस्से से भी अधिक लगान देते हैं । ब्रिटिश इतिहास में हमारा फौजी रिकार्ड बे-मिसाल है । इसलिए विशेष सुविधाओं सम्बंधी हमारा दावा जायज है । हमारी देश के लिए कुर्बानियाँ व वफादारी इसे सिद्ध करती है ।" (ट्रिब्यून २५ जनवरी, १९२८) । इस संघटन ने यह भी मांग की कि हमें केन्द्रीय व प्रांतीय मंत्रिमण्डल में हिस्सेदारी दी जाए और एक सिख वायसराय की कौंसिल में रखा जाए । (अकाली पत्रिकाः २७ जनवरी, १९२८)

अंग्रेजों का चैलेंज

इस स्थिति में अकाली दल का कांग्रेस के साथ रहना या न रहना कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता था । जनवरी १९२८ में जब ब्रिटेन के भारतमंत्री, लार्ड बरकनहैड ने भारतीय राजनेताओं को चैलेंज दिया कि वे भारत की साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं निकाल सकते तो इस चैलेंज का उत्तर देने के लिए फरवरी १९२८ में दिल्ली में 'आल पार्टीज कांफ्रेंस' बुलाई गई जिसमें कांग्रेस, मुस्लिम लीग, लिबरल फैडरेशन, सिख लीग (अकाली दल का पूर्व नाम), हिन्दू महासभा, और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया । इस कांफ्रेंस में यह स्वीकार किया गया कि 'पंजाब के लिए सदस्यता के बंटवारे पर अल्पसंख्यक सिखों के हितों का विशेष ध्यान रखा जाए ।' मार्च १९२८ में अकाली दल के महासचिव ने कांग्रेस अध्यक्ष डा. अंसारी को तार भेज कर स्पष्ट किया कि—"सिख किसी साम्प्रदायिक बहुमत को नहीं मानेंगे, न ही संख्या के आधार पर साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करेंगे । सिख चाहे कम हैं, फिर भी वे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को हटाने के लिए बलिदान देने को तैयार हैं । यदि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व कांग्रेस को स्वीकार्य है तो सिख तीसरे हिस्से के हकों की मांग करते हैं ।" (ट्रिब्यून २९ मार्च १९२८) । अकालियों की इस मांग को दिसम्बर १९२९ की मद्रास कांग्रेस में पहले भी स्वीकार कर लिया गया था । किन्तु अकालियों के दुर्भाग्य से राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानते हुए मई १९२८ में स्थापित मोतीलाल नेहरू कमेटी ने (जिसके अन्य सदस्य सरदार मंगल सिंह, सुभाषचन्द्र बोस, तेज बहादुर सप्रू, एम. एस. अणे, अली इमान, साहिब कुरैशी व जी. आर. प्रसाद थे) अपनी रिपोर्ट (जो नेहरू रिपोर्ट १९२८-२९ के नाम से प्रसिद्ध है) में फैसला दे दिया कि पंजाब और बंगाल में किसी सम्प्रदाय के लिए कोई आरक्षित सीट न होगी ।

नेहरू रिपोर्ट का विरोध

अकालियों ने इस फैसले को सिखों से विश्वासघात की संज्ञा दी, हालांकि इस कमेटी में सरदार

मंगल सिंह और सुभाष चन्द्र बोस भी प्रतिनिधि थे जिन्होंने इसे पंजाब या बंगाल की ओर से विश्वासघात की संज्ञा नहीं दी। अकालियों को यह फैसला इसलिए भी नागवार गुजरा क्योंकि सिंध व सरहदी सूबे के हिन्दू अल्पसंख्यकों और उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास के मुस्लिम अल्पसंख्यकों को तो आरक्षित सीटें दे दी गईं लेकिन पंजाब के सिख अल्पसंख्यकों की उपेक्षा कर दी गई। हालांकि पंजाब का हिन्दू भी अल्पसंख्यक था और वह भी सिखों की तरह आरक्षण से वंचित हो चुका था, किन्तु क्षोभ केवल सिखों ने ही व्यक्त किया। इसमें शक नहीं कि कांग्रेस मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपना कर ऐसे कई गलत फैसले कर चुकी थी जिनका दुष्परिणाम देश को बाद में विभाजन के रूप में भुगतना पड़ा। लेकिन अकालियों में तनिक भी राष्ट्रभक्ति का भाव होता तो वे शेष पंजाबियों और बंगालियों की तरह सब्र से इस कड़वे घूँट को ग़ले से नीचे उतार लेते और यह समझने का प्रयास करते कि जब वे संख्या में १३ प्रतिशत हैं तो तीसरे हिस्से के हक कैसे मांग सकते हैं? एक राष्ट्रीय दल के आगे यह बात रखने का कोई मतलब नहीं था कि परम्परा और इतिहास से वे पंजाब की विशेष कौम हैं, पंजाब की एक तिहाई जमीन उनके हलों के नीचे है और पंजाब का एक तिहाई लगान सिख देते हैं।

आखिर ऐसा करते समय सिख भूल क्यों जाते थे कि वे हिन्दुओं की ही संतान हैं, गोविन्द सिंह से पहले हिन्दू ही विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमणों को अपनी छाती पर झेलते रहे हैं। और फिर मोतीलाल नेहरू कमेटी में केवल कांग्रेसी नहीं, अन्य पार्टियों के लोग भी थे, अतः यह कांग्रेस का नहीं, देश का फैसला था जिसे सिर झुका कर अकालियों को स्वीकार कर लेना चाहिए था। इसे स्वीकार न करने का फल यह निकला कि अधिकांश सिखों का कांग्रेस से विश्वास उठ गया।

मा. तारासिंह जो पंजाब में कांग्रेस के सबसे बड़े सिख समर्थक थे, इस रिपोर्ट के कारण कांग्रेस के कट्टर शत्रु बन गए। इससे अकालियों में भी फूंट पड़ गई क्योंकि मंगल सिंह, सार्दूल सिंह कवीश्वर, हीरा सिंह दर्द, सरमुख सिंह झवाल (अकाली दल के पहले प्रधान), बाबा गुरदित्त सिंह (कामागाटामारू वाले) और ज्ञानी करतार सिंह नेहरू रिपोर्ट का समर्थन करने वालों में से थे। इन्होंने कहा – "यह अत्यतं सुखद होता यदि साम्प्रदायिक आधार पर चुनावों की पद्धति खत्म हो जाती, परन्तु सामयिक स्थिति में साम्प्रदायिक समस्या के मोतीलाल व उनके सहयोगियों द्वारा निकाले गए समाधान से बढ़िया कोई अन्य समाधान नहीं हो सकता।" (ट्रिब्यून २२ अगस्त, १९२८)। अकाली इसी हठ पर अड़े रहे कि जब तक उन्हें पंजाब में तीस प्रतिशत आरक्षित सीटें नहीं मिलेंगी तब तक वे नेहरू रिपोर्ट पर फूल नहीं चढ़ाएंगे। दूसरी ओर जिन्ना ने यह कहकर स्थिति और जटिल बना दी कि मुसलमानों को पंजाब में आबादी के अनुसार ५६ प्रतिशत और केन्द्र में ३३ प्रतिशत सीटें दी जाएं।

मुसलमानों और सिखों की उक्त मांगों पर विचार करने के लिए एक उप-समिति बनाई गई जिसमें मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, महात्मा गांधी, तेज बहादुर सप्रू, मलिक बरकत अली, मौलाना अब्दुल कादिर, मौलाना आजाद, मौलाना जफर अली खान, मा. तारा सिंह, मेहताब सिंह, ज्ञानी शेर सिंह, हरनाम सिंह एडवोकेट और मंगल सिंह आदि उच्च नेता शामिल हुए। समिति में गांधी और सप्रू को छोड़ कर अन्य कोई मुस्लिम मांगों को मानने को तैयार न था। सिखों की मांगों के प्रति जिन्ना ने अड़ियल रुख अपनाए रखा और २८ दिसम्बर १९२८ को उप-समिति की बैठक से वे बाहर चले गए। अगले दिन जिन्ना ने बैठक में उपस्थित होकर अपनी मांगों के समर्थन में तर्कहीन दलीलें दी जिन्हें स्वीकार करना सम्भव नहीं था। हरनाम सिंह एडवोकेट ने सिख प्रतिनिधियों की ओर

से एक संयुक्त बयान पढ़ा और 'सत श्री अकाल' का जयकारा लगाते हुए वे वाक आउट कर गए। वाक आउट करते समय मेहताब सिंह ने गांधी जी को सम्बोधित करते हुए आवेश में कहा कि– ''यदि सिखों की बात नहीं सुनोगे तो भारत-विभाजन कलकत्ते में बैठ कर कलम से नहीं, तलवार से होगा।'' (अकाली ते परदेसी, ३१ दिसम्बर १९२८) । कहा जाता है कि इस माहौल में तेजा सिंह चूहड़काना क्रोधावेश में मोतीलाल नेहरू और डा. अंसारी को बुरा-भला कह बैठे।

नेहरू कमेटी का यहाँ विस्तृत उल्लेख इस कारण किया गया है जिससे उस समय के वातावरण को भलीभाँति समझा जा सके। दूसरी ओर गोलमेज कांफ्रेंस से गांधी का खाली हाथ लौटना सिद्ध करता है कि देश में जो साम्प्रदायिक उन्माद अपने यौवन पर था, उसे हिन्दू, मुसलमान व सिख कोई भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। स्वाधीनता की खातिर लखनऊ-पैक्ट में कांग्रेस ने साम्प्रदायिक आधार पर चुनाव कराने की बात स्वीकार करके मुसलमानों को तुष्ट अवश्य कर दिया था, किन्तु मुसलमानों ने कांग्रेस की तुष्टीकरण की इस नीति को हमेशा अपनी विजय और कांग्रेस की पराजय समझा। लखनऊ-पैक्ट को कांग्रेस साम्प्रदायिक सद्भाव का दस्तावेज मानती रही, जबकि मुस्लिम लीगियों ने उसे पाकिस्तान के लिए कोरे चैक की तरह भुनाया। उस समय कोई राजनैतिक दल ऐसा नहीं था जिसमें अंग्रेजों के दलालों ने घुसपैठ न कर रखी हो।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०-३१) में भाग लेने के प्रश्न पर अप्रैल १९३० में कांग्रेस, अकाली दल, मुसलमान, नौजवान भारत सभा और अन्य स्वतंत्र घटकों ने एक बैठक की और इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए संघर्ष समिति बनाई जिसमें मौलाना अब्दुल कादिर (अध्यक्ष पंजाब कांग्रेस), डा. सत्यपाल, के. संतानम, तारा सिंह, बाबा खड़क सिंह और लाला छबील दास थे। बाद में डा. सैफुद्दीन किचलू और डा. मुहम्मद अली भी इसमें शामिल हो गए। किन्तु अचानक ही बाबा खड़क सिंह ने यह समस्या खड़ी कर दी कि जब तक सिखों का रंग कांग्रेसी झंडे में शामिल नहीं होगा तब तक वे असहयोग आन्दोलन का साथ नहीं देंगे। कांग्रेसियों को ब्लैकमेल करने का अकालियों का यह अपना ही ढंग था। कांग्रेसी झण्डे में सिखों का रंग शामिल करने से अकाली-दल अपने को कांग्रेस में विलय कर लेगा, ऐसी गारंटी खड़क सिंह व तारा सिंह में से क़ोई भी देने को तैयार नहीं था।

शिरोमणी अकाली दल ने बाबा खड़क सिंह की इस मांग का समर्थन करते हुए एक मध्य मार्ग ढूँढ निकाला। उसने घोषणा की कि वह कांग्रेसी झंडे के नीचे नहीं, अपितु अपने झंडे के नीचे असहयोग आन्दोलन में भाग लेगा। आन्दोलन में अकालियों ने भाग लेना क्यों जरूरी समझा, इसका स्पष्टीकरण देते हुए मा. तारासिंह ने कहा– ''महात्मा गांधी ने आश्वासन के बावजूद सिखों का रंग अपने झंडे में शामिल नहीं किया, इस कारण सिखों में क्षोभ है। (यद्यपि इस सम्बंध में हुए पत्र-व्यवहार में जवाहर लाल नेहरू के. संतानम को स्पष्ट कर चुके थे कि –''कांग्रेस ने ध्वज बहुसम्मति से स्वीकार किया है, न कि ये रंग भिन्न भिन्न धर्मों के हैं। यदि इस तरह प्रांतीय कांग्रेसें तथा अन्य सभी ऐसे प्रस्ताव पारित करें तो कितने ही अलग अलग ध्वज बन जायेंगे।'' (ट्रिब्यून, २ नवम्बर १९३०) । मा. तारा सिंह ने आगे कहा– ''यदि असहयोग आन्दोलन में सिखों ने भाग न लिया और गांधी का यह प्रयोग सफल हो गया तो सिखों का इसमें कोई स्थान नहीं रहेगा और यदि

आन्दोलन विफल हुआ तो उनके ऊपर जिम्मेदारी आएगी । सिखों को अपने ही निशान साहब के नीचे इस आन्दोलन में भाग लेना चाहिए ।" (ट्रिब्यून १५ अप्रैल, १९३०) । किन्तु इसके बावजूद बाबा खड़क सिंह और अधिकांश अकालियों ने असहयोग आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं रखा । अकाली नेताओं में दुविधा होने पर भी, मई १९३० में जब गुरुद्वारा शीशगंज पर अंग्रेज पुलिस ने गोलियां चलाईं और गोलियों के ६८६ निशान गुरुद्वारे की दीवार पर लगने का समाचार पंजाब में पहुँचा तो सिखों ने सरकार के विरुद्ध उत्तेजित हो कर असहयोग आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया ।

मांगों का चार्टर

५ मार्च १९३१ को गांधी-इर्विन समझौता होने पर कांग्रेस ने दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस में शामिल होना मान लिया, जिसमें भारत के लिए एक नया संविधान बनाने के सम्बंध में विचार होना था । अकाली दल ने अपने प्रतिनिधि के रूप में मा. तारा सिंह को चुना, किन्तु ज्ञानी शेर सिंह ने जब इस कांफ्रेंस के विरुद्ध बयान दिए तो ब्रिटिश सरकार ने मा. तारा सिंह के बजाय दो अन्य सिखों को भेजने का ऐलान किया । अकालियों ने क्षुब्ध होकर गांधी जी पर कान्फ्रेंस में शामिल न होने के लिए दबाव डाला । प्रताप सिंह कैरों ने तार भेज कर गांधी जी से कहा कि इस स्थिति में उनका कांग्रेस में भाग लेना सिखों से विश्वासघात समझा जाएगा । किन्तु कांग्रेस ने राष्ट्रीय हितों के आगे इस क्षेत्रीय आपत्ति को कोई महत्व नहीं दिया । २० मार्च १९३१ को सिखों की भिन्न-भिन्न पार्टियों के प्रतिनिधि गांधी जी से मिले । इस डैपुटेशन ने सिख लीग की १७ मांगों का चार्टर गांधी जी को पेश किया । इस चार्टर में उल्लिखित मांगों और स्वतंत्र भारत में लोंगोवाल द्वारा भारत सरकार के आगे रखी मांगों में इतना अधिक साम्य है कि इससे सिखों की मनोवृत्ति को आसानी से पहचाना जा सकता है । चार्टर की मांगे इस प्रकार थीं:

१. सिख साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विरोध करते हैं ।
२. क्योंकि पंजाब में सिखों की महत्वपूर्ण हैसियत है अतः वे पंजाब कौंसिल व राज प्रबन्ध में ३० प्रतिशत सीटें चाहते हैं ।
३. सिखों को पंजाब मंत्रीमण्डल और पब्लिक सर्विस कमीशन में तीसरा हिस्सा दिया जाए ।
४. उक्त शर्तों का प्रबंध न होने की स्थिति में मुस्लिम बहुल क्षेत्र को सरहदी सूबे में मिलाकर साम्प्रदायिक संतुलन स्थापित किया जाए । इस नए पंजाब में सीटों का बंटवारा खत्म करके संयुक्त चुनाव कराए जाएँ ।
५. यदि उक्त बातों में से एक भी न हो सके तो पंजाब का प्रबंध तब तक केन्द्रीय सरकार करे जब तक कि कोई समझौता न हो ।
६. पंजाब की दफ्तरी भाषा पंजाबी हो और सिखों तथा अन्यों को यह अधिकार हो कि वे गुरुमुखी या अन्य किसी लिपि में पंजाबी लिख सकें ।
७. सिखों को केन्द्र के दोनों सदनों में पाँच प्रतिशत सीटें दी जाएँ ।
८. केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में हमेशा एक सिख मंत्री हो ।
९. जब भी कोई फौजी कौंसिल बने, सिखों को प्रतिनिधित्व अवश्य मिले ।

१०. सिखों ने फौज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है अतः इसे दृष्टिगत रखते हुए फौज में सिखों का भाग युद्ध-पूर्व की तरह सुरक्षित रखा जाए।

११. सिखों को केन्द्र व लोक सेवा आयोग में भी प्रतिनिधित्व मिले।

१२. शेष सभी (प्रबधं की) शक्तियां केन्द्र के पास रहें।

१३. केन्द्र सरकार के पास अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए विशेष शक्तियाँ हों।

१४. सिखों को अन्य प्रांतों में भी अन्य अल्पसंख्यकों की तरह सुविधाएँ दी जाएं।

१५. प्रांतीय व केन्द्रीय सरकारें धर्म-निरपेक्ष रहें और समकालीन धार्मिक स्थितियाँ सुरक्षित रखी जायें।

१६. गुरुमुखी के शिक्षण का विशेष प्रबंध किया जाए।

१७. निर्माणाधीन संविधान में कोई भी संशोधन सिखों की स्वीकृति के बिना न किया जाए।

कम्युनल ऐवार्ड की घोषणा

दूसरी गोलमेज कांफ्रेंस विफल रही। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अगस्त १९३२ को 'कम्युनल ऐवार्ड' का ऐलान कर दिया जिसके अनुसार पंजाब कौंसिल की १७५ सीटों में से मुसलमानों को ८६, हिन्दुओं को ४३ और सिखों को ३२, ईसाईयों को २, ऐंग्लो इंडियन को १, यूरोपीयनों को १, व्यापारियों को १, जमींदारों को ५, विश्वविद्यालयों को १, मजदूरों को ३ सीटें मिलीं। अर्थात् १९३२ से पूर्व के मुकाबले में मुसलमानों को २ और हिन्दू सिखों को एक-एक सीट अधिक मिली थी। जाहिर है कि ३० प्रतिशत सीटों का स्वप्न संजोने वाले अकालियों का इससे संतुष्ट होना सम्भव नहीं था, अतः उन्होंने इस फैसले के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। मुसलमान भी इससे प्रसन्न नहीं थे क्योंक उन्हें स्पष्ट बहुमत हासिल नहीं हुआ था। फलतः दिसम्बर १९३२ में तीसरी गोलमेज कांफ्रेंस हुई और मार्च १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने 'श्वेत-पत्र' निकाला जिससे पंजाब कौंसिल की १७५ सीटों का बंटवारा इस ढंग से किया गया कि मुसलमानों को बहुमत प्राप्त हो गया अर्थात् उन्हें ८४ सीटें दी गईं। हिन्दुओं को जो पहले ४३ सीटें मिली थी उन्हें घटा कर ३४ कर दिया गया, उनमें से ८ सीटें हरिजनों को दे दी गईं। सिखों की १ सीट कम हुई। मजदूरों की भी एक सीट कम कर दी गई। सिखों, व्यापारियों और उद्योगपतियों को पहली बार एक-एक सीट दी गई।

अकालियों को यह श्वेत-पत्र क्योंकर स्वीकार हो सकता था, क्योंकि इसमें भी उनकी तीस प्रतिशत सीटों की मांग नहीं मानी गई थी। श्वेत-पत्र के विरुद्ध वे जिहाद छेड़ने की योजना बना ही रहे थे कि ज्ञानी शेर सिंह ने मा. तारा सिंह के खिलाफ जिहाद छेड़ दिया। उन्होंने आरोप लगाया कि जिस खालसा दरबार को दलगत भावनाओं से मुक्त रखने का फैसला किया गया था उसका उल्लघंन कर मा. तारा सिंह ने उसे दलगत स्वार्थों के मार्ग पर भटका दिया है जिससे पंथिक एकता खतरे में पड़ गई है। खालसा दरबार मा. तारा सिंह और उनके सहयोगियों की मुट्ठी में सिमटता जा रहा है।" (दिलगीरः शिरोमणी अकाली दल, पृ. १२८)। इस घटना से अकालियों में फूट पड़ गई और श्वेत-पत्र के प्रति उनका क्षोभ धीरे-धीरे ठंडा पड़ता गया।

उक्त १७ मांगों और उन्हें न माने जाने के कारण सिख समाज में उभरा जोश इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि सिख अपनी मांगों के प्रति कितने आग्रही होते हैं। १७ मांगें यह भी सिद्ध करती

हैं कि सिखों को राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति कोई रुचि नहीं थी । वे केवल पंजाब के लिए और पंजाब में भी केवल अपने पंथ के लिए चिन्तित थे । राष्ट्रीय दृष्टिकोण का यह अभाव जैसा १९३१ के आस पास था वैसा ही आधी शताब्दी बीत जाने पर आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है । इन मांगों में केवल एक मांग ऐसी थी जिसका राष्ट्रीय महत्व निर्विवाद था, वह थी कि प्रांतीय व केन्द्रीय सरकारें धर्मनिरपेक्ष हों । किन्तु हम देखते हैं कि भारत की धर्मनिरपेक्ष सरकार को भी अकाली 'हिन्दू सरकार' कह कर सम्बोधित करते रहे हैं । इससे लगता है कि धर्मनिरपेक्षता के उनके मानदण्ड कुछ और ही रहे होंगे ।

अपने अस्तित्व को बनाए रखने के इस स्वार्थ भरे गोरखधंधे को अकाली ब्रिटिश काल से ही अपने भाग्य से जोड़ते चले आए हैं । बहुमत के प्रति आदर रखने की प्रवृत्ति उनमें कभी पैदा नहीं हुई । बहुमत के प्रति सम्मान की भावना उनमें होती, मुसलमानों व हिन्दुओं से वे सौहार्द रखते, तो अंग्रेज सरकार के चाहते हुए भी पंजाब का बँटवारा न होता । पंजाब के वातावरण को साम्प्रदायिकता के जहर से भरने में अकालियों की हठधर्मी और उनके उत्तेजक भाषणों ने निर्णायक भूमिका निभाई है । उस समय मुख्य लक्ष्य यह था कि जिस स्वाधीनता की शपथ रावी तट पर ली गई थी उसे कैसे पूरा किया जाए । किन्तु ये १७ मांगें स्पष्ट संकेत देती हैं कि अकालियों की उसमें कोई रुचि नहीं थी ।

अकालियों में फूट

१९२९-३६ की अवधि सिख इतिहास में पारस्परिक वैमनस्य के लिए प्रसिद्ध है । उस समय के दो प्रमुख नेता बाबा खड़क सिंह और मा. तारा सिंह थे । १९३० के गुरुद्वारा चुनाव, कांग्रेसी झण्डे में सिखों का रंग, कांग्रेस को समर्थन देना या न देना, ढमका मोर्चा, खालसा दरबार, बाबा खड़क सिंह को डिक्टेटर घोषित करना, आदि कुछ ऐसे सवाल उभरे जिससे बाबा खड़क सिंह और मा. तारा सिंह में मतभेद बढ़ते गए ।अपने-अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए उन्होंने कई जत्थेबंदियां बना लीं जिसका परिणाम यह निकला कि शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, अकाली दल, खालसा दरबार, सिख लीग, सेंट्रल अकाली दल, सिख नेशनल कान्फ्रेंस तथा इसी प्रकार के अनेक घटक भीतर ही भीतर इस फूट के कारण निर्बल पड़ने लगे । इस आत्मघाती फूट से सिख समाज को बचाने के लिए गुरुसेवक सभा बनाई गई जो राजनीति से नितांत निरपेक्ष सिख विद्वानों का संगठन था । किन्तु इसके प्रयास भी विफल रहे ।

जून १९३५ में बम्बई की अमृत कौर ने पंथिक एकता के लिए आमरण अनशन रखने की घोषणा की किन्तु उसे समझा-बुझा कर शान्त करा दिया गया । ज्ञानी शेर सिंह ने प्रस्ताव रखा कि प. मदन मोहन मालवीय को मध्यस्थ बना कर आपस के झगड़े निपटाए जाएं, किन्तु मा. तारा सिंह ने यह कह कर इसे ठुकरा दिया कि पंथिक फैसले हम किसी बाहरी व्यक्ति पर छोड़ने को तैयार नहीं । सिख संगत की इस आपसी फूट के कारण सिख नेतृत्व आज़ादी की लड़ाई में कोई महत्वपूर्ण योगदान न दे सका ।

सिख इतिहासकार मानते हैं कि इस फूट के पीछे ब्रिटिश सरकार का पूरा हाथ था । एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है । मार्च १९३१ में नेहरू जी की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई जिसमें मा. तारा सिंह तथा दो अन्य सदस्य थे । सदस्यों ने कांग्रेसी झंडे का रंग बदलने का फैसला किया और सिखों की शिकायत को दूर करते हुए केसरिया रंग झंडे में डाला गया । किन्तु बाबा खड़क सिंह ने इसका विरोध करते हुए कहा कि सिखों का रंग केसरिया नहीं, पीला या काला है,

अतः उन्हीं में से एक रंग रखा जाए। इससे पूर्व बाबा खड़क सिंह कांग्रेस को सहयोग देने की बात उठा चुके थे, किन्तु उनका मत ७ के मुकाबले ९ वोटों से अकाली दल की वर्किंग कमेटी की मीटिंग में (नवम्बर १९३०) गिर गया था। क्या बाबा खड़क सिंह अंग्रेजों से मिले हुए थे, अथवा अंग्रेज समर्थक लोगों से घिरे हुए थे ?

गुरुद्वारा शहीद गंज

सन् १९३५ में पंजाब में एक ऐसा विवाद उठ खड़ा हुआ जिसने समूचे प्रांत में साम्प्रदायिकता का दावानल धधका दिया। लाहौर का गुरुद्वारा शहीद गंज अठारहवीं सदी में मीर मन्नू के अमानुषिक अत्याचारों से शहीद हुई सिख महिलाओं की स्मृति में बनवाया गया था। महाराजा रणजीत सिंह के समय में बने इस गुरुद्वारे की दीवारें कमजोर होने के कारण ढहा दी गईं और नई दीवारें बनवाने की शुरुआत हुई, तो मुसलमानों ने आपत्ति उठाई कि गुरुद्वारे में एक मस्जिद है और उसे हम अनादृत करने की स्वीकृति नहीं देंगे। हाई कोर्ट में मुकदमा गया और फैसला सिखों के पक्ष में हो गया। इससे मुसलमान भड़के। इधर सिख गुरुद्वारे की कमजोर दीवारों को गिरा रहे थे, उधर मुसलमानों ने गुरुद्वारे पर जत्थे भेजने शुरु कर दिए। सैयद अताउल्ला शाह बुखारी ने मुसलमानों को समझाया भी कि उनके पास हजारों मस्जिदें हैं, एक की खातिर जोश में नहीं आना चाहिए। किन्तु लाहौर की शाही मस्जिद जहरीले मजहबी भाषणों से गूँजने लगी जिसमें उत्तेजित होकर मुसलमानों ने हजारों की संख्या में दिल्ली दरवाजे व अकबरी दरवाजे पर पुलिस से मुकाबला किया जिसमें दस मौतें हो गईं। स्थिति को बिगड़ते देख गुरुद्वारा शहीद गंज का मसला शिरोमणि अकाली दल ने अपने हाथ में ले लिया। कुछ समझदार मुसलमानों व सिखों के कारण मामला ठंडा पड़ गया, किन्तु सितम्बर १९३५ में शाही मस्जिद में फिर विषभरी तकरीरों का सिलसिला शुरु हुआ और मीर साहब ने १० लाख की मुस्लिम सेना खड़ी करने का प्रस्ताव रखा। जिन्ना नें भी इस मामले में टांग फंसाई किन्तु मा. तारा सिंह ने कहा कि वे कोई समझौता नहीं करेंगे।

हालात बिगड़ते हुए देख सरकार ने सिखों के कृपाण-धारण पर प्रतिबंध लगा दिया। जून १९३६ में अमृतसर की घी मण्डी में निहंग व मुसलमानों का टकराव हुआ। अप्रैल १९३७ में रावलपिण्डी के निकट कोट भाई थान सिंह गुरुद्वारे पर मुसलमानों ने हमला किया, गुजरात जिले के गांव आला में सिख दिवान पर आक्रमण किया गया–इन घटनाओं ने आग में घी का काम किया। अन्ततः मामला अदालत में जाकर निपटा। किन्तु फिर भी इसका सेक काफी दिनों तक बना रहा और सिख-मुसलमान एक होकर आजादी की लड़ाई में भाग न ले सके। सिखों की काफी ताकत और समय इस व्यर्थ के झगड़े में नष्ट हुए जिससे पंजाब में स्वाधीनता आन्दोलन को गहरा आघात लगा। ३ जुलाई १९३६ को मा. तारा सिंह ने कहा–

> "कांग्रेस पर इस कारण विश्वास नहीं किया जा सकता कि उसने शहीद गंज गुरुद्वारे के नाजुक मसले में सिख पक्ष का समर्थन करने में संकोच दिखाया। यदि मुसलमान दरबार साहब पर आक्रमण करेंगे तो भी कांग्रेस तटस्थ रहेगी और सिखों के कत्लेआम तक की निन्दा नहीं करेगी। मैं उस कांग्रेस का विद्रोही हूँ जो मुस्लिम प्रभाव में है। जब तक कांग्रेस इस प्रभाव से मुक्त न होगी तब तक उसके विरुद्ध मेरा संघर्ष जारी रहेगा। तथापि कांग्रेस ने देश की आजादी के लिए आन्दोलन शुरू किया तो मैं सबसे आगे हूँगा।" एक नेशनलिस्ट सिख हीरा सिंह दर्द ने इस तकरीर

से चिढ़ कर मास्टर जी पर "हमारा औरंगजेब" का लेबल लगाया। ('ट्रिब्यून' ५ जुलाई १९३८)।

अगले ही वर्ष अर्थात् १९३७ में कम्युनल ऐवार्ड के आधार पर चुनाव होने थे अतः अगस्त १९३६ में सर्व सिख पार्टीज कांफ्रेंस बुलाई गई जिसमें गोपाल सिंह कौमी ने कहा कि– "यदि कांग्रेस से सहयोग करोगे तो सिखों का महत्व बढ़ेगा, अतः कांग्रेस की टिकटें लेनी चाहिएं।" इस पर ज्ञानी शेर सिंह ने कहा– "इस कांफ्रेंस का सम्बंध सिखों से है, कांग्रेस से नहीं।" किन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही और नवम्बर १९३६ में अकाली दल तथा कांग्रेस में समझौता हो गया। ('अकाली पत्रिका' १८ नवम्बर १९३६)। १९३७ के चुनाव कांग्रेस व अकाली दल ने मिलकर लड़े। इससे पूर्व मा. तारा सिंह को पंजाब ने सर्व हिन्द कांग्रेस का डैलीगेट चुन कर भेजा। यह कांग्रेस सिख एकता उस समय इतनी बढ़ी कि नवम्बर १९३८ में अकाली दल की अखिल भारतीय कांफ्रेंस (रावलपिण्डी) में बलदेव सिंह ने यहाँ तक कह दिया कि– "वाहेगुरु और अपने गुरुओं के पश्चात् मैं कांग्रेस को प्राथमिकता देता हूँ। मैं ऐसा राजनैतिक कारणों से नहीं, अपितु इस करके मानता हूँ क्योंकि मैं केवल कांग्रेस को अपने राष्ट्रीय मान एवं स्वाभिमान की एकमात्र जत्थेबंदी समझता हूँ।" (उधम सिंह नागोकेः सिख धर्म ते मौजूदा राजनीति, पृ. ३४)।

इस कांग्रेस-सिख एकता का यह फल निकला कि एक सीमा तक सिखों का साम्प्रदायिक आग्रह पिघलने लगा, उनमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण पनपने लगा और उन्हें यह अहसास होने लगा कि देश की सेवा अकाली दल के तंग दायरे में रहकर नहीं हो सकती, उसके लिए तो कांग्रेस ही उपयुक्त स्थान है। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि १९३७ में २४ सिख सीटों में से १४ पर अकाली दल और १० पर कांग्रेसी सिख खड़े होने थे। अकाली दल के १४ सदस्यों में से प्रमुख नाम थे– बलदेव सिंह, स्वर्ण सिंह, प्रताप सिंह कैरों, ज्ञानी करतार सिंह, कपूर सिंह, नरोत्तम सिंह आदि। और इनमें से अधिकांश बाद में कांग्रेस में आ मिले। स्वतंत्र भारत में तो इनमें से ही कुछ पंजाब के मुख्यमंत्री, देश के रक्षामंत्री तथा विदेशमंत्री तक बने। इससे सिद्ध है कि जागरूक सिखों का (जिनको अकाली दल ने खड़ा होने का आधार दिया) अकाली दल में दम घुटने लगा था और उनकी राष्ट्रीय भावनाएं उस वातावरण से छुटकारा पाने को तड़प रही थीं। अकाली दल कांग्रेस की तरह विशुद्ध राष्ट्रीय दल होता तो ऐसी स्थिति पैदा ही न होती। अकाली दल आगे भी कांग्रेस के साथ रहा, किन्तु यह एक राजनैतिक प्रवंचना थी, न कि व्यापक राष्ट्रीय हितों का परिणाम। १९३९ में विश्व युद्ध छिड़ जाने पर अकालियों की भूमिका से यह सिद्ध हो गया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद

यूरोप में महायुद्ध भड़क उठने से अंग्रेजों को भाड़े के सैनिकों की जरूरत पड़ी जो उनकी रक्षा के लिए युद्धभूमि में अपने प्राण झोंक सके। चूँकि भारत में पूर्ण स्वाधीनता का बिगुल बज चुका था, अतः कांग्रेस से उसे संकट की इस घड़ी में सहयोग की आशा नहीं थी। इसलिए उसने अत्यंत मक्कारी से उन लोगों में घुसपैठ की जिन्हें थोड़ा-सा लालच देकर ब्रिटिश स्वार्थ की पूर्ति की जा सकती थी। पंजाब बहादुर सैनिकों की सुविख्यात मण्डी थी। अतः अंग्रेज ने पहला नाटक यहीं खेला। उस समय सर सिकन्दर हयात खाँ पंजाब के मुख्यमंत्री थे। वे अंग्रेजों के प्रभाव में थे। उन्होंने पंजाब असैम्बली में युद्ध के समय अंग्रेजों की मदद करने का प्रस्ताव रखा जो ३९ के मुकाबले

१०४ मतों से पारित हो गया। इस प्रस्ताव में मांग की गई कि ब्रिटिश सरकार युद्ध की समाप्ति पर डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशक स्वराज्य) और अल्पसंख्यकों के रक्षण की घोषणा करेगी। अक्तूबर में अमृतसर में मास्टर तारासिंह की अध्यक्षता में सिखों का जलसा हुआ जिसमें अकाली दल ने यह प्रस्ताव पास किया कि दल युद्ध में सरकार की मदद करेगा बशर्ते कि (१) सिखों को फौज में अधिक जगह दी जाए, (२) वायसराय की ऐग्जीक्यूटिब कौंसिल में एक सिख शामिल किया जाए, और (३) नौकरियों में सिखों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए। (अकाली पत्रिका, २ अक्तूबर १९४०)।

अकालियों का ऐसा निर्णय दुर्भाग्यजनक था, क्योंकि जिस कांग्रेस पार्टी से उसका तालमेल था वह इस युद्ध में अंग्रेजों से असहयोग की घोषणा कर चुकी थी। दूसरी ओर सरकार समर्थक सिखों का एक डेपूटेशन महाराजा पटियाला से मिला, और १८५७ के गदर की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए उनसे निवेदन किया कि इस अवसर का भरपूर लाभ उठाया जाना चाहिए। अकाली दल को जब इस बात का पता चला तो २० जनवरी १९४१ को सर्व सिख पार्टीज कांफ्रेंस बुला ली और सिख नेताओं ने 'खालसा डिफेंस लीग' की स्थापना की जिसका काम 'सोल्जर बोर्ड' बना कर ब्रिटिश सेना में अधिकाधिक सिखों की भरती करने का था। इस काम में वे मुसलमानों से किसी कद्र पीछे रहने को तैयार नहीं थे। मुसलमान और सिखों की इस मनोवृत्ति के पीछे जो स्वार्थ काम कर रहा था, अथवा एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा में खड़े होने की प्रवृत्ति काम कर रही थी, उसे देखते हुए कुछ हिन्दू नेताओं जैसे गोकुल चन्द्र नारंग, राजा नरेन्द्र नाथ, भाई परमानन्द आदि ने हिन्दुओं को भी अंग्रेज सरकार से सहयोग करने की प्रेरणा दी।

५ जुलाई १९४० को अकाली दल की वर्किंग कमेटी ने युद्ध विषयक समस्या पर विचार करने के लिए एक गुप्त बैठक की जिसमें बहुसंख्यक अकाली नेता सरकार को सहयोग देने के समर्थक थे। मेजर शार्ट और जॉन बुल इन दिनों अकाली नेताओं से मिलकर उन्हें अपने पक्ष में फोड़ने का प्रयास कर रहे थे। अकाली चाहते थे कि सिखों की भलाई के लिए युद्ध में अंग्रेजों से सहयोग किया जाए और फौज में सिखों की संख्या बढ़ाई जाए। उन्हीं दिनों मास्टर तारा सिंह के इस बयान की कि, वे अपनी कौम के अधिकाधिक जवानों को फौज में भेजना चाहते हैं, मौलाना आजाद ने सख्त आलोचना की। मास्टर जी ने जब गाँधी जी से इस बारे में पत्र व्यवहार किया तो गाँधी जी ने सिखों की कृपाण पर आक्षेप किया कि वह हिंसा की प्रतीक है। गांधी जी ने स्पष्ट किया कि आपकी कौम और कांग्रेस में कुछ भी समानता नहीं है। आप कृपाण में विश्वास रखते हो, जबकि कांग्रेस नहीं रखती। (ट्रिब्यून, १४ सितम्बर १९४०)। ज्योंही यह पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ, सितम्बर १९४० में ही मास्टर तारा सिंह ने राष्ट्रीय और प्रांतीय कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। जब तारा सिंह के साथियों ने इसके गम्भीर परिणामों को उनके सामने रखा तो उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ और छठे दिन घोषणा की कि मेरा कांग्रेस से त्यागपत्र व्यक्तिगत है, अकाली दल कांग्रेस के साथ रहेगा। (ट्रिब्यून, २० सितम्बर १९४०)।

किन्तु उन्हीं दिनों अक्तूबर १९४० में नेहरू जी ने अपने एक बयान में दो नावों पर सवार अकालियों से कहा कि अंग्रेज का सहयोग अथवा कांग्रेस का साथ में से एक राह उन्हें चुननी चाहिए। किन्तु अकाली इस का स्पष्ट उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे। इसी बीच पंजाब की प्राथमिक विद्या का माध्यम उर्दू को बना दिया गया। अकालियों ने इसका विरोध करते हुए पंजाबी को माध्यम बनाने की मांग की। उधर जुलाई १९४१ में वायसराय ने अपनी कौंसिल के सदस्य बढ़ा लिये किन्तु

एक भी सिख इसमें सम्मिलित नहीं किया। अकालियों ने इसका भी विरोध किया, पर बना कुछ नहीं।

क्रिप्स मिशन

१९४० में मुस्लिम लीग की लाहौर कांफ्रेंस में जब 'पाकिस्तान' की मांग उठी तो आस-पास के मुस्लिम क्षेत्रों से भी वैसी ही मांग उठने लगी। इस दुष्प्रचार का सामना करने के लिए नवम्बर १९४१ में लुधियाने में 'अखण्ड हिन्दुस्तान कांफ्रेंस' हुई। ऐसी ही कांफ्रेंस नवम्बर में लाहौर में और दिसम्बर में अमृतसर में हुई। इन कांफ्रेंसों का उद्देश्य था पाकिस्तान की योजना का विरोध, खालिस्तान की मांग से दूर रहने का आह्वानं और राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाना। इसी दौरान जापान ने पर्ल बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया और इसके साथ ही साथ सिंगापुर और रंगून भी अंग्रेजों के हाथ से निकल गये। इन विफलताओं से ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर विंस्टन चर्चिल घबरा उठे और 'डोमीनियन स्टेटस' की पेशकश के साथ मार्च १९४२ में क्रिप्स मिशन भारत भेजा जिससे अंग्रेजों की हार का भारतीय नेता लाभ न उठा सकें। क्रिप्स मिशन के आगे अकालियों ने जो मेमोरैंडम रखा उससे स्पष्ट है कि अकाली आज़ादी की लहर में भाग भी ले रहे थे और अपनी दलगत एवं साम्प्रदायिक माँगों को भी नहीं छोड़ना चाहते थे। वे कांग्रेस के साथ सहयोग तो कर रहे थे किन्तु उसकी नीतियों में उनका विश्वास नहीं था। मैमोरैंडम की मुख्य बातें इस प्रकार थीं:

१. 'डोमीनियन स्टेटस' की पेशकश को हम इसलिए स्वीकार नहीं करते क्योंकि इससे भारत के प्रांतों को अलग-थलग करने और पाकिस्तान के निर्माण का आधार तैयार होगा जिससे राष्ट्रीय एकता पर गहरी चोट पहुँचेगी।

२. अब तक सिख कौम ने अंग्रेजी राज के शुरू से हर अवसर और युद्ध में वफादारी निभाई है, सबसे अधिक योगदान दिया है, किन्तु उनकी माँगों की अंग्रेज सरकार ने पूरी उपेक्षा की।

३. केवल बहुमत के आधार पर एक प्रांत में किसी कौम को पूरें अधिकार दिए जाएं, इसके बदले यह व्यवस्था क्यों नहीं की जाती कि अल्पसंख्यकों को स्वतंत्रतापूर्वक रहने देने के लिए प्रांतों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण कर दिया जाए। पंजाब की सीमा जेहलम तक मान ली जाए और इसमें से झंग और मुलतान निकाल दिए जाएं जैसी कि स्थिति महाराजा रणजीत सिंह से पूर्व की थी, तो दिल्ली से रावी तक और दिल्ली से जेहलम तक के क्षेत्र में मुस्लिम अल्पमत में हो सकते हैं। पटियाला, जींद, नाभा, फरीदकोट, कपूरथला की सिख रियासतों की कुल २६ लाख की आबादी में मुसलमान केवल २० प्रतिशत हैं। इन क्षेत्रों में सिखों को प्रभुत्व दिया जा सकता है।

४. पंजाब में सिख केवल १३.५ प्रतिशत हैं किन्तु वे पंजाब का कुल २५ प्रतिशत और ४० प्रतिशत मालिया देते हैं। इसके अतिरिक्त सिख ४ कालेज व ४०० स्कूल अपने खर्चे पर चला रहे हैं, हर तरफ उनके गुरुद्वारे फैले हुए हैं, अतः मोंटफोर्ड के पैरा १६३ के अनुसार जो सुविधाएँ पंजाब में मुसलमानों को मिल रही हैं, वे ही एक महान् कौम के नाते सिखों को मिलनी चाहिएं।

५. साईमन कमीशन ने स्वीकार किया था कि महायुद्ध में ८० हजार से अधिक सिपाही देकर सिखों ने वफादारी का अद्वितीय प्रमाण दिया था । हालांकि उस समय फौज में सिखों की संख्या १ लाख २६ हजार ५०० के लगभग थी । इतनी कम आबादी का इतना बड़ा सहयोग कमाल का था, किन्तु १९३२ के कम्युनल ऐवार्ड ने इस वफादारी के बदले सिखों को कुछ नहीं दिया । उत्तर प्रदेश के १४.८ प्रतिशत मुसलमानों को ३० प्रतिशत सीटें मिलीं, किन्तु पंजाब के १३.५ प्रतिशत सिखों को केवल १८.८ प्रतिशत सीटें दी गई । प्रांत की सुप्रीम एग्जीक्यूटिव कौंसिल में सिखों को १९२६ में ३३ प्रतिशत से २५ प्रतिशत और १९३६ में १६ प्रतिशत तक कम कर दिया गया । हम महसूस करते हैं कि पंजाब मंत्रिमण्डल में सिखों का हिस्सा ३३ प्रतिशत होना चाहिए और किसी भी स्थिति में २५ प्रतिशत से कम तो होना ही नहीं चाहिए ।

इसके अतिरिक्त मैमोरेंडम में उन मांगों को दोहराया गया था जो द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस के समय गाँधी जी के आगे प्रस्तुत की गई थीं ।

उधर क्रिप्स मिशन पर घातक प्रहार करते हुए अखिल भारतीय कांग्रेस ने अगस्त १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का नारा राष्ट्र को दे दिया । कांग्रेस ने स्पष्ट किया कि वह डोमीनियन स्टेटस के रूप में किस्तों में आज़ादी नहीं चाहती, बल्कि पूर्ण स्वाधीनता चाहती है । अकाली दल क्रिप्स मिशन के आगे वफादारी की तश्तरी में सजा-सजा कर अपनी मांगे रख रहा था, कांग्रेस के इस फैसले को सुनकर वह किंकर्तव्यमूढ़ हो गया । असमंजस की स्थिति में जहाँ एक ओर मा. तारा सिंह ने कांग्रेस के इस आह्वान का पुरजोर विरोध किया, वहाँ उनके अन्य अकाली सहयोगी – मुसाफिर, कैरों, फेरूमान और नागोके आदि ने इस आह्वान का स्वागत करते हुए अपनी गिरफ्तारियाँ दीं । सितम्बर १९४२ में लायलपुर में मा. तारा सिंह ने गांधी जी के अहिंसावाद पर जमकर प्रहार किये और अहिंसा के सिद्धांत का मज़ाक उड़ाते हुए सिखों का आह्वान किया कि वे अपने अधिकारों को स्मरण रखें और कांग्रेस के प्रति उनका सामयिक जोश सिखों के भविष्य के लिए हानिकारक सिद्ध होगा ।

पाकिस्तान और खालिस्तान

अकाली और कांग्रेस में पड़ी इस दरार का मुस्लिम लीगियों ने बहुत फायदा उठाया । मुस्लिम नेताओं ने अकाली नेताओं से सम्पर्क बढ़ाया और उन्हें थोडा-सा लालच देकर उनके मुख से कहलवा दिया कि सिख पाकिस्तान के साथ रहने को तैयार हैं बशर्ते कि यह गारंटी दी जाए कि सिख जब चाहें पाकिस्तान से अलग हो सकेंगे । किन्तु जिन्ना ने यह मांग अपमानजनक ढंग से ठुकरा दी । हालाँकि ज्ञानी करतार सिंह इसके लिए बहुत प्रयत्नशील रहे । अकालियों के इस पैंतरे से राष्ट्र स्तब्ध रह गया ।

जून १९४२ में यूनियनिस्ट पार्टी के सर सिकन्दर हयात खाँ और अकाली दल के बलदेव सिंह के मध्य एक फैसला हुआ जो पंजाब की राजनीति में "सिकन्दर-बलदेव पैक्ट" के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसके अनुसार सिकन्दर हयात खाँ ने सिखों को झटके की स्वीकृति, गुरुमुखी में शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक मामलों में कानून, केन्द्र में सिखों के प्रतिनिधित्व और सरकारी नौकरियों मे सिखों की भरती आदि मांगों को मान लिया था । इस पैक्ट से सिख अत्यंत उत्साहित हुए । पंजाब कौंसिल के सभी सिख सदस्य बलदेव सिंह के साथ हो लियें । यद्यपि तारा सिंह ने इस समझौते को अकाली-सिखों का

नहीं, बल्कि दो नेताओं का फैसला माना था, किन्तु इस समझौते ने सिखों को इतना भावुक बना दिया कि ७ जून १९४३ को अकाली दल ने 'आजाद पंजाब' का प्रस्ताव पारित कर मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग पर अपनी मोहर लगा दी। दिसम्बर १९४३ में सिकन्दर हयात खाँ के देहावसान के उपरांत 'आजाद पंजाब', सिख स्टेट और खालिस्तान की मांग उभरती चली गई।

इस प्रकार पंजाब की धरती पाकिस्तान और खालिस्तान के नारों से गूँजने लगी। अपने ही हाथों अपने घर को फूँकने का यह अजीब तमाशा पंजाब की दो साम्प्रदायिक ताकतों ने मिलकर रचा। अंग्रेज तो कुटिल था ही, किन्तु उसकी कुटिलता इस कारण सफल हुई कि कमजोरी हमारे ही भीतर थी। समय-समय पर कांग्रेस से अकालियों और मुस्लिम लीगियों ने हाथ मिलाया लेकिन अपने निहित स्वार्थों के कारण। कांग्रेस के लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्षवादी और समाजवादी विचारों से उन्होंने हमेशा परहेज रखा। जब कांग्रेस से इन दोनों को कुछ मिलता दिखाई नहीं दिया तो वे दोनों आपस में मिल गए और राष्ट्र की एकता को खतरे में डालकर अपने अपने स्वार्थों को पूरा करने में लग गए।

शुरू में सभी अकाली खालिस्तान के समर्थक नहीं थे। फरवरी १९४३ में सेंट्रल अकाली दल की वर्किंग कमेटी ने आजाद पंजाब योजना का विरोध भी किया था। सेंट्रल अकाली दल ने बाबा खड़क सिंह, हरवंस सिंह सीसतानी, संत सिंह नारंग, और दुर्लभ सिंह के नेतृत्व में कुछ कांफ्रेंसें करके भी आजाद पंजाव की मांग का विरोध किया। इनमें पाकिस्तान के प्रवक्ता जिन्ना और आजाद पंजाब के प्रवक्ता मा. तारा सिंह को 'पूँजीपतियों का एजेंट' और क्रिप्स के संकेत पर 'नाचने वाले पिछलग्गू' तक कहा गया। मा. तारासिंह ने अपने विरोधियों का मुख बन्द करने के लिए कहा कि १९३१ की १७ मांगों में से चौथी मांग का तात्पर्य आजाद पंजाब से ही था जिसे सिख संगत ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया था। जनवरी १९४४ में दिल्ली अकाली कांफ्रेंस ने आजाद पंजाब की मांग दोहराई, किन्तु इसी महीने सेंट्रल अकाली दल ने आजाद पंजाब का विरोध किया। इन्हीं दिनों पेशावर की सीट पर अकाली उम्मीदवार बलवंतसिंह और कांग्रेस उम्मीदवार सरनसिंह में कांटे का चुनाव हुआ। चुनाव का मुख्य मुद्दा आजाद पंजाब था। चुनाव में अकाली उम्मीदवार पराजित हुआ जिसका श्रेय बाबा खड़क सिंह के आजाद पंजाब विरोधी प्रचार को जाता है।

इस चुनाव ने सिद्ध कर दिया कि सिख संगत का बहुमत आज़ाद पंजाब के विरुद्ध है। इस हार से मा. तारासिंह इतने निराश हुए कि शिरोमणि अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। मार्च १९४४ में लाहौर में 'हिन्दू-सिख मिलाप कांफ्रेंस' में संत सिंह एम. एल. ए. ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि अकालियों ने १९४२ के बाद तीन बड़ी भूलें की हैं:- १) यूनियनिस्टों के हाथ मजबूत करना २) आज़ाद पंजाब की मांग उठाना और ३) सूबा सरहद में मुस्लिम मंत्रिमण्डल में शामिल होना। किन्तु फिर भी तारासिंह गुट अपनी मांग पर अडिग रहा। मई १९४४ को अमृतसर की अकाली कांफ्रेंस में पाँच प्रस्ताव पारित किए गए जो इस प्रकार थे–१) राजनैतिक कैदियों की रिहाई, २) आज़ाद पंजाब, ३) सिख विश्वविद्यालय, ४) सिकन्दर-बलदेव पैक्ट पर अमल और ५) सत्यार्थप्रकाश से अन्तिम चार अध्यायों का निष्कासन। जुलाई १९४४ में मंगल सिंह एम. एल्. ए. ने स्पष्ट किया कि 'पाकिस्तान के अस्तितव में आने के पश्चात ही आज़ाद पंजाब की मांग उठेगी। यदि पाकिस्तान न बने तो हमारी कोई मांग नहीं। फिर आज़ाद पंजाब भारत का हिस्सा होगा। यह पाकिस्तान से अलग चीज है।"

उन्हीं दिनों सरदार सोभासिंह ने मांग की कि अंग्रेजों ने सिखों से पंजाब लिया था अतः उन्हें ही वापस किया जाए। अक्तूबर १९४४ में ज्ञानी शेरसिंह ने गुरुसिंह संगत सभा की अमृतसर कांफ्रेंस में

कहा कि गाँधी ने राजा जी फार्मूले के रूप में सिखों से विश्वासघात किया है, अतः अब 'सिख स्टेट' के बिना कोई अन्य विकल्प नहीं है। ज्ञानी करतार सिंह का बयान आया कि अपनी कुर्बानियों की कीमत वसूल करने के लिए हमें अंग्रेजों का साथ देना होगा। अक्तूबर १९४४ की अकाली कांफ्रेंस लाहौर में मा. तारा सिंह ने कम्युनिस्टों, अंग्रेजों, गाँधी और जिन्ना को सिख समाज के लिए खतरा बताया। नवम्बर १९४४ में हम दो सिख नेताओं को दिल्ली में जिन्ना से गुफ्तगू करते देखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिखों ने खालिस्तान के लिए विरोध व समर्थन का सिलसिला एक साथ शुरू करके असमंजस की स्थिति पैदा करदी। वे जिनको विरोधी करार देते थे उन्हीं से समझौता भी करते फिरते थे। सिख नेतृत्व चारों तरफ की निराशा व हताशा को देखकर जैसे अपना मानसिक संतुलन खो बैठा था। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वह चारों तरफ हाथ पटक रहा था। किन्तु उसे हाथ लग कुछ नहीं रहा था। 'स्वार्थी दोषं न पश्यति।' स्वार्थ से अंधे व्यक्ति को अपना दोष कभी दिखाई नहीं देता।

कैबिनेट मिशन

मार्च १९४६ में कैबिनेट मिशन आया जिसका उद्देश्य भारत के राजनैतिक दलों के प्रमुखों से मिलकर आज़ादी के बारे में फैसला करना था। कैबिनेट मिशन में मेजर शार्ट की उपस्थिति अकालियों के लिए सुखद थी, क्योंकि वह सिख समस्याओं का विशेषज्ञ था। किन्तु सर क्रिप्स की उपस्थिति उन्हें खल रही थी क्योंकि १९४२ में उसने सिखों से भेदभाव किया था। तीन महीने की अवधि में मिशन के सदस्यों ने दो सौ बैठकें कीं और लगभग पाँच सौ प्रमुख भारतीयों से बात की।

५ अप्रैल १९४६ को मा. तारा सिंह, हरनाम सिंह ऐडवोकेट, बलदेव सिंह और ज्ञानी करतार सिंह कैबिनेट मिशन के सामने उपस्थित हुए। कैबिनेट मिशन ने जब पूछा कि सिख दो में से किस कौम के साथ जाना चाहेंगे, तो चारों निरुत्तर हो गए और जब उत्तर दिया तो पता लगा कि चारों के अलग-अलग मत थे। चारों में कोई मतैक्य न था। (ट्रिब्यून, ६ अप्रैल १९४६) मा. तारासिंह 'अखण्ड भारत' के समर्थक थे जिसमें सभी कौमों का मिलाजुला मंत्रिमण्डल हो और कोई अन्य कौम पर हावी न हो। और यदि भारत का विभाजन करना ही है तो सिखों को आज़ाद सिख स्टेट दी जाए और उन्हें यह अधिकार हो कि भारत या पाकिस्तान किसी के भी साथ सहयोग कर सकें। हरनामसिंह भी बँटवारे के विरुद्ध थे, पर उनका कहना था कि यदि यह नहीं टल सकता तो खालिस्तान भी स्थापित हो। ज्ञानी करतार सिंह ने कहा कि सिख भारत या पाकिस्तान दोनों में असुरक्षित रहेंगे, अतः उन्हें अलग स्टेट ही मिलनी चाहिए। बलदेव सिंह ने भी खालिस्तान का समर्थन किया। खालिस्तान की सीमाओं को लेकर इन सबमें मतभेद थे।

वे लगातार यह बात करते रहे कि पाकिस्तान बनता है तो खालिस्तान भी बनाया जाए और यदि बंटवारा नहीं होता तो उन्हें विशेष दर्जा प्राप्त हो, क्योंकि वे किसी बहुमत के गुलाम बन कर नहीं रहना चाहते। वास्तव में अकाली खालिस्तान चाहते थे, किन्तु कांग्रेसी सिख उनका विरोध करते थे, अतः उन्होंने पाकिस्तान की आड़ लेनी शुरू की। उन्होंने खालिस्तान की पृथक मांग कभी नहीं उठाई, बल्कि उसे हमेशा पाकिस्तान के साथ जोड़े रखा। वे भारत में इस शर्त पर रहना चाहते थे कि हिन्दू या मुसलमान का बहुमत उन पर हावी न हो। भारत में हिन्दुओं का बहुमत न हो – यह कैसे सम्भव हो सकता था? अतः जाहिर है, वे भारत में रहना ही नहीं चाहते थे।

उधर ३० अप्रैल को रावलपिण्डी में कांग्रेस समर्थक बलदेव सिंह ने एक और बात हवा में उड़ाई कि रावी से मेरठ तक, जालंधर, अम्बाला, मेरठ और आगरा डिवीजन मिलाकर 'जाटिस्तान' बनाया जाए। (ट्रिब्यून, १ मई १९४६)। जाहिर है कि ऐसे परस्पर विरोधी विचारों का प्रभाव कैबिनेट मिशन पर यह पड़ा कि सिखों में 'खालिस्तान' विषय पर भी मतैक्य नहीं है, वे आपस की फूट के शिकार हैं। १६ मई १९४६ को जब कैबिनेट मिशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो उसमें तीन पक्षों को स्वीकार करते हुए भी सिखों के अधिकारों की मांग के बारे में कोई फैसला नहीं दियां गया। पाकिस्तान की मांग भी कैबिनेट मिशन ने रद्द कर दी किन्तु भारत को दो 'ए' व 'बी' ग्रुपों में बाँट कर उसका मार्ग अवश्य प्रशस्त कर दिया गया।

अकालियों का क्षोभ

कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन की रिपोर्ट पर संतोष प्रकट किया, किन्तु अकालियों में उसके प्रति क्षोभ दिखाई दिया। उनकी शिकायत थी कि कैबिनेट मिशन ने सिखों को मुसलमानों के रहम पर छोड़ दिया है और कांग्रेस भी सिखों के लिए कुछ नहीं कर रही। (ट्रिब्यून, २० मई १९४६, सरदार मंगल सिंह का वक्तव्य)। वे यह भी मानते थे कि मिशन ने सिखों को तीसरी कौम नहीं बल्कि पारसी, ऐंग्लो इण्डियन और हरिजनों की तरह समझ कर व्यवहार किया है। (लण्डन सारसफील्ड–बिट्रेयल ऑफ दी सिख्स, पृ १३०-१३१)। कैबिनेट मिशन को लेकर सिखों की उत्तेजना को 'शिरोमणि अकाली दल' नामक पुस्तक के लेखक हरजिन्दर सिंह दिलगीर ने इस प्रकार प्रकट किया है:

> "कांग्रेस (९ व १० जून १९४६ अमृतसर) की अध्यक्षता जनरल मोहन सिंह नागोके ने की। ईश्वर सिंह मझैल ने आँखों में आँसू भर कर कहा कि मिशन ने शानदार सिख कौम को झुका दिया है। हम मुसलमानों की दासता सहन नहीं करेंगे। बाबू लाभ सिंह ने कहा कि अब रक्तपात से ही अपनी रक्षा की जा सकती है। मा. तारा सिंह रोष व जोश से कांपते हुए बोले कि अब विरोध और गुटबाजी का समय नहीं है। शोक की घड़ी में आमंत्रित करने की जरूरत नहीं रहती। अंग्रेज को जान लेना चाहिए कि सिख गुस्से में मुसलमानों से अधिक क्षति पहुँचा सकते हैं। अब तो हम अंग्रेजों का विनाश करेंगे या अपना विनाश करा लेंगे। जनरल ऊधम सिंह नागोके ने कहा कि यदि हम अंग्रेजों को बचाने के लिए जंग में दो लाख फौजी दे सकते हैं तो मोर्चे के लिए भी दे सकते हैं। १८४९ में धोखे से सिख राज छीना गया था, अब १९४९ तक हम बलिदानों से अंग्रेजी राज खत्म करेंगे।"

पंजाब की स्थिति को बिगड़ते देख जून १९४६ में कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार की योजना रद्द कर दी। इसके बाद वायसराय और कैबिनेट मिशन ने अन्तरिम सरकार की तजवीज छोड़ने का फैसला किया। इसी महीने मिशन इंग्लैंड लौट गया। इससे सिखों के आहत हृदय को राहत पहुँची। कैबिनेट मिशन भले ही सिखों को उनकी मांगों के अनुसार उन्हें कुछ नहीं दे सका, किन्तु सिखों में ऐसा क्षोभ भर गया कि उनमें पंथिक एकता का ज्वार आया, परस्पर के मतभेद भुलाकर वे एकजुट हो गए और यहां तक कि कांग्रेस के सिख भी निशान साहब के नीचे आकर खालिस्तान के समर्थन में सिर हिलाने लगे। मजहबी सियासत के इन उद्वेगपूर्ण क्षणों का एक विचित्र पहलू यह रहा कि सिखों

ने कभी यह नहीं सोचा कि जब उनका हिन्दुओं से रोटी-बेटी का नाता है, एक ही परिवार में एक भाई सिख है तो दूसरा मौना, व्यापार, उद्योग और कृषि में साझा है और इतिहास तथा परम्परा से वे एक ही माँ के जाये हैं, तो खालिस्तान की स्थापना से इन सबका रक्षण कैसे सम्भव होगा? उनमें यह सूझ आखिर पैदा क्यों नहीं हुई कि पाकिस्तान बन जाने पर केवल सिखों पर ही कहर बरपा नहीं होगा, हिन्दू भी उससे नहीं बचेंगे। मुसलमान एक विदेशी कौम थी, उसने हिन्दुओं पर शताब्दियों तक शासन किया था, अतः उनके मस्तिष्क में हिन्दुओं के प्रति कुछ सन्देह, कुछ द्वेष रहना स्वाभाविक रहा होगा। किन्तु सिख तो हिन्दुओं की ही उपशाखा थे, इस देश की मिट्टी से जुड़े हुए थे, अतः उनका मुसलमानों की जुबान में अज़ान देने का क्या अर्थ था? वे कहते थे कि भावी पाकिस्तान में उनके गुरुद्वारे हैं, तीर्थस्थान हैं, जिन्हें छोड़ना उनके लिए दुष्कर है, किन्तु दूसरी ओर वे यह मानने को न जाने क्यों तैयार नहीं थे कि खालिस्तान बन जाने पर भारत के गुरुद्वारे और तीर्थस्थान भी तो पाकिस्तान के गुरुद्वारों और तीर्थस्थानों की तरह अनाथ हो जाएंगे। उन्हें डर था कि भारत या पाकिस्तान में वे अल्पसंख्यक होने का अभिशप्त जीवन भुगतेंगे, किन्तु खालिस्तान के अल्पसंख्यक हिन्दुओं के लिए उनके पास क्या प्रोग्राम था? अकाली कभी पंजाब के हिन्दू को यह विश्वास नहीं दिला सके कि उनके मजहबी देश खालिस्तान में उनकी पहचान को आंच नहीं आएगी? आखिर वे किस आधार पर पंजाब के हिन्दू को अपने साथ समझते हुए आधे हरयाणे तक अपने पाँव फैला रहे थे जबकि संख्या के अनुपात से केवल दो-तीन जिलों तक ही खालिस्तान सिमट कर रह जाता।

अकालियों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। वे अपने स्वार्थ को तर्क के बल पर नहीं, किसी वैधानिक आधार पर नहीं, बल्कि कृपाण के बल पर, मजहबी जयकारों के बल पर, साकार करने में विश्वास रखते थे। साइमन कमीशन, क्रिप्स मिशन, कैबिनेट मिशन, किसी भी मिशन ने सिखों की खालिस्तानी मांग पर फूल नहीं चढ़ाए, लेकिन वह बराबर कांग्रेस और मुस्लिम लीग पर दोषारोपण करते रहे कि उनकी वजह से अंग्रेज ने उनकी बात नहीं मानी। इसे अंग्रेजों की अन्ध-भक्ति के सिवाय और क्या कहें।

आजादी का आश्वासन

जनवरी १९४७ में लार्ड एटली ने घोषणा कर दी कि जून १९४८ से पहले भारत का शासन भारतीयों को सौंप दिया जाएगा। इसी महीने में मुस्लिम गार्ड और राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ से सरकार ने प्रतिबंध उठा लिया और डेढ़ हजार लीगी वर्कर जेल से बाहर आ गए। एटली की घोषणा से जिन्ना ने पंजाब पर विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया। सिकन्दर हयात खां का मरना लीगियों के लिए बिल्ली के भागों छींका टूटना सिद्ध हुआ क्योंकि पंजाब की मिली-जुली यूनियनिस्ट-कांग्रेस-अकाली सरकार के प्रमुख खिजर हयात खां निर्बल व्यक्ति थे। मुस्लिम लीग की सियासत का शिकार होकर उन्होंने मार्च १९४७ में त्याग-पत्र दे दिया। गवर्नर ने वजारत बनाने के लिए मुस्लिम लीग को आमंत्रित किया क्योंकि सदन में सबसे बड़ी पार्टी वही थी। सत्ता के इस हस्तांतरण से पंजाब की स्थिति एकदम बदल गई और गली-गली, नगर-नगर तथा गाँव-गाँव में लीगियों ने पाकिस्तान के नारे गुंजा दिए।

३ मार्च को असैम्बली चैम्बर लाहौर में कांग्रेस-अकाली दल की संयुक्त बैठक हो रही थी कि मुस्लिम लीग ने शरारत कर चैम्बर के बाहर भीड़ इकट्ठी करके नारे लगवाने शुरू कर दिए– "ले के रहेंगे पाकिस्तान"। मा. तारा सिंह उत्तेजित होकर चैम्बर से बाहर आ गए और म्यान से कृपाण निकालते हुए बोले– 'काट के देंगे अपनी जान, मगर न देंगे पाकिस्तान।' पुलिस साथ न देती तो

उत्तेजित लीगी उसी दिन मास्टर जी पर हाथ छोड़ देते। इसी दिन सायंकाल लाहौर में एक बड़ा जलसा हुआ जिसमें कांग्रेस व अकाली नेताओं ने भाषण दिये। कांग्रेसी नेताओं की तकरीरों में अहिंसा और अमन पर ज़ोर दिया गया था किन्तु मा. तारा सिंह और ज्ञानी करतार सिंह की तकरीरों से श्रोताओं का खून उबल गया। मास्टर जी ने गर्जना करते हुए इस अवसर पर कहा–

"हिन्दू व सिखो! नाज़ियों और जापानियों की तरह शहादत का जाम पीने को तैयार हो जाओ। हमारी मातृभूमि हमारा लहू मांग रही है और हम अपने रक्त से इसकी प्यास बुझाएंगे। ... मैं पर्याप्त समय से पंजाब में शरारत देख रहा हूँ और इसीलिए मैंने अकाली दल को जत्थेबंद करना शुरु किया हुआ है। यदि हम अंग्रेजों से आज़ादी ले सकते हैं तो ये मुसलमान क्या चीज़ हैं। यहाँ से जाने से पूर्व प्रण करो कि इस लीग को हम खत्म करके ही दम लेंगे। मुसलमानों ने हिन्दुओं से राज छीना, सिखों ने मुसलमानों से, तो अब भी हम राज करेंगे। मैंने बिगुल बजा दिया है। मुस्लिम लीग को नष्ट कर दो ...।" ज्ञानी करतार सिंह ने कहा कि लाहौर किले पर सिखों का केसरी निशान लहराता रहा है, और अब भी लहरायेगा।

अगले दिन, अर्थात् ४ मार्च १९४७ को, हिन्दू और सिख बुद्धिजीवियों ने लाहौर में एक भारी जलूस निकाला और लीगी वजारत का विरोध किया। जलूस और पुलिस में टकराव होने पर गोलियां चलीं जिसमें १३ प्रदर्शनकारी मारे गए और १०३ घायल हुए। पंजाब में निकट भविष्य में क्या होने वाला है, यह उसका पूर्वाभास था।

हालात को देखते हुए गवर्नर ने लीगी सरकार को बर्खास्त कर ५ मार्च को भारतीय संविधान की दफा ९५ के अन्तर्गत सभी अधिकार अपने हाथ में ले लिये। इससे लीगियों में उत्तेजना फैल गई। लीगी नेताओं ने जोशीली तकरीरें देकर पंजाब के उन मुसलमानों के जजबात भड़का दिए जो हिन्दू व सिखों के साथ बैठ कर खाते-पीते थे, आधी-आधी रात तक हीर गाते थे, भंगड़े डालते थे। हर तरफ आग, डाका, चोरी, कत्ल, बलात्कार, अपहरण का दौर बढ़ने लगा और विशेषकर मुलतान, जेहलम, रावलपिण्डी, लाहौर और मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों में ऐसी स्थिति चरमोत्कर्ष पर थी। इसका उत्तर सिखों ने लुधियाना, अमृतसर और सिख रियासतों में देना शुरू कर दिया जहाँ मुसलमान अल्पमत में थे। पंजाब का प्रशासन इस खतरनाक स्थिति में एक दर्शक की सी भूमिका निभा रहा था। ऐसा लगता था जैसे अंग्रेज पंजाब में खून की नदियाँ बहा कर अनंत काल तक भारत में टिके रहने का बहाना गढ़ रहा हो। १५ दिनों के भीतर ही लगभग तीन हजार लोग इन उपद्रवों के शिकार होकर मरे अथवा घायल हुए। पंजाब पुलिस में मुसलमानों का बहुमत होने से स्थिति हिन्दू-सिखों के और अधिक प्रतिकूल हो गई थी।

विभाजन का प्रस्ताव

कत्लेआम और आगजनी के इस बढ़ते दौर को देखते हुए ३ अप्रैल १९४७ को सिखों ने पंजाब के मुस्लिम और गैर-मुस्लिम बहुल क्षेत्रों के विभाजन का प्रस्ताव पास किया। ८ अप्रैल को कांग्रेस ने भी ऐसा ही प्रस्ताव पास किया। १७ अप्रैल को अकाली दल ने भी इस प्रस्ताव को अपना समर्थन दे दिया। १८ अप्रैल को मा. तारा सिंह और ज्ञानी करतार सिंह ने वायसराय से मिलकर इन प्रस्तावों पर अमल करने व साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने की प्रार्थना की। २ मई को दिल्ली में पंजाब के हिन्दू-सिख एम. एल. ए., सैंट्रल एम. एल. ए. और संविधान असेम्बली के सदस्यों ने चौ. लहरी

सिंह की अध्यक्षता में पंजाब के बंटवारे की मांग की । फलतः वायसराय माउंटबेटन ने ३ जून १९४७ को पंजाब और बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी । ९ जून को मुस्लिम लीग ने भी इस योजना को अपनी स्वीकृति दे दी । १५ जून को कांग्रेस ने इससे सहमति प्रकट की । सिखों को यह विभाजन रास नहीं आया, किन्तु विवशता में उन्हें स्वीकार करना पड़ा । सिख पाकिस्तान में जाने वाली अपनी अपार सम्पत्ति का लोभ छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः संत सिंह और मुश्ताक अहमद के बीच तथा ज्ञानी करतार सिंह व मुस्लिम लीग के मध्य पाकिस्तान में ही सिखों के लिए खालिस्तान बनाने की बातचीत चली, किन्तु कतिपय लीगियों और जिन्ना के अड़ियल रुख के कारण यह प्रयास भी विफल रहा ।

प्राप्त विवरणों के अनुसार, जुलाई में ही माउंटबेटन खालिस्तान बनाने का मन बना चुके थे । इस आशय का एक सूचना-पत्र जिन्ना और नेहरू को उन्होंने भिजवा भी दिया था, किन्तु लगता है मुस्लिम लीगियों के दबाव अथवा किसी अन्य कारण से यह विचार अगस्त १९४७ में अंतिम क्षणों में, त्याग दिया गया । सीमा-विशेषज्ञ सिरिल रैडकालिफ ने भारत विभाजन का ऐवार्ड तैयार करने के लिए चार सदस्यों का 'बाउंडरी कमीशन' बनाया जिसके सदस्य थे १) जस्टिस तेजा सिंह २) जस्टिस दीन मुहम्मद ३) जस्टिस मेहरचन्द महाजन ४) जस्टिस मुहम्मद मुनीर । कमीशन ने १४ जुलाई १९४७ से काम करना शुरू कर दिया और १६ अगस्त १९४७ को रैडकालिफ ने ऐवार्ड तैयार करके उसी दिन सायं प्रसारित कर दिया । यह ऐवार्ड यदि कुछ पहले घोषित हो जाता, अर्थात् १५ अगस्त १९४७ से इतना पहले कि पाकिस्तान के हिन्दू व सिख आराम से भारत आ जाते, तो पैशाचिक लीला के शिकार बन कर उन्हें अपनी दौलत और अपनी आबरू खत्म करके शरणार्थी बनकर भारत न आना पड़ता ।

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'खालिस्तान' के विचार ने सिखों को अंत तक उलझाये रखा जिससे वे मुसलमानों व हिन्दुओं में अपना विश्वास खो बैठे । 'खालिस्तान' के मंसूबों को साकार करने के लिए वे पंजाब में उत्तेजना फैलाते रहे और अन्तिम क्षणों तक भीतर ही भीतर लीगियों व अंग्रेजों से सांठगांठ करते रहे । तब भी उन्हें वह नहीं मिला । तो हिन्दुओं से शिकवा-शिकायत क्यों ? सत्ता का यह हस्तांतरण अंग्रेजों ने किया था, न कि कांग्रेस ने, अतः उस पर सिखों से विश्वासघात का दोष नहीं आता । विश्वासघात तो तब होता जब कांग्रेस ने उनकी खालिस्तान की मांग का कभी समर्थन किया होता । अपने स्वार्थों की गोटियां लाल करने के बजाय यदि अकाली राष्ट्रीय धारा से जुड़े रहते, पंजाब में लीगियों द्वारा जलाई गई आग में पैट्रोल न डालते, तो सम्भव था कि कांग्रेस को उससे इतना बल मिलता कि वह विभाजन स्वीकार न करती । अकालियों और कांग्रेस में तालमेल न होने के कारण (जो कि खालिस्तान की मांग के रहते सम्भव नहीं था) ही मुस्लिम लीग पंजाब में अपना वर्चस्व स्थापित कर सकी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजादी की अलख शुभ मुहूर्त में जगाई गई थी, किन्तु अकालियों की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति ने उसे व्यर्थ करने का हर सम्भव प्रयास किया । उन्होंने जानबूझ कर ऐसी मांगें रखीं जो पूरी नहीं की जा सकती थीं, जिनका कोई वैधानिक आधार नहीं था । इन मांगों की आड़ में वे अपने खालिस्तान के कुटिल षड्यंत्र को सफल बनाना चाहते थे । इन मांगों को लेकर वे कांग्रेस को ब्लैकमेल करने का प्रयास ही नहीं करते रहे, अपितु इस आधार पर वे अपने को पंजाब का असली दावेदार भी सिद्ध करने की चेष्टा करते रहे । इन मांगों को लेकर अकालियों ने सिख समाज में अपना सुदृढ़ आधार तैयार किया और बहुमत के प्रति अनादर की प्रवृत्ति पैदा की । आजादी की अलख के प्रति यह खुला विश्वासघात था ।

११ बात निकलेगी तो फिर दूर तलक जाएगी

खण्डित भारत को मिली अधूरी आज़ादी ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा यह दी कि साम्प्रदायिकता गोलियों, बन्दूकों और कारागार से भी अधिक घातक हथियार है।

आज़ादी के बाद भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि आज़ादी की सुविधाएँ किसी व्यक्ति, वर्ग, सम्प्रदाय, जाति और क्षेत्र विशेष तक ही सिमट कर न रह जाए। हमारे देश का संविधान लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता की मजबूत नींव पर तैयार किया गया। किन्तु इतनी ईमानदारी और निष्पक्षता बरतने के बावजूद कुछ साम्प्रदायिक तत्वों को यह संविधान रास नहीं आया। कुछ ने उसे आधे मन से स्वीकार किया तथा कुछ ने पूरे मन से अस्वीकार कर दिया। अकाली प्रतिनिधियों ने संविधान की मूल प्रति पर हस्ताक्षर न करके देश को चेतावनी दी कि 'खालिस्तान' की उनकी रट यथावत् क़ायम है। ब्रिटिश भारत में ही क्रिप्स मिशन, कैबिनेट मिशन और द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस के फैसलों को देखते हुए अकालियों को स्पष्ट संकेत मिल चुका था कि उनकी 'खालिस्तान' की माँग में कोई सार नहीं है, लेकिन फिर भी अपने कंधों पर इस मुर्दा लाश को वे ढोये रहे। अकालियों पर यह भी स्पष्ट हो चुका था कि जिस 'खालिस्तान' को वे अंग्रेजों से नहीं ले सके, मुस्लिम लीगियों से नहीं छीन सके, उसे आज़ाद भारत भी नहीं दे सकता। सरदार पटेल द्वारा लगभग छह सौ रियासतों को भारत में विलय करने के लिए छेड़े गए अभियान से 'खालिस्तान' का रहा-सहा आधार भी स्वतः नष्ट हो गया। किन्तु अपने राजनीतिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अकाली नेतृत्व ने अपनी पहचान के झाँसे में बाजारू फार्मूले के रूप में 'खालिस्तान' को सिख समाज में बनाए रखा।

अकालियों ने ही नहीं, अपितु सिख बुद्धिजीवियों ने भी अपने समाज में यह भ्रम पैदा किए रखा कि उनका धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, कृषि-कारोबार की समृद्धि का अन्तिम विकल्प एकमात्र 'खालिस्तान' ही है। आज़ाद भारत में अपनी कौम के विलुप्त होने के भय को वे निरन्तर सिख समाज में फैलाते रहे। जो भय उन्हें १८४९ में अंग्रेजों द्वारा लाहौर दरबार के पतन के समय नहीं सता सका, जो भय स्वर्ण-मन्दिर और अन्य गुरुद्वारों की चाबियाँ अंग्रेजों को सौंपते समय उन्हें नहीं सता सका, वह भय उन्हें आजाद भारत में अपने ही भाइयों के बीच सताने लगा। सिख जिसे अपनी पहचान मानते थे वह मुसलमानों, पारसियों और ईसाइयों की अलग पहचान की तरह कोई विशेष पहचान नहीं थी, क्योंकि एक ही परिवार में एक भाई सहजधारी और दूसरा केशधारी देखा जा सकता था। एक

हिन्दू परिवार और दूसरे सिख परिवारों में वैवाहिक सम्बंध निर्बाध चलते थे, दशहरा-दीवाली तथा लोहड़ी-बैशाखी आदि पर्वों को दोनों ही मिलकर उत्साहपूर्वक मनाते थे, गुरुद्वारों में हिन्दू और मन्दिरों में सिखों की समर्पित श्रद्धा-भक्ति के दर्शन किए जा सकते थे, गुरु-ग्रंथ साहब पर वेदों, उपनिषदों, षड्दर्शनों, गीता और पुराण द्वारा अंकित प्रभाव सर्व-स्वीकृत था, मरने-जीने तक के संस्कारों में हिन्दू-सिखों में पार्थक्य नहीं, साम्य ही अधिक था, लेकिन इसके बावजूद अपनी पहचान के विलुप्त हो जाने का जो खतरा अल्पसंख्यक मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों को किंचित भी नहीं महसूस हो रहा था, वह खतरा अकालियों को बुरी तरह भयाक्रांत कर रहा था। खतरा यद्यपि था नहीं, क्योंकि ऐसे खतरे की संभावनाएँ भारतीय संविधान में पूर्णतया नष्ट कर दी गई थीं, लेकिन फिर भी उसे इस कारण जानबूझ कर बनाए रखा गया जिससे उसके बल पर अकालियों की राजनीति चल सके, अधिक सुविधाएँ जुटाने के लिए सिखों में उत्तेजना पैदा कर सरकार को ब्लैक मेल किया जा सके और सत्ता हथियाई जा सके।

पटेल-नेहरू युग

सरदार पटेल के आगे अकालियों का गुस्सा और नाराजगी दो डग नहीं भर सकी किन्तु ज्यों ही उन्होंने आँखें बन्द कीं, अकालियों के चेहरे खिल उठे, उनके घरों में घी के चिराग जले। यहां तक देखा गया कि स्वतंत्रता संग्राम के उस महान् योद्धा के मरने पर सिखों ने शोक नहीं मनाया, वरन् मिठाइयाँ बाँटी।

पटेल के मरणोपरांत अप्रैल १९५५ में अकालियों का एक डेपूटेशन लाहौर गया। लाहौर में उनका भव्य स्वागत हुआ। जलसे में पाकिस्तान और भारत के ध्वज साथ-साथ लहरा रहे थे। जब अकाली जलसे में पहुँचे तो भारतीय ध्वज पर उन्होंने आपत्ति उठाई और उसे उतरवा कर अकाली दल का ध्वज लगवाया। गवर्नर पंजाब ने पाकिस्तान सरकार व अकाली नेताओं को इस रवैये के लिए काफी लताड़ा।

नेहरू-काल में कांग्रेस में अकालियों की अधिकाधिक घुसपैठ हुई। अकाली राजनीति के भारी-भरकम स्तम्भ कांग्रेस में शामिल होने लगे। नेहरू जी ने इसे अपने व्यक्तित्व का चमत्कार अथवा धर्मनिरपेक्ष संविधान की उपलब्धि माना, किन्तु राजनीति का भोला खिलाड़ी नेहरू इस षड्यंत्र को भाँप नहीं सका कि किसी बड़े उद्देश्य के लिए अकाली नेता पैंतरा बदल रहे हैं। सरदार बलदेव सिंह, सरदार स्वर्ण सिंह, सरदार प्रताप सिंह कैरों, ज्ञानी जैल सिंह आदि पंजाब के दिग्गज सिख नेताओं ने राजनीति का पाठ अकालियों की पाठशाला में ही पढ़ा था। केरल में मुस्लिम लीग से हाथ मिलाने वाली कांग्रेस पार्टी ने इन सिख नेताओं के आचरण की जाँच करने का कोई प्रयास नहीं किया और उन्हें हृदय से स्वीकार कर लिया। उन पर आँखें मूँद कर इस कदर विश्वास किया गया कि पंजाब के प्रशासन में, पुलिस में, व्यापार व उद्योग में हिन्दुओं के अधिकारों का हनन होता रहा, सिखों को उनके हिस्से से कहीं ज्यादा सुविधाएँ दी जाती रहीं। तुष्टीकरण की नीति पर चलने वाली कांग्रेस ने इस स्थिति पर ध्यान दिया होता तो आज पंजाब न तो आतंकवादियों के हाथों झुलसता, न वहां की पुलिस और प्रशासन नपुंसकता के शिकार होते और न वहाँ दिन-प्रतिदिन के अकालियों के आन्दोलन सफल हो पाते।

राजनीति की इस भूल के कारण अकालियों ने ऐसी माँगें उठाने का सिलसिला जारी रखा जिससे

खालिस्तान के मुर्दे में प्राण फूंकने की आशा बनी रहे। इन माँगों को लेकर अकालियों ने आन्दोलन भी किए और पंजाब की गद्दी भी कांग्रेस से छीनी। कांग्रेस के बहुमत में होने पर उन्होंने उसके साथ मिलकर सरकार भी बनाई। जनसंघ, साम्यवादी, जनता-पार्टी और लोकदल के साथ मिलकर भी अकालियों ने सरकारें बनाई। किन्तु फिर भी वे अपनी संकीर्णता, धर्मांधता और हठ को छोड़ नहीं सके। मजहब और राजनीति के गठजोड़ ने ही सिखों के खून में यह जहर घोल रखा है। जब भी कोई बुराई कैंसर की तरह फैलकर जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग बन जाती है तो वह सभी के लिए दुःखदायी बन जाती है। गत तीन-चार वर्षों में इस बुराई की विकराल तपन को अकेले पंजाब ने ही नहीं, समूचे राष्ट्र ने महसूस किया है।

एक मामूली-सा फोड़ा नासूर कैसे बन गया, यह जानने की अपेक्षा आज का ज्वलंत प्रश्न यह है कि पंजाब के यक्ष प्रश्न का समाधान कैसे होगा ? किन्तु रोग का निदान उसके कारणों को समझे बिना सम्भव नहीं। आज़ादी के बाद की अकालियों की गतिविधियों पर विहंगम दृष्टि डालने से रोग का उपचार ढूँढने में सुविधा रहेगी।

आज़ादी के बाद

शस्य-श्यामल पंचनद में प्रवाहित पाँच दरियाओं के साथ-साथ खून का एक छठा दरिया भी बहने लगा था। इस दरिया में हिन्दू, मुसलमान और सिख तीनों का खून बह रहा था और उसके तटों पर घृणा के गीत गाए जा रहे थे। इस भयंकर विस्फोट और महाविनाशकारी प्रलय के दुष्परिणामों को देख कर साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का समूलतः उन्मूलन आवश्यक था, किन्तु वैसा करने की अपेक्षा पंजाब के साम्प्रदायिक तत्वों ने इसे भी राजनीति का मोहरा बना लिया। विशेषकर अकाली दल ने स्वतंत्रतापूर्व की अपनी घृणित गतिविधियों पर किंचित भी चिन्ता प्रकट न करते हुए बँटवारे का दोष कांग्रेस अथवा पंजाब के हिन्दू नेताओं पर मढ़ना शुरू कर दिया। उस समय की प्राथमिक आवश्यकता थी घायल एवं आहत पंजाब के घावों पर मरहमपट्टी की, संतप्त हृदय को सांत्वना देने की, भग्न मानवता के पुनर्निर्माण की, किन्तु इन बातों की ओर ध्यान न देकर अकालीदल अपनी गोटी लाल करने में जी-जान से जुटा था।

उन्होंने नारा लगाया कि मुसलमानों को पाकिस्तान मिल गया, हिन्दुओं को हिंदोस्तान, सिखों को क्या मिला ? इस नारे का कोई अर्थ नहीं था क्योंकि बँटवारा करने वाला अंग्रेज था न कि मुसलमान या हिन्दू। लगभग एक शताब्दी तक सिख अंग्रेजों की जी-हजूरी में लगे रहे जिसके बदले में उन्होंने असीम सुविधाओं का उपभोग किया, तब यदि अन्तिम क्षणों में उनका 'बॉस' ही उनसे विश्वासघात कर गया तो उसका दोष हिन्दुओं व कांग्रेसियों के मत्थे मढ़ना कहाँ का न्याय था ?

दूसरी बात यह कि अकालियों के खालिस्तान में जो सिख रियासतें पड़ती थीं वहाँ के शासक भी इस तथाकथित खालिस्तान के लिए अपने हितों का बलिदान करने को तैयार नहीं थे। यह ठीक है कि मुस्लिम लीगी अकालियों की माँग पर फूल नहीं चढ़ा सके, यह भी ठीक है कि कांग्रेस सिखों और हिन्दुओं को एक मान कर 'खालिस्तान' के विचार को मान्यता न दे सकी, किन्तु अकालियों को छोड़कर आम सिख और कांग्रेसी-सिख भी इस माँग के पूरी तरह पक्ष में नहीं थे। खालिस्तान के लिए अकालियों ने जो आधार तैयार किया था वह इतना खोखला था कि क्रिप्स मिशन, कैबिनेट मिशन आदि में से किसी ने उसे ठोस नहीं माना था। आज़ादी के बाद इन सभी बातों को ताक पर रखकर

अकालियों ने केवल इस बात का प्रचार किया कि हिन्दू कांग्रेस के कारण खालिस्तान नहीं बना और वह सिखों को निगल जाना चाहती है।

मास्टर जी का स्वर्ण अवसर

आज़ादी कुछ लोगों के लिए खुशी तो कुछ के लिए मातम लेकर आई, किन्तु मा. तारासिंह के लिए यह न खुशी थी न गमी, बल्कि उनके लिए तो यह एक स्वर्ण अवसर था अपनी मजहबी राजनीति को विस्तृत करने का। घायल हृदयों पर नमक छिड़क-छिड़क कर वह लुटे-पिटे सिखों की भावनाओं को भड़काने लगे और अंग्रेजों की सहानुभूति अर्जित करने के लिए वे विलायत गये। वहाँ उन्होंने बर्डवुड के बेटे से भेंट की। जनरल बर्डवुड बहुत समय तक रावलपिण्डी कमाण्ड में रहे थे और बाद में कमाण्डर-इन-चीफ हो गए थे। रावलपिण्डी के भापों से उनके मधुर सम्बंध थे और इसका काफी लाभ भापों ने उठाया था। इस भेंट का उद्देश्य था अकाली सूबे के लिए उनसे सहयोग लेना। किन्तु बर्डवुड के बेटे ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' को भेजे अपने एक लेख में मा. तारासिंह के इस घिनौने कृत्य का भण्डाफोड़ कर दिया।

अंग्रेजों की सहानुभूति अर्जित करने के लिए अकाली दल ने विदेशी पादरियों द्वारा भारत में ईसाइयत के प्रचार के पक्ष में एक प्रस्ताव पारित किया, किन्तु जिन तत्वों के संकेत पर यह कार्य किया गया था उन्होंने अकालियों को कोई विशेष मदद नहीं दी। ब्रिटेन से निराश होकर मा. तारासिंह अपने कुछ साथियों के साथ पाकिस्तान गए जिससे अँधेरे में हाथ-पैर पटक कर कुछ हासिल किया जा सके। लेकिन, पाकिस्तान के रहनुमा उस समय भारत के विरुद्ध कदम उठाने में खतरा महसूस करते थे क्योंकि पहले ही कश्मीर के मामले में वे अपना हाथ झुलसाए बैठे थे।

हताश होकर अकाली नेतृत्व ने धर्मनिरपेक्षता के मौलिक सिद्धान्त पर कुठाराघात करना शुरू किया और कहा कि इस सिद्धान्त से सिक्खी खत्म हो जाएगी। अकालियों ने कहना शुरू किया कि धर्मनिरपेक्षता का समर्थन सिखों को दबाने का सोचा-समझा षड्यंत्र है। इस षड्यंत्र को विफल करने के लिए अकाली-नेतृत्व ने संघर्ष जारी करने की योजना बनाई। उनकी राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों को दृष्टिगत रखते हुए ही पंजाब के तत्कालीन गवर्नर चन्दूलाल त्रिवेदी ने १० अक्टूबर १९४७ को एक परिपत्र जारी किया जिसमें कहा गया था कि– **"सिख एक जरायमपेशा कौम है और प्रांत के ईसाफ़-पसन्द हिन्दुओं के लिए खतरा है। डिप्टी कमिश्नरों को इनके विरुद्ध विशेष कदम उठाने चाहिएँ।"** उस समय पंजाब के गृहमंत्री सरदार स्वर्ण सिंह थे (जो बाद में भारत के विदेशमंत्री भी बने)। मा. तारासिंह ने इस सर्कुलर को अल्पसंख्यक सिखों को खत्म करने की साज़िश बताया।

उस समय अकाली दल फूट का शिकार था। अकाली दल को छोड़कर जो सिख नेता कांग्रेस में जा मिले थे वे साम्प्रदायिक तत्वों के विरुद्ध सक्रिय थे और जो कांग्रेस में जाने की तैयारी कर रहे थे वे अकाली विचारों से पूर्णतया सहमत न रहने के कारण भीतर ही भीतर अकाली-दल की नींव में मठा डाल रहे थे। अकाली-दल ने राजनीतिक पक्ष को इस प्रकार धराशायी होते देख यह उचित समझा कि अकाली कांग्रेस में शामिल होकर सिक्खी को बचाने का प्रयास करें। फलतः मार्च १९४८ को अकाली दल की वर्किंग कमेटी ने फैसला लिया कि पंजाब असेम्बली के २३ सदस्यों तथा लोकसभा के सदस्यों को कांग्रेस में मिल जाना चाहिए। मा. तारासिंह इस फैसले के विरुद्ध थे लेकिन बहुमत के

समक्ष उन्हें झुकना पड़ा। इसके बाद अकाली नेता ऊधम सिंह नागोके ने हिन्दू कांग्रेसी सरकार (कांग्रेस को अकाली आज़ादी के पूर्व ही से हिन्दू दल मानते रहे हैं और आज तक इसी भ्रम को फैलाते रहे हैं) पर आरोप लगाया कि ७२ से ९६ प्रतिशत तक राजपत्रित अधिकारी हिन्दू हैं और वे सिखों से तथा सिख कर्मचारियों से भेदभाव करते हैं। यह बयान ऐसे समय दिया गया जबकि सभी सिख विधायक ज्ञानी करतार सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस के फ़ार्म भर चुके थे।

माँगों का श्रीगणेश

२४ अप्रैल १९४८ को मा. तारासिंह ने सिख स्टूडेंट फेडरेशन के अध्यक्षीय भाषण में सिखों को केवल हिन्दू धर्म का रक्षक बताया। ऐसा बयान तब दिया जा रहा था जबकि नेहरू, पटेल, अम्बेदकर, राजेन्द्र प्रसाद, के. एम. मुंशी की एक उप-समिति ने (जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों का अध्ययन करने हेतु गठित की गई थी) सिखों को विशेष अधिकार देने में असहमति प्रकट की थी। इस स्थिति में मास्टर तारासिंह के मुख से आग बरसनी चाहिए थी, किन्तु बरस रहे थे फूल। इस रहस्य का भेद तब खुला जब जून १९४८ में पंजाब की भार्गव सरकार ने पंजाबी और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना दिया।

उस समय पंजाबी की स्थिति एक मजहबी भाषा की थी और आर्य समाज के प्रचार के कारण हिन्दी के पक्ष में हवा बह रही थी, तथा डी. ए. वी. संस्थाओं के कारण शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी के बाद हिन्दी का ही वर्चस्व बना हुआ था। जिस पंजाबी भाषा को महाराजा रणजीत सिंह के काल में भी प्रशासन या शैक्षणिक क्षेत्र में कभी प्रोत्साहन नहीं मिला था, वह केवल इस कारण एकाएक मुखर हो उठी क्योंकि उसके लिए अकाली काफी समय से सक्रिय थे। पंजाब के 'महाशय प्रेस' ने सरकार की इस घोषणा को तुष्टीकरण की नीति कहा, साम्प्रदायिकता के आगे घुटने टेकने की निर्लज्जता बताया तथा इसके गंभीर परिणामों से सरकार को अवगत कराया। महाशय प्रेस प्रांतीयता और मजहबी धरातल से ऊँचा उठकर ऐसा कर रहा था। सरकार के उस गलत फैसले के कारण ही आज स्थिति यह है कि पंजाब में हिन्दी राष्ट्रभाषा होते हुए भी दासी का जीवन भोग रही है। अकाली दल इस फैसले से इतना प्रसन्न था कि पृथक्तावाद का अलम्बरदार होते हुए भी उसने अपने पूर्व आचरण के विपरीत अक्टूबर १९४८ में संविधान के प्रारूप पर बहस करते हुए पृथक् चुनाव प्रणाली का विरोध किया। अपनी इस उदारता की कीमत माँगते हुए पंजाब असेम्बली के सभी सिख सदस्यों ने (प्रताप सिंह कैरों को छोड़कर) अगले ही महीने अर्थात् नवम्बर १९४८ को १३ माँगों का एक चार्टर पेश किया जिसमें मुख्य माँगें ये थीं:

१. प्रांत के मंत्रिमण्डल में सिक्खों को ५०% भागीदारी मिले।
२. केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में यह भागीदारी ५% हो।
३. केन्द्र में एक कैबिनेट स्तर का तथा एक राज्यमंत्री सिख हो।
४. १९४१ की जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व मिले।
५. गवर्नर और मुख्यमंत्री में से पंजाब में एक सिख अवश्य हो।
६. गुड़गाँवा और लोहारू पंजाब में से निकाल दिए जाएँ।

७. प्रांत की ४०% नौकरियों में सिखों का हिस्सा हो।

८. और यदि ये माँगें न मानी जाएँ तो सिखों को जालंधर, होशियारपुर, अमृतसर, लुधियाना, फिरोजपुर, गुरदासपुर तथा अम्बाला ज़िलों का नया प्रांत दे दिया जाए। इस प्रकार सिखों को इस नए प्रांत के साथ-साथ पेप्सू भी मिल जाता जिसमें ५३% सिख थे।

यह ध्यान देने की बात है कि १९४७ में पंजाब की कुल आबादी १, ५८, ६६, ८८८ थी जिसमें सिख ५५, ५४, ५१८ (अर्थात् ३५%) और हिन्दू ९८, ८०, ७७९ (अर्थात् ६२.३%) थे। पंजाब असेम्बली के ८७ सदस्यों में २२ अकाली (२५%) ५० कांग्रेसी (५६%) और १४ आज़ाद (१६%) थे। अपनी संख्या की अपेक्षा अकाली सिखों के लिए अधिक सुविधाएँ चाह रहे थे और उनकी पूर्ति न होने की स्थिति में सिख-बहुल प्रांत की शर्त रख रहे थे। अर्थात् जानबूझ कर ऐसी माँगें रखी गईं जिनका कोई आधार नहीं था और जिन्हें मानना कठिन था जिससे कि विवश होकर सरकार सिख बहुल प्रांत अथवा पंजाबी सूबा (खालिस्तान का भ्रूण) उन्हें देने पर विवश हो। इन माँगों पर विचार करने के लिए भीमसेन सच्चर, चौ. लहरी सिंह, बी. एल. चानन, सूरज मल, शन्नो देवी, सरदार स्वर्ण सिंह, ज्ञानी करतार सिंह, उज्जवल सिंह, ईश्वर सिंह मझैल और बाबू वचन सिंह की एक कमेटी गठित की गई। महाशय प्रेस और ट्रिब्यून ने इन माँगों को लेकर काफ़ी विरोध प्रकट किया। अकाली जो सिख-बहुल प्रांत माँग रहे थे वह पाकिस्तान की सीमा से लगता हुआ प्रदेश था और अकालियों का आचरण उस समय तक की उनकी गतिविधियों के कारण संदिग्ध था, अतः पंजाबी सूबा तो उनको दिया ही नहीं जा सकता था। ये माँगें भी ऐसी थीं जिन्हें पूरा कर देने पर पूरे देश में इसी प्रकार की माँगें अन्य सम्प्रदायों व वर्गों द्वारा भविष्य में उठ सकती थीं। मा. तारासिंह ने तेवर बदल लिये और नवम्बर १९४८ में एक प्रेस कांफ्रेंस में कहा कि पंजाब का हिन्दू सिख कौम को धार्मिक रूप में हड़प जाना चाहता है। हिन्दू प्रेस का आक्रमण अत्यंत खतरनाक रूप धारण कर रहा है। अर्थात् जिस भ्रम ने मैकालिफ के ग्रंथों में पहली बार उड़ान भरी वह भ्रम अब पंजाब की धरती पर उछल-कूद मचाने लगा था।

मा. तारा सिंह ने अपने विचारों को और अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने के लिए २० फरवरी १९४८ को दिल्ली में कांफ्रेंस करने का फैसला किया। भारत सरकार ने रक्षा-मंत्री बलदेव सिंह को यह कांफ्रेंस रद्द कराने के लिए भेजा। फलतः, अकाली दल की वर्किंग कमेटी ने इस पर विचार किया और फैसला किया कि कांफ्रेंस अवश्य होनी चाहिए। उस समय संविधान बन रहा था इसलिए अपनी माँगों के लिए प्रदर्शन भी जरूरी समझा गया। पहले कांफ्रेंस रामलीला ग्राउंड में करने का विचार था और अब उसे शहीदी दीवान के रूप में गुरुद्वारा रकाब गंज में करने का फ़ैसला हुआ। दीवान में जब मा. तारासिंह भाग लेने के लिए दिल्ली आ रहे थे तो उन्हें नरेला स्टेशन पर उतार कर जेल भेज दिया गया। दीवान में भाषण देने वालों को भी गिरफ्तार कर लिया गया। इस समय सरदार बलदेव सिंह ने मा. तारासिंह को साम्प्रदायिकता भड़काने वाला बताया। अकालियों की ओर से २ मार्च १९४९ को विरोध दिवस मनाया गया और ४ अप्रैल १९४९ को अमृतसर में सिख बुद्धिजीवियों की बैठक बुलाई गई जिसमें पहली बार पंजावी सूबे की माँग का प्रस्ताव पारित किया गया।

पंजाबी सूबा

इसी बीच कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे अकालियों को और गुल खिलाने का अवसर मिल

गया। फरवरी १९४९ में जालंधर की म्युनिसिपल कमेटी ने सर्वसम्मति से फैसला किया कि वह अपने स्कूलों में पंजाबी के स्थान पर हिन्दी माध्यम से शिक्षा देगी। ९ जून १९४९ को पंजाब विश्वविद्यालय, सोलन की सीनेट ने पंजाबी माध्यम बनाने का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। उधर चार्टर की माँगों पर विचार करने वाली कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी, जिसमें सिखों को विशेष अधिकार देने से इन्कार कर दिया गया था।

अक्तूबर १९४९ में पंजाब सरकार ने सच्चर फार्मूला लागू कर दिया और पंजाबी ज़ोन में पंजाबी की पढ़ाई अनिवार्य कर दी। अमृतसर, जालंधर, गुरदासपुर, फिरोजपुर, लुधियाना व होशियारपुर के अतिरिक्त हिसार का कुछ भाग और रोपड़ तथा खरड़ (जिला अम्बाला) पंजाबी ज़ोन में रखे गए। इस फार्मूले ने आगे जाकर पंजाब में काफी तनावपूर्ण स्थिति पैदा की। इस फार्मूले में लचीलापन रखा गया था कि यदि माँ-बाप चाहें तो बच्चे को किसी अन्य भाषा में शिक्षा दिला सकते थे। सन् १९४९ में मैट्रिक की परीक्षा में १२०२८ हिन्दू व ३९४० सिख विद्यार्थी बैठे थे जिसमें हिन्दू छात्रों ने हिन्दी व सिख छात्रों ने पंजाबी माध्यम से परीक्षाएँ दीं। इस स्थिति के कारण सच्चर फार्मूले में अकालियों को विशेष उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं हुई। वे चाहते थे कि पंजाबी रीजन में केवल पंजाबी का ही बोलबाला रहे। किन्तु आर्यसमाज, जिसे घुट्टी में ही हिन्दी की ममता मिली थी, इस दुराग्रह को संरक्षण देने को तैयार नहीं था। वह पंजाबी का विकास तो चाहता था, पर हिन्दी की कीमत पर नहीं।

हिन्दी के बढ़ते चरणों और अल्पसंख्यक कमेटी के फैसलों से क्षुब्ध मा. तारासिंह ने जेल से बाहर आकर १० अक्तूबर १९४९ को घोषणा की कि "सिखों का सभ्याचार हिन्दुओं से भिन्न है और जैसे हिन्दुओं को गुरुमुखी सिखों की भाषा लगती है वैसे ही सिखों की परम्पराएँ, हीरो, इतिहास, सामाजिक ढाँचा भी अलग है। सिखों का सभ्याचार गुरुमुखी सभ्याचार है।"

२६ नवम्बर १९४९ को भारत का नया संविधान पारित हुआ। यह जान कर कि संविधान में सिखों के लिए अलग प्रतिनिधित्व, लाभ अथवा संरक्षण नहीं है, सिख सदस्यों ने इसका विरोध किया और हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। किन्तु अब तीर कमान से निकल चुका था क्योंकि संविधान बनने से पहले इसका विरोध होता तो भी कोई बात थी। हस्ताक्षर न करने की बात तब और भी अर्थहीन हो गई जब अकाली दल ने इसी संविधान के अन्तर्गत चुनाव लड़े।

जनवरी और फरवरी १९५० में अकाली दल के अध्यक्ष ने बम्बई व लुधियाने में कहा कि पंजाब की भाषा व सभ्याचार के आधार पर पंजाब का सिख सूबे में बँटवारा अत्यंत जरूरी है और यह एक लोकतंत्रीय माँग है। इस माँग को साम्प्रदायिक कहने वाले स्वयं साम्प्रदायिक हैं। यह वही माँग है जिसका समर्थन गांधी व अन्य कांग्रेसी नेता भी करते रहे हैं। जुलाई १९५० में एक हरिजन कांफ्रेंस में बोलते हुए पंजाब सरकार के एक मंत्री ज्ञानी करतार सिंह ने कहा कि अकाली दल की माँग सिख स्टेट की माँग है, पंजाबी सूबे की नहीं। पंजाब के विकास मंत्री ईश्वर सिंह मझैल ने भी ऐसा ही बयान दिया। इसी बीच पंजाबी सूबे को व्यापक समर्थन दिलाने के उद्देश्य से जुलाई १९५० में एक चमत्कारी कदम अकाली दल ने यह उठाया कि अकाली विधायक कांग्रेस से बाहर निकल आए। अकाली दल की वर्किंग कमेटी के इस इकतरफा बयान पर विचार-विमर्श के लिए इसी महीने एक बैठक हुई। बलदेव सिंह, ईश्वर सिंह मझैल, ज्ञानी करतार सिंह, उज्ज्वल सिंह, स्वर्ण सिंह, गुरबचन सिंह बाजवा, शिव सिंह, मान सिंह, सार्दूल सिंह, तारा सिंह, सरमुख सिंह आदि इसमें उपस्थित थे। दीर्घ विचार-विमर्श के उपरांत विधायकों ने कांग्रेस में ही बने रहने का निर्णय लिया। १५ दिसम्बर

१९५० को प्रताप सिंह कैरों ने 'आल इण्डिया कांग्रेस सिख कन्वेंशन' बुलाया जिसमें सभी प्रमुख कांग्रेसी सिखों ने अकाली दल व पंजाबी सूबे पर प्रबल प्रहार किए।

१९५१ में जब जनगणना हुई तो हिन्दू प्रेस ने ऐसा वातावरण तैयार करने पर पूरा जोर लगाया कि पंजाबी हिन्दू व हरिजन अपनी भाषा हिन्दी लिखाएँ। इससे सिखों का वह स्वप्न भंग हुआ जिसके बल पर वे पंजाबी का ध्वज लहराना चाहते थे। जनगणना में हुई इस भाषाई पराजय को देखते हुए अकालियों ने सितम्बर १९५१ में पटियाला में एक विशाल कांफ्रेंस की जिसमें लगभग ३-४ लाख सिखों ने भाग लिया। पंजाबी सूबे की माँग को इस कांफ्रेंस में खूब उछाला गया। इसी बीच संसद में 'हिन्दू कोड बिल' पर विचार-विमर्श चल रहा था। इस बिल की धारा २ में बौद्ध व जैनियों की तरह सिखों को भी हिन्दू ही माना गया था। इसके विरोध में अकाली सदस्य उठ खड़े हुए लेकिन वह विरोध अधिक मुखर न हो सका। ज़ो उग्रवादी अकाली अपने को हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते थे वे इस व्यवस्था को लेकर हमेशा साम्प्रदायिक भावना भड़काते रहे। १९५२ के आम चुनावों में अकालियों ने कांग्रेस के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए पंजाबी सूबे के मसले को काफी उछाला, किन्तु चुनावों में उन्हें बुरी तरह हार का मुंह देखना पड़ा। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनाव में अकालियों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर इस पराजय का बदला लिया। अब वे पंजाबी सूबे की माँग को और अधिक सशक्त ढँग से उठा सकते थे। १९५५ तक आते-आते अकालियों ने पंजाबी सूबे के समर्थन में पर्याप्त समर्थन जुटा लिया। जुलाई १९५५ में पुलिस को अमृतसर के हरमन्दिर साहब में प्रवेश करना पड़ा और आंसू गैस, लाठी-चार्ज तथा गोली चला कर आन्दोलनकारियों का दमन करना पड़ा। इस दमन की गूँज काफी दिनों तक पंजाब के वातावरण को क्षुब्ध बनाए रही।

महापंजाब की माँग

दिसम्बर १९५३ में नियुक्त हदबंदी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट अक्तूबर १९५५ में पेश कर दी। इसमें पंजाबी सूबे की माँग को पूर्णतया ठुकरा कर महापंजाब की सिफारिश की गई थी। पंजाब, पैप्सू और हिमाचल प्रदेश को मिलाकर महापंजाब बनाने की इस सिफारिश में अकालियों को षडयंत्र की गंध आई, क्योंकि इससे सिख और अधिक अल्पमत में आ जाते थे। इसे अकालियों ने सिखों पर 'एटमी धमाके' का नाम दिया। १९५६ में बम्बई प्रांत को गुजरात और महाराष्ट्र में विभाजित करने की बात उठी तो पंजाबी सूबे के समर्थकों को उससे बल मिला। जनवरी १९५६ में भीमसेन सच्चर द्वारा त्यागपत्र दिए जाने पर प्रताप सिंह कैरों ने सत्ता सँभाली और अगले ही दिन लुधियाने में कलगीधर गुरुद्वारे के सामने जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने पंजाबी सूबे के विरोध और महापंजाब के समर्थन में नारेबाजी की। फरवरी १९५६ में कांग्रेस, अकालीदल और महापंजाब के समर्थकों ने अमृतसर में अपनी-अपनी कांफ्रेंसें कीं। इस अवसर पर सिखों का ६ मील लम्बा जलूस निकला और पंजाबी सूबे की माँग दोहराई गयी।

रीजनल फार्मूला

मार्च १९५६ में सरकार ने रीजनल फार्मूला पेश किया जिसके अनुसार पंजाब और पेप्सू को मिलाकर इसके दो जोन बनाने की व्यवस्था थी। हिमाचल अलग और पंजाब में पंजाबी तथा हिन्दी

जोन बनाने की योजना थी जिनमें भिन्न-भिन्न रीजनल कौंसिलें होंगी। इन कौंसिलों को विधि एवं व्यवस्था, टैक्स व वित्त के सिवाय शेष अधिकार होंगे और इनके फैसले मंत्रिमण्डल पर लागू होंगे। पारस्परिक झगड़ों का निपटारा गवर्नर करेंगे। पंजाबी रीजन की भाषा पंजाबी होगी, जिसकी लिपि गुरुमुखी होगी। पेप्सू में पंजाबी जोन पर पंजाबी फार्मूला और हिन्दी जोन पर सच्चर फार्मूला लागू होगा। हिन्दू-सिख अनुसूचित जातियों में कोई अन्तर नहीं होगा।

सरदार हुकम सिंह, ज्ञानी करतार सिंह और ज्ञान सिंह राड़ेवाला रीजनल फार्मूले को समर्थन देने वालों में अग्रणी थे। पहले तो अकालियों ने इसका विरोध किया, किन्तु जब उसका बारीकी से अध्ययन किया तो उसमें उन्हें लाभ दिखाई दिया। तब उसे अपना समर्थन दे दिया। अजीत सिंह सरहदी ने अपनी पुस्तक 'पंजाबी सूबा' (पृ. २६५) में रहस्योद्घाटन किया कि यह फार्मूला सरदार हुकम सिंह के मस्तिष्क की देन थी। 'फ्री थिंकर' में इस फार्मूले पर एक लेख छद्म नाम से पहले ही निकल चुका था जिसे हुकम सिंह का माना जाता है। इस लेख की प्रति हुकम सिंह ने पंडित पंत को दी थी। इस फार्मूले के बाद ही हुकम सिंह को लोकसभा का डिप्टी-स्पीकर बनाया गया, यद्यपि तब वे सत्तारूढ़ कांग्रेस में न होकर विपक्ष में थे। रीजनल फार्मूले से पंजाबी सूबे का संकट कुछ समय के लिए टल गया, किन्तु मार्च-अप्रैल १९५६ में पंजाब के प्रसिद्ध जनसंघी नेता बलराम जी दास टण्डन ने रीजनल फार्मूले का विरोध करने के लिए अनशन किया। प्रताप सिंह कैरों भी रीजनल फार्मूले के विरुद्ध और महापंजाब के सर्मथक थे।

रीजनल फार्मूले के कारण सिख कांग्रेसियों को बड़ा बल मिला और वे अधिकांश अकाली नेताओं को कांग्रेसी खेमे में खींच लाने में सफल हुए। इससे अकाली दल की गतिविधियों को धर्म, संस्कृति और भाषा की रक्षा करने तक सीमित करने में भी कुछ हद तक कामयाबी मिली। मा. तारासिंह के विरोध के बावजूद नवम्बर १९५६ में अकाली दल का जनरल इजलास हुआ जिसमें उपस्थित ३५० में से ३२२ डेलीगेटों ने अकाली दल को कांग्रेस में विलय करने का निर्णय लिया।

हिन्दी रक्षा आन्दोलन

१९५७ के चुनावों में सीटों को लेकर अकाली व कांग्रेसियों में मतभेद उभरे। अकाली कम से कम ४० सीटों की आशा लगाए बैठे थे, किन्तु उन्हें पहले १७-१८ व बाद में २२ सीटें ही दी गईं। इससे नाराज होकर मास्टर तारा सिंह ने अपने २३ आज़ाद उम्मीदवार खड़े कर दिए। किन्तु चुनाव में मास्टर जी के सभी उम्मीदवार हार गए। अप्रैल १९५७ में नए मंत्रिमण्डल ने शपथ ली और इसी महीने में हिन्दी रक्षा समिति ने रीजनल फार्मूले के विरुद्ध प्रदर्शन शुरू कर दिये। समिति का संचालन सुप्रसिद्ध आर्य समाजी संन्यासी स्वामी आत्मानंद सरस्वती कर रहे थे।

इस आन्दोलन को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने में हिन्दी प्रेस का भारी योगदान रहा। आन्दोलन की प्रचण्डता को देखते हुए ज्ञानी करतार सिंह ने चेतावनी दी कि यदि रीजनल फार्मूला फेल हो गया तो पंजाबी सूबे का मोर्चा फिर शुरू होगा। उधर लाल चन्द सब्बरवाल ने धमकी दी कि पंजाबी लागू करने में जबरदस्ती हुई तो लड़ाई के मोर्चे शहरों और गली-बाजारों में खोल दिए जाएँगे। आर्यसमाज ने इस आन्दोलन में अपने को पूरी तरह झोंक दिया था और पंजाब से बाहर के जत्थे भी चंडीगढ़ पहुँचने लगे थे। हुकम सिंह ने बयान दिया कि यह आन्दोलन पंजाबी को खत्म करने का षड्यंत्र है जबकि दूसरी ओर से स्वामी आत्मानंद जी का बयान आया कि "रीजनल फार्मूले का अर्थ है पंजाब

को सिखिस्तान बनाना और सिखिस्तान का अर्थ है खालिस्तान। अतः सीमा प्रांत होने के कारण इस षड्यंत्र को पंजाब में सफल नहीं होने दिया जाएगा।"

हिन्दी-आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था कि एक अप्रिय घटना घटी जिसे एक तरफ अकालियों की तथा दूसरी तरफ आर्यसमाजियों की शरारत प्रचारित किया गया। १७ जुलाई १९५७ को अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर के पवित्र सरोवर में सिगरेट तैरती पाई गई। इसके अतिरिक्त एकाध सिख के केश काटने, सिख ग्रंथों के पन्ने फाड़कर गुरुद्वारों में व सार्वजनिक स्थलों में डालने, सिखों को डाक द्वारा सिगरेट के पैकेट भेजने, पंजाबी में लिखे नाम-पट्टों को मिटाने की कुछ हरकतें भी प्रकाश में आईं। यह भी प्रचारित किया गया कि हरमन्दिर सरोवर की नींव तो गोमांस खाने वाले एक मुसलमान ने रखी थी अतः वह पवित्र नहीं, अपवित्र सरोवर है। इन बातों ने, वे चाहे झूठी थीं या सच्ची, सिखों के मन में आग लगादी और फरवरी १९५८ में उन्होंने विरोध में दिल्ली में पाँच मील लम्बा जलूस निकाला।

पंजाबी-सूबे का समर्थन

हिन्दी आन्दोलन के अनुभवों के आधार पर और हरयाणा प्रांत के प्रति पंजाब सरकार के पक्षपातपूर्ण रवैये को देखते हुए आर्यसमाजी नेता प्रो. शेर सिंह ने भी पंजाबी सूबे का समर्थन कर दिया जिससे हरयाणा एक प्रांत के रूप में भारत के भूगोल पर आ सके। मई १९६० में पंजाबी सूबा कन्वेंशन अमृतसर में हुआ जिसकी अध्यक्षता पं. सुन्दरलाल ने की। इसमें हिन्दू, मुसलमान, प्रजा सोशलिस्ट, संयुक्त सोशलिस्ट, स्वतंत्र-पार्टी के नेताओं ने भी भाग लिया और पंजाबी सूबा शीघ्रातिशीघ्र बनाने की माँग की। कन्वेंशन ने विशाल हिमाचल और हरयाणा प्रांत की स्थापना की भी माँग की। इस प्रकार पंजाबी-सूबे की प्राप्ति के लिए दो अलग-अलग मोर्चें खुल गए। जनसंघी नेता बलराज मधोक, हिन्दू महासभाई व आर्यसमाजी नेता प्रो. राम सिंह और सरदार प्रताप सिंह कैरों सीमा प्रांत में पंजाबी सूबा बनाने के हक में नहीं थे, किन्तु अकाली और हरयाणावासी अपना-अपना लाभ देखते हुए पंजाबी सूबे के लिए संघर्ष कर रहे थे।

१७ नवम्बर १९६० को अकाली दल ने संत फतह सिंह को पंजाबी सूबे के लिए आमरण अनशन करने की अनुमति दे दी। दिसम्बर में संत जी ने अनशन शुरू कर दिया। किन्तु बाद में मा. तारा सिंह की चाल का शिकार होकर संत जी ने बीच में ही अनशन तोड़ दिया। जब लोगों के सामने सचाई आई तो मंजी साहब में हुए दीवान में मा. तारासिंह को 'मुर्दाबाद' के नारे सुनने पड़े। मास्टर जी को बीच में ही भाषण छोड़कर ग्रंथियों की मदद से जान छुड़ाकर भागना पड़ा।

मई १९६१ में तारासिंह-नेहरू भेंट से निराश होकर मा. तारासिंह ने १५ अगस्त से आमरण अनशन शुरू कर दिया जिसके विरोध में स्वामी रामेश्वरानन्द ने भी अनशन शुरू कर दिया। संसद में नेहरू जी द्वारा यह बयान देने पर कि पंजाबी-सूबा नहीं बनेगा, स्वामी जी ने अपना अनशन खोल दिया। अक्तूबर में भारत सरकार ने सिखों से कथित भेदभाव की जाँच के लिए कमीशन बैठाने की घोषणा की और मा. तारासिंह ने अपना अनशन खोल दिया।

दिसम्बर १९६१ में कमीशन ने कार्रवाई शुरू की और फरवरी १९६२ में अपनी रिपोर्ट पेश कर दी जिसमें सिखों से हो रहे भेदभाव की बात को बे-बुनियाद बतलाया गया। इस प्रकार पंजाबी सूबे की उभरी माँग कुछ समय के लिए ठंडी हो गयी। दोनों संतों के मतभेद भी इससे बढ़े और अकाली

दल दो धड़ों में बँट गया जिससे सिखों का उत्साह भंग हुआ और उनमें निराशा छा गयी। १९६२ के चीनी आक्रमण के कारण पंजाबी-सूबे की माँग दबी रही। मार्च १९६३ में पंजाब-हिमाचल जन-संघ की वर्किंग कमेटी ने प्रांतीय असेम्बली भंग करके पंजाब को केन्द्र प्रशासित-क्षेत्र बनाने की माँग की।

मई १९६४ में नेहरू जी की मृत्यु हो गई। जून १९६४ में दास कमीशन द्वारा भ्रष्ट घोषित होने पर प्रताप सिंह कैरों के त्यागपत्र से पंजाब में परिवर्तन आया। ये दोनों नेता पंजाबी-सूबे के विरोधी थे। संत फतह सिंह और मा. तारासिंह गुटों की भारी फूट को खत्म करने के लिए दर्शन सिंह फेरूमान ने आमरण अनशन की धमकी दी, जिससे ऐसे हालात पैदा हुए कि ३७ महीनों बाद जाकर संत फतह सिंह और मा. तारा सिंह आपस में मिले। इस मिलाप को देखकर केन्द्रीय सरकार ने पंजाबी-सूबे के सभी पक्षों का अध्ययन मंजूर किया। अकाली यह प्रचारित करने लगे कि पंजाबी-सूबा इसलिए नहीं दिया जा रहा क्योंकि दिल्ली की हिन्दू सरकार हमारी देशभक्ति पर सन्देह करती है। उधर कम्युनिस्ट पार्टी ने भी माँग की कि पंजाबी-सूबे की माँग स्वीकार की जानी चाहिए। हरयाणा इसलिए इच्छुक था कि वह सिखों के पक्षपात से मुक्त होना चाहता था।

सितम्बर १९६५ में सरकार ने पंजाबी सूबा के लिए कमीशन नियुक्त करने का फैसला लिया। संत फतह सिंह का बयान आया कि 'हमें कमीशन नहीं, पंजाबी-सूबा चाहिए और पंजाबी-सूबा मुझे देश से कहीं बढ़कर प्यारा है।' ('ट्रिब्यून' ४-९-१९६५)। अतः १० सितम्बर को उन्होंने आमरण अनशन शुरू कर दिया। उन्होंने बयान दिया: "मुझे पंजाबी सूबे की सीमाओं से कुछ नहीं लेना-देना, मुझे केवल पंजाबी सूबा चाहिए।" मा. तारासिंह के मस्तिष्क में पंजाबी सूबे का दूसरा ही मानचित्र था।

जनवरी १९६६ में श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। एक तरफ अकाली, कम्युनिस्ट, हरयाणवी तथा हरयाणा के आर्यसमाजी नेता तथा प्रो. शेर सिंह, स्वामी ओमानन्द, जगदेव सिंह सिद्धान्ती आदि पंजाबी-सूबे का समर्थन कर रहे थे और दूसरी ओर जनसंघ, पंजाब के आर्यसमाजी, हरयाणा के प्रो. रामसिंह, स्वामी रामेश्वरानन्द आदि-आदि नेता, हिन्दू कांग्रेसी उसका विरोध कर रहे थे। मुख्यमंत्री रामकिशन कामरेड पंजाबी सूबे के विरोधी थे। योगी सूर्यदेव ने भी पंजाबी सूबे की माँग के विरोध में आमरण अनशन करने की घोषणा की। मार्च १९६६ में जनसंघी नेता यज्ञदत्त शर्मा ने पंजाबी सूबे के विरोध में आमरण अनशन शुरू कर दिया। पंजाब के हिन्दू दुकानदारों ने हड़तालों का सिलसिला शुरू कर दिया। डी. ए. वी. संस्थाओं के विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किए। पुलिस से टकराव होता रहा। अमृतसर में कांग्रेस का कार्यालय फूँक दिया गया। परिस्थितियों से विवश होकर सरकार ने १९६१ की जनगणना को आधार मानकर पंजाबी सूबा बनाने का निर्णय लिया। गुलजारी लाल नन्दा ने हरयाणा के हितों में विशेष रुचि दिखाई। अप्रैल १९६६ में जस्टिस शाह, एम. एम. फिलिप और एस. दत्त का त्रिसदस्य हदबंदी कमीशन इस काम के लिए बनाया गया और ५ जून १९६६ को उसने अपनी रिपोर्ट दे दी।

फूट का बीज

हदबंदी कमीशन के तीन में से दो सदस्यों ने चण्डीगढ़ हरयाणा को देने की सिफ़ारिश की। ऊना, आनन्दपुर और भाखड़ा हिमाचल को दे दिये गये। खरड़ तहसील हरयाणे को देने की सिफ़ारिश की गई। इस रिपोर्ट पर अकालियों ने तीखी प्रतिक्रिया प्रकट की। गुरदयाल सिंह ढिल्लों ने अपने पद से त्यागपत्र देने की धमकी दी। कामराज, दरबारा सिंह तथा कुछ अन्य केन्द्रीय मंत्री

चण्डीगढ़ को पंजाब में रखना उचित मानते थे। अन्ततः जून १९६६ में चण्डीगढ़ को केन्द्र प्रशासित क्षेत्र घोषित कर दिया गया। मा. तारा सिंह और पंजाब के अधिकांश मंत्रियों ने इसके विरुद्ध अपने इस्तीफे देने की धमकी दी। हरयाणा के सभी विधायकों ने भी ऐसी ही धमकी दी। फतह सिंह ने भी चण्डीगढ़ पंजाब को देने की माँग की। अगस्त १९६६ में लोकसभा ने पंजाब पुनर्गठन ऐक्ट पारित कर दिया। बिल पर बोलते हुए भूपेश गुप्त, हीरेन मुखर्जी (सी. पी. आई.) ने चंडीगढ़ पंजाब को देने तथा पीटर अलवारिस (पी. एस. पी.) ने चंडीगढ़ हरयाणा को देने की बात कही। सरदार कपूर सिंह ने इस बहस में भाग लेते हुए कहा –

"इसे सिख स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि (१) यह पाप की पैदायश है (२) इसे एक अयोग्य दाई ने जन्म दिया है और (३) यह राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है जिससे राष्ट्रीय एकता पर प्रहार होता है। यह सिखों से विश्वासघात है जिन्होंने हिन्दू कौम की रक्षा की।"

किन्तु १ नवम्बर १९६६ को पंजाब एक बार फिर खण्डित हो गया। पंजाब अब पहले से और सिमट गया था। इस खण्डित और विकृत पंजाब को देखकर पंजाबियों के और सिखों के हृदय आहत थे। कारण, पंजाबी हिन्दू महापंजाब चाहता था, अखण्ड पंजाव चाहता था और सिख नए पंजाब में ५६% होने पर भी इस कारण दुखी थे कि राजस्थान, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर के जिन क्षेत्रों पर अकालियों की आँखें थीं वे उन्हें नहीं मिले थे। दूसरे, अकाली यह चाहते थे कि रक्षा, डाक-तार, मुद्रा, आवागमन के अतिरिक्त शेष सभी अधिकार पंजाबी-सूबे को मिलें, जो नहीं मिले। हरयाणा और हिमाचल इस विभाजन से संतुष्ट थे क्योंकि गत २० वर्षों में उनके अधिकारों का बड़ी बेरहमी से हनन हुआ था और अब वे अपना भविष्य स्वयं बनाने को स्वतंत्र थे।

सिख होमलैण्ड

पुनर्गठित पंजाब को अपने स्वप्नों के अनुरूप बनाने के लिए अकालियों ने एक नया मोर्चा खोलने का निर्णय किया। संत फतह सिंह ने माँग की कि चंडीगढ़ और पंजाबी-भाषी क्षेत्र पंजाब को दिए जाएँ, साँझे प्रोजेक्ट पंजाब को वापस मिलें अन्यथा वे १७ दिसम्बर १९६६ को आमरण अनशन पर बैठकर २७ दिसम्बर को अग्निकुण्ड में अपने को स्वाहा कर देंगे। मा. तारासिंह ने इन माँगों का समर्थन किया और २९ दिसम्बर को लुधियाने के वार्षिक सम्मेलन में सिख होमलैण्ड का प्रस्ताव पारित किया। इसके विरोध में योगी सूर्यदेव ने अनशन रखने की धमकी दी और माँग की कि पंजाब के हिन्दी-भाषी क्षेत्र हरयाणा को दिए जाएँ।

निर्धारित समय पर संत फतह सिंह ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। हुकम सिंह के हस्तक्षेप और आश्वासन पर संत फतह सिंह ने अनशन तोड़ दिया। हुकम सिंह ने अकाल तख्त पर खड़े होकर घोषणा की कि प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी को निर्णायक मान लिया जाए और पंजाबी-भाषी क्षेत्रों के लिए कमीशन बन जाए, तो पंजाब को चंडीगढ़ मिलने की आशा रखी जा सकती है। सभी ओर से नहीं-नहीं का स्वर उठा, किन्तु संत जी के बहुमूल्य जीवन को बचाने के लिए इस विरोध के बावजूद इन्दिरा जी को निर्णायक मान लिया गया। मा. तारासिंह ने अपने बयान में कहा–'लिखित आश्वासन लिये बिना अनशन तोड़ कर संत फतह सिंह ने सिक्खी का अपमान किया है।' सम्भवतः यह एक राजनीतिक षड्यंत्र था जिसके कारण संत फतह सिंह की प्रतिष्ठा गिरती चली गई। जनवरी १९६७ में अकाली दल के तारा सिंह गुट ने चुनाव घोषणा-पत्र में सिख होमलैण्ड की माँग दोहराई।

हरगुरअनाद सिंह ने कहा कि सिख होमलैण्ड के लिए विदेशी सहायता भी ली जा सकती है।

इसी बीच पंजाब में राजनीतिक चक्र तेजी से घूमा जो वहाँ की अस्थिर राजनीति का परिचायक था। गुरुमुख सिंह मुसाफिर ने पहली नवम्बर १९६६ से फरवरी १९६७ तक के चुनावों तक, गुरनाम सिंह ने ८ मार्च १९६७ से २२ नवम्बर १९६७ तक और लछमन सिंह गिल ने २५ नवम्बर १९६७ से २१ अगस्त १९६८ तक मुख्यमंत्री पद को सुशोभित किया। अर्थात् क्रमशः ४ महीने कांग्रेस, ८ महीने १४ दिन गुरनाम सिंह और ८ महीने २६ दिन लछमन सिंह गिल की वजारत रही। अगस्त १९६८ के बाद वहाँ राज्यपाल शासन लागू हो गया। २२ नवम्बर १९६७ को मा. तारा सिंह का देहांत हो चुका था। इस उतार-चढ़ाव में अकालियों ने हर पार्टी से गठजोड़ करने का प्रयास किया। लछमन सिंह गिल के शासन काल में एक महत्वपूर्ण निर्णय यह लिया गया कि १४ जनवरी १९६८ से जिला स्तर पर और १३ अप्रैल १९६८ से सचिवालय स्तर पर पंजाबी लागू हो गई। गिल मंत्रिमण्डल में जनसंघ मुख्य घटक था। इस निर्णय से हिन्दी समर्थक क्षेत्रों में काफी चिन्ता व क्षोभ फैल गया। यह रोष तब और भड़क उठा जब सरदार गुरनाम सिंह ने जालंधर, अमृतसर, गुरदासपुर, कपूरथला के ४६ कालेजों को गुरू नानक विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया। आर्यसमाज, जालंधर में दयानन्द विश्वविद्यालय की योजना बना रहा था। इस फैसले से उसकी योजना धरी की धरी रह गई। आर्यसमाज ने इसके लिए जनसंघ को दोषी ठहरा कर उसकी निन्दा शुरू कर दी। फलतः, जनसंघ ने भी दिखावे के रूप में अकालियों की ताड़ना की। आर्यसमाज ने इस फैसले के विरुद्ध न्यायालय में शरण ली और सफलता प्राप्त की। उधर सिख होमलैण्ड के लिए आमरण अनशन पर बैठे दर्शन सिंह फेरूमान ने ७४ वें दिन देह छोड़ दी। संत फतह सिंह और जीवन सिंह उमराँनांगल इस शहादत को 'फ्रॉड' मानते रहे किन्तु तारा सिंह गुट के अकालियों ने इसे सिख होमलैण्ड की प्रथम शहादत घोषित करते हुए सिख संगत को होमलैण्ड के लिए काफी उकसाया।

चंडीगढ़ पंजाब को

संत फतह सिंह के लिए यह समय परीक्षा का था, क्योंकि पहले १९६०, १९६५ और १९६६ में तीन बार आमरण अनशन करके भी वे फेरूमान नहीं बन सके थे। अतः चंडीगढ़ के लिए २७ जनवरी १९७० को उन्होंने मरण व्रत रख कर १ फरवरी १९७० को आत्म-दाह करने की घोषणा की। जीवन सिंह उमराँनांगल ने गुस्से में कहा कि संत को कुछ हो गया तो पंजाब को आग लगा दी जाएगी। अकालियों ने मंत्रिपद व असेम्बली से त्याग-पत्र देने की घोषणा कर दी। संत का अनशन शुरू हो चुका था। घृणा का वातावरण तेजी से फैलता जा रहा था। अमृतसर की सेंट्रल एक्साइज बिल्डिंग पर लहरा रहे राष्ट्रीय-ध्वज को अकालियों ने उतार लिया और रामबाग स्थित महात्मा गांधी की प्रतिमा पर रखकर जला दिया। ऐसी ही घटनाएँ अन्य स्थानों पर भी हुईं। जनवरी १९७० तक हालत ऐसी बिगड़ गई कि अन्ततः इन्दिरा गांधी ने २९ जनवरी को चंडीगढ़ पंजाब को देने की घोषणा कर दी।

घोषणा के अनुसार चण्डीगढ़ के बदले में फाजिल्का और अबोहर तहसीलों का कुछ भाग हरयाणा को दिया जाना था। इसके अतिरिक्त हरयाणा को एक फर्लांग का गलियारा, राजधानी बनाने के लिए १० करोड़ रुपये की सहायता तथा इतनी ही राशि ऋण के रूप में देने की बात इस घोषणा में की गई थी। विवादास्पद बातों का निपटारा करने के लिए कमीशन नियुक्त करने का सुझाव था। चंडीगढ़ पंजाब को ५ साल बाद अर्थात् जनवरी १९७५ तक मिलना था। संत फतह सिंह ने इस

घोषणा का स्वागत करते हुए अनशन खोल दिया। अकाली गुट ने राहत की साँस ली। किन्तु मा. तारा सिंह गुट ने इस पर नाराजगी प्रकट की। जनसंघ के पार्लियामेंटरी बोर्ड ने फरवरी में इस फैसले का विरोध किया। ११४ गाँवों की ५५० वर्ग मील उपजाऊ जमीन के बदले चंडीगढ़ के ३४ वर्गमील क्षेत्र को लेना समझौते-को 'प्रतिष्ठा बचाने के लिए खरीदा गया सफेद हाथी' तक कहा गया। विधान सभा में गुरनाम सिंह पर आरोप लगाया गया कि यह समझौता संत फतह सिंह की जान बचाने के लिए स्वीकार किया गया है। आर्यसमाज की आलोचना से जनसंघ भी असमंजस में था, अतः उसने अकालियों की निन्दा शुरू कर दी थी। फल यह निकला कि गुरनाम सिंह को इस्तीफा देना पड़ा और मार्च १९७० में जनसंघ के सहयोग से प्रकाश सिंह बादल मुख्यमंत्री बने। अकाली दल ने बाद में गुरनाम सिंह को पार्टी से निकाल दिया।

प्रकाश सिंह बादल जून १९७१ तक ही मुख्यमंत्री बने रह सके क्योंकि सतपाल डाँग (सी. पी. आई.) ने भ्रष्टाचार के ज़ो ३३ आरोप बादल पर लगाए थे उनमें ११ आरोपों में 'दुर्गाशंकर देव' जाँच कमीशन ने बादल को दोषी पाया था। दिसम्बर १९७१ में भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर अकालियों ने 'सिख होमलैण्ड' का मोर्चा स्थगित कर दिया।

पहले पंजाबी सूबे, और फिर सिख होमलैण्ड, के लिए अकालियों के २५ वर्ष तक चलने वाले आन्दोलन के कारण आम सिख के मस्तिष्क में यह भ्रांति जम गई कि केन्द्र की हिन्दू सरकार उसके हितों को अपेक्षित महत्व एवं संरक्षण नहीं दे सकती। पंजाबी सूबे व सिख होमलैण्ड को अकालियों के विभिन्न गुटों ने अपना-अपना मोहरा बनाकर पंजाब की राजसत्ता भोगने के स्वप्न देखे। नई-नई माँगें उठाकर उन्होंने केन्द्रीय सरकार को चिन्ता में डाले रखा और जब वे माँगें पूरी न हो सकीं तो सिख समुदाय को भड़काया गया कि यह प्रवृत्ति सिक्खी को खत्म करने की साजिश है और इस साजिश से सिक्खी को बचाने का अन्तिम एकमात्र उपाय सिख होमलैण्ड है। जाहिर था कि मजहबी विचारों के प्रसारक अकालियों को पाकिस्तान की सीमा पर सिख होमलैण्ड देना राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से हितकर न था।

आज़ादी के तुरंत बाद मा. तारा सिंह पाकिस्तान हो आए थे और वहां के शासकों से साँठ-गाँठ की कोशिश कर आए थे। सिखों में इस माँग के प्रति इतना आकर्षण था कि वे इस राष्ट्र-द्रोही माँग की गहराई तक पहुँच ही नहीं सके और उत्तेजक नारों तथा जहरीले भाषणों की रौ में बहते गए। पंजाब में सिख ५६% हैं और सत्ता तथा नौकरियों में उन्हीं का प्रभुत्व छाया रहा है, लेकिन सिखों से कांग्रेसी प्रभाव को खत्म करने के लिए अकालियों ने मजहब की आड़ में राजनीति खेलना बन्द नहीं किया। यहाँ तक कि पंजाब में हिन्दुओं को द्वितीय श्रेणी नागरिक माना जा रहा है किन्तु फिर भी अकालियों की भूख शांत नहीं हुई। इससे जाहिर है कि वे लोकतंत्रीय व्यवस्था के आधीन सत्ता सुख भोगने की अपेक्षा कुछ अधिक चाहते थे। सिख होमलैण्ड भारत को झाँसे में रखने की चाल थी। इसकी आड़ में अकाली एक स्वतंत्र सिख राष्ट्र के निर्माण का षडयंत्र रच रहे थे। यह षडयंत्र १९४७ व उससे पूर्व से ही चल रहा था, किन्तु हिन्दू-सिखों में धार्मिक रिश्ते शिथिल पड़ने पर भी सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बंध मजबूत थे जिससे यह षड़यंत्र १९७१ तक कामयाब न हो सका। किन्तु इस बीच हिन्दू-सिखों में दरार डालने, नफरत व विद्वेष फैलाने, अविश्वास पैदा करने में अकाली अवश्य सफल हो गए। खालिस्तानी स्वप्न को साकार करने की पहली आवश्यकता यही थी।

अकालियों के इरादे कभी नेक नहीं रहे। वे चाहे जनसंघ के साथ रहे या कांग्रेस के साथ, उन्होंने अपने लक्ष्य को कभी आँखों से ओझल नहीं किया। अकाली नेताओं ने सिख होमलैण्ड अथवा

स्वतंत्र सिखिस्तान के लिए जब विदेश में पाँव पसारने शुरू किए तो अपने को राष्ट्रभक्त मानने वाले सिखों द्वारा इस प्रवृत्ति की निन्दा होनी चाहिए थी, लेकिन नहीं हुई। राजनीतिक स्तर पर सिख कांग्रेसियों ने दलगत उद्देश्यों के लिए इस नीति की भर्त्सना अवश्य की, किन्तु वह विरोध सिख समुदाय का विरोध न बन सका।

विदेशों में प्रयास

विदेश में खालिस्तानी षड्यंत्र का भण्डाफोड़ ३० सितम्बर १९७१ के 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित एक समाचार से हुआ जिसका आधार इंग्लैंड के पंजाबी साप्ताहिक 'देश-प्रदेश' के संवाददाता से अकाली दल के महासचिव डा. जगजीत सिंह चौहान से हुआ साक्षात्कार था। चौहान ने, जो १९६७-६८ में लछमन सिंह गिल मंत्रिमण्डल में वित्तमंत्री थे और दर्शन सिंह फेरूमान को आमरण अनशन पर बिठाने वालों में प्रमुख थे, इस साक्षात्कार में बताया कि स्वतंत्र सिखिस्तान की सरकार का मुख्यालय ननकाना साहब (पाकिस्तान) में बनायेंगे। उस समय पाकिस्तान ननकाना साहब को वैटिकन सिटी का दर्जा देने की योजना बना रहा था जिसका क्षेत्रफल १० वर्गमील का था। यह योजना विद्रोही सिखों को अपनी गतिविधियाँ चलाने के लिए सुविधा देने के विचार का एक अंग थी। डा. जगजीत सिंह चौहान संत गुट के दिल्ली मोर्चा अभियान से पूर्व ही भारत से बाहर चले गए थे।

डा. चौहान ने यह रहस्योद्घाटन भी किया कि उनकी विद्रोही सरकार को पाकिस्तान तथा पश्चिमी एशिया के कुछ अन्य देशों द्वारा मान्यता मिलेगी। उस समय तक चौहान अफगानिस्तान, कुवैत, ईरान और ब्रिटेन की यात्रा कर चुके थे और कनाडा व अमरीका जाने की तैयारी कर रहे थे। पाकिस्तान सरकार निरन्तर तीन वर्षों से रेडियो पाकिस्तान के लाहौर केन्द्र से पंजाब के सिखों को भ्रमित एवं उत्तेजित करने के लिए एक दैनिक कार्यक्रम प्रसारित कर रही थी। डा. चौहान ने इस भारत-विरोधी कार्यक्रम में अनेक बार जहरीले भाषण देकर सिखों के सोच का कायाकल्प करने की दुष्चेष्टा की। वे अक्सर पूछते थे कि बंगबंधुओं के आत्मनिर्णय की बात पर भारत सरकार ने फूल चढ़ा कर बंगला देश बनवा दिया, लेकिन सिखों के आत्मनिर्णय को मानकर उन्हें खालिस्तान क्यों नहीं दिया जा रहा?

१९७० के प्रारंभ में ही दो प्रमुख अकाली नेताओं ने, जो उन दिनों विक्षुब्ध थे, आरोप लगाया था कि संत गुट के कुछ वरिष्ठ नेताओं का पाकिस्तान से सम्बंध है। संत फतह सिंह जन्म से मुसलमान थे। अक्तूबर १९७१ में संसद-सदस्य प्रबोधचन्द्र ने भी आरोप लगाया था कि डा. चौहान को भारत विरोधी प्रचार के लिए पाकिस्तान से भारी भरकम राशि मिली है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि जिन पाँच व्यक्तियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहर सिखिस्तान की माँग की उनमें अमरीका स्थित पाकिस्तान मिशन के सदस्य भी थे। दिसम्बर युद्ध (१९७१) के मध्य पाकिस्तान में डा. चौहान के भारत-विरोधी अभियान को लेकर ७ अप्रैल १९७२ को पंजाब विधान-सभा में मुख्यमंत्री ज्ञानी जैलसिंह ने कहा कि इतना जान लेने पर भी अकाली दल ने उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। भारत-पाक संघर्ष में जब भारत विजयी हुआ तब जाकर अकाली दल ने डा. चौहान को दल से निष्कासित करने का नाटक रचा।

कम्युनिस्ट नेता सत्यपाल डाँग ने विधान-सभा में बताया कि रेडियो पाकिस्तान पर चौहान का भाषण सुनकर एक अकाली नेता इतना उत्तेजित हुआ कि वह उसकी प्रशंसा में भटिण्डा न्यायालय के

अहांते में नारेबाजी करने लगा। वरिष्ठ अकाली नेता प्रकाश सिंह बादल ने उन्हीं दिनों कहा कि भारत सरकार ने बंगला देश और अरब देशों के लोगों की आकांक्षाओं और धार्मिक भावनाओं के प्रति तो गहरी सहानुभूति दिखाई है, मगर सिंखों की भावनाओं की कोई कद्र नहीं की, जो भारत व पाकिस्तान में सतत तनाव के कारण अपने पाकिस्तान स्थित पवित्र स्थानों में नहीं जा पा रहे हैं।

इसे आधार बनाकर अकालियों ने बंगला देश में आत्मसमर्पण करने वाले पाक सैनिकों की रिहाई के लिए आन्दोलन चलाया। यद्यपि स्वतंत्र-पार्टी के अध्यक्ष पीलू मोदी (जो कि भुट्टो के गहरे मित्रों में से थे) और वयोवृद्ध नेता आचार्य कृपलानी भी पाक-सैनिकों की रिहाई की माँग कर चुके थे, किन्तु अकालियों की इस माँग के पीछे एक सोचा-समझा उद्देश्य था। प्रसिद्ध पत्रकार नन्द किशोर त्रिखा ने इस सन्दर्भ में उचित ही लिखा था कि "ऐसी माँग रखने से पंजाब के लोगों की शत्रु से भिड़ने और उसे पराजित करने की असीम संकल्पशक्ति प्रभावित हो सकती है, सेना के कुछ लोगों के मनोबल पर भी असर पड़ सकता है।"

'न्यूयार्क टाइम्स' में विज्ञापन

शिरोमणि अकाली दल के महासचिव की हैसियत से डा. जगजीतसिंह चौहान ने १२ अक्तूबर १९७१ के 'न्यूयार्क टाइम्स' में अपने हस्ताक्षरों से एक विज्ञापन दिया जिस पर लगभग एक लाख रुपये व्यय हुए। यह विज्ञापन अगले ही दिन संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रस्तुत किया जाना था। इस विज्ञापन की नकल नई दिल्ली से प्रकाशित 'पंथ प्रकाश' (नवम्बर १९७१, अंक ४४-४५) में इस टिप्पणी के साथ प्रकाशित की गई है कि "इस विज्ञापन में जहाँ तथ्यों से खिलवाड़ की गई है वहाँ भारत सरकार पर सिखों के ऊपर अत्याचार करने की कहानियाँ और हिन्दुओं के गुलाम बने रहने का भी उल्लेख है।" इस विज्ञापन की तुलना पंजाब में सिखों को मिलने वाली सुविधाओं से की जाती तो सिख समाज समझ सकता कि इनका एक भाई विदेशी धन के लालच में किस प्रकार आंभी, जयचन्द और मानसिंह बन गया है। उस विज्ञापन की मुख्य बातें नीचे दी जा रही हैं जिससे उस मानसिकता का अनुमान सहज में हो जाता है।

१. भारत के एक करोड़ बीस लाख सिखों को अपने विलुप्त होने का भय है और लगभग साठ लाख सिख निर्वासित के रूप में भारत से बाहर मुक्ति की राह जोह रहे हैं। इस स्थिति के विरुद्ध हमने अन्तिम संघर्ष का बिगुल बजा दिया है।

२. सिख धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक भिन्न समुदाय है, एक अलग कौम है। जिसे इतिहास का ज्ञान है वह भूल नहीं सकता कि उसने बहुसंख्यक हिन्दुओं के हाथों अनगिनत अत्याचार सहे हैं।

३. हिन्दू, मुस्लिम और सिख इन तीन कौमों के राज के बाद सत्ता अंग्रेजों ने संभाली। किन्तु १९४७ में भारत-विभाजन हिन्दू-मुसलमानों में किया गया और सिखों को उपेक्षित कर दिया। भारत ने सिखों को आश्वस्त किया था कि सिखों को ऐसा क्षेत्र उपलब्ध कराया जाएगा जिसमें वे अपने धर्म के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक रह सकेंगे, किन्तु भारत के हिन्दू शासकों ने सिखों से विश्वासघात का खेल खेला जो अब असहनीय हो चला है।

४. गुरुद्वारा के चुनाव जो दो वर्ष पूर्व हो जाने चाहिए थे अब तक भारत सरकार की उदासीनता के कारण नहीं हो सके, जो सिखों को नष्ट करने का अन्यतम उदाहरण है। गुरुद्वारों का प्रबंध एक ऐसी संस्था को सौंप दिया है जो सरकार की पक्षधर है। इससे सिखों की कौमी एकता, धार्मिक व सांस्कृतिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ गई है।

५. १९ वीं और २० वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सिखों ने अंग्रेजों की सहायता इस विश्वास पर की थी कि जब भी भारत का विभाजन होगा तो सिखों को एक अलग राष्ट्र मानते हुए उस क्षेत्र का बादशाह बना दिया जाएगा जहाँ कभी उनका राज था।

६. स्वतंत्रता आन्दोलन में सिख सबसे आगे थे। जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड में मरने वाले १२०० लोगों में से ९५० सिख थे। अंग्रेजों ने जिन 110 क्रांतिकारियों को फाँसी दी उनमें ९७ नौजवान सिख थे। किन्तु इस बलिदान को भुलाकर सिखों की आज़ादी का प्रश्न दबा दिया गया। १९६५ के भारत-पाक युद्ध के दौरान सिख जनरलों ने गांधी-नेहरू के वायदे भारत सरकार को याद दिलाए, किन्तु भाषा के आधार पर हरयाणा व हिमाचल का निर्माण कर खण्डित पंजाब सिखों को दे दिया गया।

७. उपमहाद्वीप की शांति की एकमात्र गारंटी आजाद सिखिस्तान है। जिसका अर्थ सिखों के इतिहास को बहाल करना व इसकी पुष्टि करना भी है। विश्व की कोई शक्ति सिखों को दबा नहीं सकती। अतः दिल्ली की हिन्दू सरकार सचेत हो कि यदि उसने विश्वासघात की नीति जारी रखी तो इस उपमहाद्वीप में ऐसा युद्ध होगा कि जिसका उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं मिलेगा। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ एशिया में स्थायी शांति बनाए रखने का इच्छुक है तो उसे सिखों का यह दावा मानना पड़ेगा।"

इन्हीं दिनों कनाडा से छोटे-छोटे पैम्फलेट, समाचार-पत्र सिखों के धार्मिक, सामाजिक शैक्षणिक और व्यापारिक संगठनों को भेजे गए। इनकी आधारभूत सामग्री यह थी कि जिस प्रकार बंगालियों को बंगला देश मिल गया, उसी प्रकार सिख अपना देश खालिस्तान चाहते हैं। आत्मनिर्णय के अधिकार में विश्वास रखने वाली श्रीमती इन्दिरा खालिस्तान के सन्दर्भ में इस विश्वास को भंग क्यों कर देती हैं? यदि खालिस्तान की अंतरिम सरकार कांग्रेस ने गठित नहीं की तो रक्तपात निश्चित है।

इस जहरीले साहित्य में खालिस्तान का मानचित्र दिखाया गया था जिसमें पूरा पंजाब, हरयाणा -हिमाचल प्रदेश-राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग भी दिखाए गए थे। इसमें सुझाव दिया गया था कि भारत की राजधानी दिल्ली से हटाकर इलाहाबाद ले जाई जाए क्योंकि परम्परा व इतिहास नई दिल्ली को खालिस्तान का अंग बनाते हैं। एक पैम्फलेट में दावा किया गया था, भारत और पाकिस्तान के मध्य स्थित खालिस्तान एशिया में शताब्दियों तक अमन की गारंटी बना रहेगा।

यह सही है कि जब देश में जगजीत सिंह चौहान की गतिविधियों पर चिन्ता प्रकट की गई तो अकाली दल ने अपने राष्ट्रीय दायित्व का ढोंग रच कर अकाली दल की उसकी प्राथमिक सदस्यता रद्द करदी थी, किन्तु अकाली दल ने डा. चौहान की प्रवृत्ति को 'शो विंडो' बनाकर अपने जेहन में रख दिया। जो तर्क चौहान दे रहे थे, जो बातें वे गढ़ रहे थे, इतिहास व परम्परा से जैसा बलात्कार वे कर रहे थे और खालिस्तान का जो नक्शा उनके दिमाग में था, वह सब ज्यों का त्यों दो-तीन वर्ष पश्चात् आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव में देखने को मिला। जाहिर है कि चौहान को अकाली दल से निकालने का अर्थ राष्ट्र की आँखों में धूल झोंकने के अतिरिक्त और कुछ न था।

आनन्दपुर साहिब संकल्प

गत तीन-चार वर्षों से पंजाब में अकाली आन्दोलनों, आतंकवादियों की गतिविधियों और विदेश में खालिस्तान सम्बंधी हलचलों से राष्ट्र का जो स्वाभिमान कुंठित हुआ उसकी शुरूआत १६-१७ अक्तूबर १९६७ को आनन्दपुर साहिब में हुई एक बैठक में स्वीकार किए गए संकल्प से हुई है। यही संकल्प "आनन्दपुर साहिब संकल्प" के नाम से विख्यात है। इस संकल्प को अत्यंत कुशलता, सावधानी और दीर्घ विचार-विमर्श के उपरांत वर्तमान रूप में प्रस्तुत किया गया। संकल्प में जो रहस्य है उसे आसानी से समझा जा सकता है यदि हम १९७३ से पूर्व के खालिस्तानी प्रयासों को अपनी दृष्टि में बनाए रखें। इस संकल्प की भाषा व विचार देख कर ऐसा आभास मिलता है कि सम्भवतः इसकी रूपरेखा विदेशों में बैठकर विदेशी कूटनीतिज्ञों के सहयोग से तैयार की गई है। अकालियों ने आन्दोलनों व आतंकवादी हरकतों से गत २-३ वर्षों में जो प्रभाव छोड़ा है उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि ऐसा करने के लिए वे १९७३ से पूर्व ही अपना मन बना चुके थे।

अकाली नेतृत्व का प्रथम प्रयास तो यही रहा कि लोकतंत्र का मुखौटा पहनकर अपनी तानाशाही प्रवृत्तियों का शमन किया जाए और जो लड़-झगड़ कर लेना है उसे बातों से ले लिया जाए। किन्तु उनकी इन छिपी नापाक हरकतों व इरादों का भण्डाफोड़ जब सहजधारी हिन्दू करने लगे, तो लोकतंत्रीय आस्था की केंचुली उतार कर उन्होंने एक ओर रख दी और अपने विषधर होने की गारंटी देश को दे दी। अकाली और उग्रवादी सिख आज भी 'आनन्दपुर साहिब संकल्प" पर अडिग हैं और किसी भी मूल्य पर उसे छोड़ने को तैयार नहीं। अतः राष्ट्र को और विशेष कर पंजाब की राष्ट्रवादी शक्तियों को सतत सावधान रहने की आवश्यकता है। "आनन्दपुर साहिब संकल्प" वस्तुतः राष्ट्र-द्रोह का प्रामाणिक दस्तावेज है, खालिस्तान का कोरा चेक है, जो किसी भी समय ग्लोब पर एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में खालिस्तान का उदय करने की क्षमता रखता है। इस संकल्प की संक्षिप्त झाँकी यहाँ प्रस्तुत है:

"यतः भारत के सिख १७ वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष (१६९९) में खालसा पंथ की स्थापना के समय से ही ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त राजनीतिक राष्ट्र हैं, और,

यतः सिख राष्ट्र के इस ओहदे को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिली है और १९ वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप तथा एशिया की प्रमुख शक्तियों, यथा फ्रांस, इंगलैंड, इटली, रूस, चीन, तिब्बत, पर्शिया, अफगानिस्तान, नेपाल तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहादुर, फोर्ट विलियम, कलकत्ता ने और फिर २० वीं शताब्दी के मध्य में बहिर्गामी अंग्रेजों एवं भारत की हिन्दू कांग्रेस पार्टी और मुस्लिम लीग ने स्वीकार किया है, एवं,

यतः भारत के पाशविक बहुमत ने १९५० में भारत में ऐसी संवैधानिक व्यवस्था थोपी है जो सिखों को उनकी राजनीतिक पहचान से वंचित करती है एवं सांस्कृतिक विशिष्टता को अधीनस्थ बनाती है, इस प्रकार सिखों को राजनीतिक रूप से समाप्त किया जा रहा है, सिखों को अपना इतिहास नियंत्रित करने से वंचित किया जा रहा है, और उन्हें अपरिपक्व हिन्दू धर्म के खारे समुद्र में डुबोने और घुलाने की योजना से आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक अवनति के लिए आरक्षित छोड़ा जा रहा है,

यतः इस प्रकार सिखों को बेड़ियों में जकड़ने और दास बनाने के लिए उन गम्भीर एवं अवश्य अनुपालनीय वचनों तथा सार्वजनिक वायदों का अनैतिक तथा दुष्टतापूर्ण अस्वीकार

किया गया है जो पूर्व में हिन्दुओं द्वारा सिखों से किए गए थे, जबकि सिख प्रतिनिधियों ने १९५० में भारतीय संविधान सभा में इस विपथगामी एवं बोझिल व्यवस्था से सहमत पक्ष बनना अस्वीकार किया एवं उन्होंने इस प्रकार प्रख्यापित भारतीय संविधान अधिनियम की सरकारी प्रति पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया ।

शिरोमणि अकाली दल सिखों के नाम पर और उनकी ओर से, घोषणा करता है कि सिख सभी वैध तरीकों से स्वयं को इस अपमानजनक और प्राणघातक स्थिति से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हैं जिससे उनका सम्मानजनक अस्तित्व निश्चित किया जाए, उनकी अन्तर्निहित प्रतिष्ठा और विश्व इतिहास की मुख्यधारा को सार्थक रूप से प्रभावित करने के उनके जन्मसिद्ध अधिकार का पुनरुद्धार किया जाए,

अतएव सिख

माँग करते हैं कि प्रथमतः, भारत के उत्तर में एक स्वायत्तशासी क्षेत्र गठित किया जाए जहाँ सिख हितों को संवैधानिक रूप से तथा सार्वजनिक एवं मूलभूत राजनीति निर्धारण के लिए प्राथमिक और विशेष महत्व की मान्यता दी जाए । द्वितीयतः, इस स्वायत्तशासी क्षेत्र में वर्तमान, भारतीय पंजाब, हरयाणा के करनाल और अम्बाले जिले का कुछ भाग, हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले और कुल्लू घाटी जिसमें पौण्टा साहिब, चण्डीगढ़, पिंजौर, कालका, डलहौजी, देहरादून घाटी, नालागढ़ का क्षेत्र, सिरसा, गुहला, टोहाना और रत्तिया इलाके तथा राजस्थान का गंगानगर जिला और उत्तर प्रदेश का वह तराई क्षेत्र जिसे हजारों वर्ष पुराने खतरनाक जंगलों को काटकर सिखों ने हाल में आबाद किया है, इस प्रकार मुख्य संलग्न सिख जनसंख्या वाले क्षेत्र तथा भारत के अभी भी अंग परम्परागत एवं स्वाभाविक सिख निवास-स्थान इस स्वायत्तशासी सिख क्षेत्र में हों, जो भारत संघ का क्षेत्र हो,

तृतीयतः, इस सिख स्वायत्त क्षेत्र को सभी अधिकारों सहित अपना संविधान स्वयं बनाने का अधिकारी घोषित किया जाए, केवल विदेश सम्बंध, रक्षा और संचार संघीय भारत सरकार के विषय रहें ।

इतिहास का देवता, नीले घोड़े का सवार
हमारी मदद करे ।"

अप्रैल १९८१ में आनन्दपुर साहिब में ही विश्व-सिख सम्मेलन हुआ जिसमें अकाली दल के तलवंडी ग्रुप ने आनंदपुर साहिब संकल्प का एक भिन्न रूप पेश किया था । इसमें कहा गया थाः-

"उत्तर भारत में एक ऐसा स्वायत्त प्रदेश तुरन्त स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ सिखों के हितों को प्रमुख तथा विशेष महत्व के हितों के रूप में संवैधानिक मान्यता दी जाए ।"

और

"सिख स्वायत्त प्रदेश की बात मान ली जाए और उसे अपना संविधान बनाने तथा विदेश संबंधों, रक्षा तथा सामान्य संचार को छोड़कर सभी शक्तियाँ अपने लिए और अपने से प्राप्त करने का आधार बनाने का हकदार घोषित किया जाए ।"

माँगों का सैलाब

तत्पश्चात् सितम्बर १९८१ में अकाली दल ने भारत सरकार को ४५ माँगों की एक सूची भेजी ।

इन माँगों पर विचार करने के लिए प्रधान मंत्री ने अकाली दल के प्रतिनिधियों से १६ अक्तूबर १९८१, नवम्बर १९८१ और अप्रैल १९८२ में तीन बार बातचीत का दौर चलाया। इसके अतिरिक्त सरकारी प्रतिनिधियों और अकाली नेताओं के बीच वार्ताओं के अनेक दौर हुए जिसमें कई बार संसदीय विपक्षी दलों के नेताओं ने भी भाग लिया।

आनन्दपुर साहिब संकल्प अकाली दल के अध्यक्ष संत हरचंद सिंह लोंगोवाल द्वारा प्रमाणित किया गया था। इस रूपांतर में माँग की गई थी कि सभी पंजाबी-भाषी क्षेत्रों का विलय करके एक ऐसी प्रशासनिक इकाई बनाई जाए जहाँ सिखों और सिख धर्म के हितों को विशेष संरक्षण मिल सके। भारत सरकार द्वारा जारी श्वेत पत्र के अनुसार सितम्बर १९८१ में अकाली दल ने ४५ माँगों की सूची सरकार को पेश की थी, किन्तु इसके अगले महीने १५ माँगें और जोड़ दी गईं, जिसमें लाला जगतनारायण की हत्या के मुलजिम जरनैल सिंह भिंडराँवाले की बिना शर्त रिहाई की माँग भी शामिल थी। पहली सूची में सिख पर्सनल लॉ का भी उल्लेख था जिसमें हिन्दू महिलाओं के बराबर सिख महिलाओं को मिलने वाले अधिकारों में कटौती करने का प्रावधान है। श्वेत-पत्र में ६० माँगों की जो विस्तृत सूची प्रकाशित हुई है वह इस प्रकार है:

(क) धार्मिक:-

(१) सिखों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप। (२) पाकिस्तान स्थित गुरुद्वारों के प्रबंध पर सिखों के नियंत्रण के लिए सरकार द्वारा कोई प्रयत्न नहीं किया जाना। (३) विदेशों में तथा भारत के अन्य राज्यों में बसे हुए सिखों के जान-माल की सुरक्षा के प्रति उदासीनता। (४) १९७१ में दिल्ली गुरुद्वारों पर जबर्दस्ती कब्जा किया जाना (५) हरयाणा में गुरुद्वारों पर अधिकतम भूमि सीमा अधिनियम लागू किया जाना। (६) किसी ट्रेन का नाम गोल्डन टेंपल एक्सप्रेस लागू रखने में असफल होना जबकि १५ ट्रेनों का नाम अन्य धार्मिक स्थानों के नाम पर रखा गया है। (७) अमृतसर को पवित्र शहर का दर्जा देने में विलंब। (८) स्वर्ण-मंदिर में ट्रांसमीटर लगाने की अनुमति न देना। (९) अखिल भारतीय गुरुद्वारा अधिनियम का न बनाया जाना। (१०) शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को सिखों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था के रूप में मान्यता न दिया जाना। (११) पाकिस्तान में तीर्थयात्रियों को भेजने के क्षेत्र में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के प्राधिकार को हड़पना। (१२) सिख सिद्धांतों में हस्तक्षेप और सिख परंपराओं की पवित्रता का उल्लंघन। (१३) पुलिस की सहायता से दिल्ली गुरुद्वारों पर गैर कानूनी और जबरदस्ती कब्जा। (१४) सिखों द्वारा राष्ट्रीय विमान सेवाओं में कृपाण (तलवार) साथ रखने पर प्रतिबंध।

(ख) राजनीतिक:-

(१) एक स्वायत्त क्षेत्र के लिए सिखों को दिए गए आश्वासन का उल्लंघन और इसके बजाय सिखों को अपराधी घोषित करना। (२) "पंजाबी सूबा" नारे पर प्रतिबंध लगाना। (३) चंडीगढ़ तथा अन्य पंजाबी भाषी क्षेत्रों को पंजाब से बाहर रखना और वाटर हेड वर्क्स तथा नदी जल-वितरण का नियंत्रण छीन लेना। (४) राज्य को आंतरिक स्वायत्तता प्रदान करने से इंकार करना। (५) अकाली सरकारों को गैर-कानूनी भ्रष्ट तरीके से गिराना। (६) पड़ोसी राज्यों में पंजाबी को दूसरी भाषा का दर्जा देने से इनकार करना। (७) पंजाबियों पर विश्वास की कमी व्यक्त करना और लाइसेंस शुदा शस्त्र वापस लेकर उन्हें निश्शस्त्र करना। (८) आनंदपुर साहिब संकल्प को अस्वीकार

करना और सांप्रदायिक तनाव पैदा करके फूट डालो और राज्य करो की नीति अपनाना।

(ग) आर्थिकः-

(१) सशस्त्र बलों में सिखों की भर्ती का कोटा २० प्रतिशत से घटाकर २ प्रतिशत करना। (२) पंजाब और सिंध बैंक का राष्ट्रीयकरण करना। (३) अमृतसर में ड्राई पोर्ट स्थापित करने में असफलता। (४) पंजाब को कम से कम केंद्रीय सहायता मंजूर किया जाना। (५) पांच प्रतिशत लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण। (६) पंजाब का आर्थिक शोषण। (७) मूल्यों में वृद्धि होना। (८) पंजाब में भारी उद्योगों की कमी। (९) उत्तर प्रदेश से पंजाबी किसानों की बेदखली। (१०) सात हेक्टेयर की अधिकतम भूमि सीमा निर्धारण करना, किन्तु शहरी सम्पत्ति की कोई सीमा निर्धारित न करना। (११) पंजाब में सामूहिक बीमा योजना लागू न करना। (१२) किसानों को ऋण उद्योगपतियों को दी गई दरों पर देने से इनकार करना। (१३) कृषि उत्पादों के लिए अलाभकारी मूल्य। (१४) कृषि उत्पादों को सस्ते भावों पर खरीदना, परंतु उन्हें उपभोक्ताओं को ऊंचे मूल्यों पर बेचना। (१५) हरिजनों और अन्य वर्गों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान करने में असफलता। (१६) पंजाब में भारत-पाकिस्तान युद्धों के पीड़ितों को मुआवजे का भुगतान न करना। (१७) बेरोजगारी भत्ते की अदायगी न करना। (१८) उत्पादन को मूल्य सूचकांक से जोड़ना। (१९) रोजगार बीमा स्कीम के अधीन किसानों और कामगारों को सुविधाएँ प्रदान करने से इनकार करना। (२०) शहरी कृषि भूमि को सस्ते दामों पर जबरदस्ती अधिग्रहण करना। (२१) निगम सीमाओं के पाँच कि. मी. अर्धव्यास के भीतर ग्रामीण भूमि की बिक्री पर प्रतिबंध।

(घ) सामाजिकः-

(१) सिख पर्सनल लॉ को मान्यता न देना। (२) फिल्मों और टी. वी. आदि में सिखों को अनुचित ढंग से प्रदर्शित करना, सिख-विरोधी साहित्य को बढ़ावा देना और रेडियो/टी. वी. पर सिख साहित्य के प्रसारण के लिए पर्याप्त समय न देना।

अकाली दल ने अक्तूबर १९८१ में सरकार को १५ मांगों की संशोधित सूची पेश की, जो इस प्रकार थी:-

धार्मिक मांगें:-

(१) संत जरनैल सिंह भिंडरांवाले की बिना शर्त रिहाई और दिल्ली रैली (सितंबर ७), चौक मेहता और चंदोकलां के बारे में पुलिस कार्रवाई की न्यायिक जांच (२) दिल्ली गुरुद्वारा के प्रबंध में सरकार की कथित मनमानी को हटाना। "सरकार के हाथ में कठपुतली बने व्यक्ति" द्वारा किए गए बलात् नियंत्रण को हटाने के बाद लोकतांत्रिक चुनाव करना। (३) तीर्थ यात्री दलों को पाकिस्तान भेजने और स्थानीय सिख पवित्र स्थानों के रख-रखाव के लिए सेवादार रखने के शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अधिकार को बहाल करना। (४) विमान से यात्रा करने वाले सिखों को देशीय और अंतरराष्ट्रीय उड़ानों में कृपाण धारण करने की अनुमति। (५) एक अखिल भारतीय गुरुद्वारा अधिनियम पारित किया जाना। (६) हरिद्वार, कुरूक्षेत्र और काशी की तरह अमृतसर को पवित्र शहर की हैसियत प्रदान करना। (७) कीर्तन प्रसारित करने के लिए स्वर्ण मंदिर, अमृतसर में "हरमंदिर रेडियो" की स्थापना। (८) फ्लाइंग मेल का नाम बदल कर हरमंदिर एक्सप्रेस रखना।

राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मांगें :-

(९) आनंदपुर साहिब संकल्प के अनुसार शिरोमणि अकाली दल को इस बात का पूरा विश्वास है कि राज्यों की प्रगति से केंद्र समृद्ध होगा, जिसके लिए राज्यों को और अधिक अधिकार और प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान करने के वास्ते संविधान में उपयुक्त संशोधन किए जाने चाहिएं। केंद्र के पास विदेशी मामले, रक्षा, मुद्रा और संचार (परिवहन के साधनों संहित) होने चाहिएं और बाकी विषय राज्यों के पास होने चाहिएं। (१०) पंजाबी भाषी क्षेत्रों और चंडीगढ़ को पंजाब में मिलाना। (११) राज्य के डैमों और हेडवर्क्स को पंजाब को सौंपना और नदी जल का राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय नियमों के अनुसार फिर से वितरण.। (१२) पंजाबी भाषा को हरियाणा, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान में दूसरी का भाषा दर्जा देना। (१३) उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र से पंजाबी किसानों को उखाड़े जाने को रोकना। (१४) अमृतसर में एक ड्राई पोर्ट स्थापित करना। (१५) पंजाब सिंध बैंक के बदले में एक नए बैंक का लाइसेंस मंजूर किया जाना चाहिए, जो सिखों के नियंत्रण में हो और कृषि उत्पादों की, इसे औद्योगिक उत्पादन के इंडेक्स से जोड़ते हुए, लाभकारी कीमतें निश्चित की जानी चाहिए।

माँगों के इस सैलाब पर विहंगावलोकन करने से पता चलता है कि इनमें अधिकांश माँगें ऐसी हैं जिनसे पंजाब के पड़ौसी राज्यों के अधिकारों पर कुठाराघात होता है, अन्य सम्प्रदायों में भी ऐसे ही धार्मिक अधिकार प्राप्त करने की होड़ सी लगने का भय है, अपराधिक मनोवृत्ति को संरक्षण देने का खतरा है, सिखों की पारस्परिक फूट से निपटने का बखेड़ा है, बिगड़ती अर्थ-व्यवस्था को चौपट करने की आशंका है और उत्तर भारत में धूमकेतु रूपी स्वतंत्र खालिस्तान के उदय होने की पूरी सम्भावना है। फिर भी भारत सरकार ने उनकी अनेक मांगें मान लीं और उन्हें लागू करने का प्रयास भी किया, लेकिन अकालियों ने उन स्वीकृत मांगों में फिर संशोधन करने की आवाज उठाई और उन्हें लागू नहीं होने दिया। इस प्रकार की अड़ंगेबाजी सिद्ध करती है कि इन मांगों में सिख नेतृत्व की रुचि नहीं है, बल्कि इनकी ओट में वे पंजाब में आतंक और रक्तपात का मार्ग प्रशस्त कर स्वतंत्र खालिस्तान के मंसूबे बांधे बैठे हैं।

लगभग सभी मांगों के बारे में सरकार ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है। राष्ट्रहित, साम्प्रदायिक सद्भाव, बेहतर आर्थिक स्थिति और सामाजिक एकता को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने कुछ मांगों को न मानने की दृढ़ता भी दिखाई। किन्तु अपने दलगत स्वार्थों को पंजाब, राष्ट्र और समाज से भी सर्वोपरि मानने वाले अकाली नेता इन सभी मांगों को स्वीकार करने पर अड़े हुए हैं। विपक्षी दलों ने भी ऐसी जलती आग में अपनी-अपनी खिचड़ी पकाने के लिए पूरा जोर लगाया जिससे किसी निर्णय पर पहुँच पाना और कठिन हो गया। वार्ता की मेज पर अकाली जो आज कहते थे, वह कल नहीं कहते थे। गिरगिट की इस भूमिका ने समाधान की संभावना और कम कर दी। इन्दिरा गांधी अपने दो दायित्वों-राष्ट्र हितों और दल गत हितों-से दबी होने के कारण दो टूक फैसला देने की स्थिति में नहीं थी। इसके अतिरिक्त अकालियों में इतने गुट हैं कि एक गुट सरकारी निर्णय से सहमति व्यक्त करता था तो दूसरा गुट उसके विरुद्ध फतवा दे देता था।

दुःखद पहलू

इस समूचे काण्ड का दुःखद पहलू यह रहा कि सरकार पर दबाव डालने के लिए पंजाब में

आतंकवाद का राक्षस जाग उठा जिसने निरीह लोगों की जान लेनी शुरू कर दी। विरोधी पत्रकारों, बुद्धिजीवियों और राजनेताओं की हत्या करने के लिए हिट लिस्ट बनाई गई, बैंकों में डकैतियां व राहजनी की जाने लगी, सरकारी शस्त्रागारों को लूटा जाने लगा, रेलवे स्टेशनों, पुलों और नहरों पर तोड़-फोड़ की शुरूआत हुई, शासन को पंगु बनाने का प्रयास हुआ, साम्प्रदायिक सौहार्द खत्म करने के लिए मन्दिरों को अपवित्र किया गया और कहा जाने लगा कि मांगों के सिलसिले में जो सिख सरकार से बातें कर रहे हैं वे बात करने के लिए अधिकृत प्रतिनिधि हैं ही नहीं। इसी बीच संविधान की प्रतियां जलाने और राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करने का सिलसिला शुरू हुआ।

इस काण्ड का दूसरा दुःखद पहलू यह था कि विदेशों में बैठे खालिस्तान समर्थक सिखों ने जगजीत सिंह चौहान आदि के साथ मिलकर भारत सरकार के विरुद्ध विष वमन शुरू कर दिया। इस स्थिति में इन्दिरा क्या, कोई भी प्रधानमंत्री इन मांगों पर अपना स्पष्ट अभिमत देकर अकालियों को पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकता था। सिखों को अपनी पहचान विलुप्त होने का जो मानसिक रोग लगा हुआ है जब तक वह दूर नहीं होता, तब तक 'आनन्दपुर साहिब संकल्प' जैसी राजनीतिक शरारतों का सिलसिला टूटने वाला नहीं है। विदेशी हस्तक्षेप के कारण सिख आज सोच ही नहीं सकते कि लोकतंत्रीय जीवन-पद्धति को चिरजीवी बनाने के लिए ठीक उसी प्रकार मजहब को राजनीति से दूर रखना होगा जिस प्रकार राजपूतों, गुर्जरों, मराठों व जाटों सरीखी मार्शल रेसेज ने रखा हुआ है। अपनी पहचान को बचाने के लिए यदि आज सिख संघर्षरत हैं तो कल अन्य मार्शल रेसेज भी, जो बलिदान और वीरत्व में सिखों से कहीं अधिक गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण कर चुकी हैं, ऐसा ही संघर्ष शुरू कर सकती हैं। सिख जिस पंथ व संस्कृति के गीत गा रहे है वैसे पंथ और संस्कृतियाँ यहाँ अनेक हैं। उन्हें भी ऐसा संघर्ष छेडने से कौन रोक सकेगा ? इस प्रकार ये मांगें अकेले पंजाब की, अकेले सिखों की नहीं हैं, बल्कि उससे भारत के अन्य संवेदनशील क्षेत्र भी संघर्षरत हो सकते हैं। अकालियों ने जब ये माँगें रखीं थी तो व्यापक राष्ट्रीय हित उनके सामने नहीं थे। उन्होंने केवल अपने पंथ और कौम को सामने रखा था।

अकालियों का यह सोचना कि इन मांगों के पूरा होने पर ही सिक्खी अपनी पहचान बनाए रख सकते हैं, एक मूर्खतापूर्ण दलील है। इन मांगों के बिना जब ब्रिटिश भारत में सिक्खी कायम रही, आज विदेशों में सिक्खी कायम है, तो उन पर इतना आग्रह क्यों ? दूसरे, भारत के किसी अन्य समुदाय को मौजूदा व्यवस्था में अपनी पहचान विलुप्त होने का कोई खतरा नजर नहीं आता, तो अकालियों को क्यों आ रहा है ? इसका कारण केवल एक है कि मजहब और राजनीति के गठजोड़ ने उनके सोच को बीमार बनाया हुआ है।

भिंडराँवाले उवाच

पिछले तीन वर्षों में संत जरनैल सिंह भिंडराँवाला पुच्छलतारे के रूप में पंजाब में विशेष रूप से चर्चित रहा है जिसे इस बीमार सोच का सच्चा प्रतिनिधि माना जा सकता है। उसके उग्रवादी विचार श्वेत पत्र से यहां उद्धृत किए जा रहे हैं जिससे अनुमान लग सकता है कि इन माँगों के पीछे असली मंसूबा क्या है।

''सभी सिखों को चाहे व शहरी क्षेत्रों के रहने वाले हों या ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले हों, यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम गुलाम हैं और किसी भी कीमत पर आजादी चाहते हैं।

इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हथियार संभाल लो और लड़ाई के लिए तैयार रहो, तथा आदेशों की प्रतीक्षा करो।''

''इस बात को अच्छी तरह से ध्यान में रखो कि किसी प्रकार की गड़बड़ी होने पर, सेना और पुलिस के सभी सिखों की दुनालियाँ उसी स्थान की तरफ होंगी।''

''उसमें यह बहुत ही साफ लिखा हुआ है कि १२ बोर की बंदूक के लिए लाइसेंस की जरूरत नहीं है। लाइसेंस लेने की कतई जरूरत नहीं है। यदि आप को १२ बोर गन के साथ पकड़ लिया जाता है और आपसे यह पूछा जाता है कि इसका लाइसेंस कहाँ है तो आप यह आसानी से कह सकते हैं कि यह आनंदपुर साहिब संकल्प के अनुसार है।''

''मैं सिखों को इस चालाकी के प्रति सावधान रहने की चेतावनी देता हूँ। बातचीत जारी रखें लेकिन साथ-साथ अपनी तैयारी भी पूरी रखें–तैयारी पूरी होनी चाहिए।''

''ये तो केवल ३५ बनते हैं और १०० भी नहीं। ६६ करोड़ को विभाजित करें तो प्रत्येक सिख के हिस्से में केवल ३५ हिंदू आते हैं, ३६ भी नहीं, तो फिर आप कैसे कहते हैं कि आप कमजोर हैं?''

''मैंने पहले यह निर्देश दिए थे कि प्रत्येक गाँव में तीन युवकों का एक दल बनाया जाए, प्रत्येक के पास एक रिवाल्वर और एक मोटर साइकिल होनी चाहिए। कितने गाँवों में ऐसा किया गया है?''

''सिखों के विरुद्ध अपराध करने वालों से बदला लेने के लिए मोटर साइकिल ग्रुप तैयार किए जाने की आवश्यकता है।''

''आप में से जो आतंकवादी बनना चाहते हों, वे अपने हाथ ऊपर उठायें; आपमें से जो इस बात पर विश्वास करते हैं कि वे गुरू के सिख हैं वे अपने हाथ ऊपर उठाएँ; बाकी बकरियों की तरह अपने सिर झुका लें।''

''जहाँ तक मेरा संबंध है, हम चाहते हैं कि आनंदपुर साहिब संकल्प की सभी माँगें स्वीकार की जाएँ अर्थात् सिख एक अलग राष्ट्र (कौम) है, बस इतना ही मैं कहना चाहता हूँ।''

''हथियार के बिना सिख नंगा है, बलि का बकरा है......मोटर साइकिलें, बंदूक खरीदें और देशद्रोहियों को उन्हीं की भाषा में जवाब दें।''

(''इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून'')
(२४ अप्रैल, १९८४)

''जिन्होंने यह महान कार्य (बाबा गुरुवचन सिंह और लाला जगतनारायण की हत्या के संदर्भ में) किए हैं, वे सिखों के सर्वोच्च आसन अकाल तख्त की ओर से सम्मान के पात्र हैं।''

(इंडिया टुडे,३० अप्रैल १९८३)

''मैं उनसे (ब्रिटेन में रह रहे सिखों से) कहना चाहता हूँ कि वे एक अलग राष्ट्र के रूप में हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई में भाग लेने के लिए तैयार रहें।

(डेली मेल, १२ अप्रैल १९८४ को दिया गया साक्षात्कार)

''सिख एक अलग राष्ट्र हैं और इस तथ्य को मान्यता दी जाए। सिखों को भारत संघ

में विशेष दर्जा दिया जाना चाहिए जो संविधान के अनुच्छेद ३७० के अधीन जम्मू और कश्मीर को दिया गया है। ('द वीक' २ अप्रैल, १९८४)

इन बयानों में रुग्ण मानस की अभिव्यक्ति तो हुई ही है इसके साथ वे विरोधाभास का भी परिचय देते हैं। एक तरफ वे भारत में ही विशेष दर्जा प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हैं और दूसरी तरफ कहते हैं कि सिखो! हथियार सँभालो, तुम्हारे एक के हिस्से में ३५ निहत्थे हिन्दू ही तो आते हैं।

विदेशी सरकारों के हस्तक

भारत संघ में ही बने रहने की बात समय-समय पर अनेक अकाली नेता कहते हैं किन्तु श्वेत-पत्र में विभिन्न गुट बनाकर उग्रवादी सिखों द्वारा विदेश में हो रही हरकतों पर जो प्रकाश डाला गया है उससे जाहिर है कि भारत संघ में बने रहने की उनकी बातें नितांत अविश्वसनीय हैं। विदेशों में सक्रिय पृथकतावादी संगठनों में 'नेशनल काउंसिल आफ खालिस्तान' ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा, और अमरीका में; 'दल खालसा' ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी में; 'बब्बर खालसा' कनाडा में और अखण्ड 'कीर्तनी जत्था' ब्रिटेन और कनाडा में अपनी गतिविधियाँ जारी रखे हुए हैं। इन संघटनों का कार्य विदेश में बसे सिखों को भ्रमित करना, खालिस्तान आन्दोलन के लिए धन-संग्रह करना, भारत सरकार को बदनाम करना, हिन्दू दबदबे का झूठा प्रचार करना और स्वतंत्र खालिस्तान के लिए विदेशी सरकारों व संगठनों से हर सम्भव प्रकार का सहयोग प्राप्त करना है। लेकिन भारत संघ में बने रहने की दुहाई देने वाले इन अकाली नेताओं ने उनकी राष्ट्रद्रोही हरकतों पर चिन्ता प्रकट नहीं की। इतना ही नहीं, बल्कि इन पृथकतावादियों से अपना सम्पर्क भी साधे रहे। इन बातों से अकालियों ने अपनी स्थिति खुद ही सन्देहास्पद बना ली है।

अप्रैल १९८० में जगजीत सिंह चौहान ने, जिनका सार्वजनिक जीवन कम्युनिस्ट पार्टी के स्टूडेंट विंग में भाग लेने से प्रारम्भ हुआ, आज़ाद खालिस्तान सरकार की घोषणा की और उसके प्रेजीडेंट बने। बलवीर सिंह संधु को उनका महासचिव घोषित किया गया जो अमृतसर में सैनिक कार्रवाई से पूर्व स्वर्ण-मन्दिर परिसर में ही वर्षों से रह कर दुष्प्रचार कर रहा था। मार्च १९८३ में एक विशेष उद्देश्य से नेपाल और बंगलादेश से होकर भारत में प्रवेश करने का उसने असफल प्रयास किया। १५ मार्च को उसने बयान दिया कि भारत में १० हजार सिख छापामारों का दल बनाया जा रहा है जो भारतीय सुरक्षा बलों से युद्ध करेंगे। अपने महासचिव बलवीर सिंह संधु को १३ जुलाई १९८३ को उन्होंने लिखा कि लोंगोवाल और भिंडराँवाले को एक पूर्ण सरकार और संसद का गठन करने को कहे और यदि वे झिझकते हैं तो 'नेशनल कांउसिल आफ खालिस्तान' अपने ढंग से काम करेगी। उन्होंने आह्वान किया कि २६ जनवरी १९८४ 'विश्वासघात दिवस' के रूप में मनाया जाए। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चौहान ने अमरीकी कांग्रेस के अनेक सदस्यों, वाशिंगटन की हेरीटेज फाउंडेशन, जम्मू कश्मीर मुक्ति मोर्चा के नेताओं, पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर की जे. ई. आई. आदि संगठनों तथा अमरीका, कनाडा, जर्मनी, ब्रिटेन तथा पाकिस्तान सरकारों से सम्पर्क साधा। किन्तु इन सब बातों से परिचित होते हुए भी भारत के अकाली क्षेत्रों में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

एक दूसरा विदेशी सिख संगठन 'दल खालसा' स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न सिख राज्य के निर्माण की माँग करता रहा है। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह हिंसा के प्रयोग की वकालत करता रहा। उसके अनुसार, "मात्र आतंक ही हमें अपना उद्देश्य प्राप्त कराने में सहायक होगा। २० वीं

सदी केवल यही भाषा समझती है ।" ब्रिटेन के दल खालसा के मुख्य पंच जसवंत सिंह ठेकेदार ने कहा – 'राजनीतिक शक्ति किसी व्यक्ति को कठौती में नहीं दी जाती, न ही यह 'भक्ति' द्वारा प्राप्त की जा सकती है । गुरिल्ला युद्ध और सशस्त्र विद्रोह के बिना हमारे उद्देश्य की प्राप्ति असम्भव है । राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से निकलती है । सशस्त्र युद्ध ही खालिस्तान प्राप्त करने का एकमात्र साधन है ।"

ब्रिटेन स्थित दल खालसा और बैंकूवर (कनाडा) स्थित बब्बर खालसा की लन्दन में मई १९८३ में हुई एक संयुक्त बैठक में शिरोमणि अकाली दल, अमृतसर के नेताओं को धमकी दी गई कि यदि उन्होंने सरकार के सामने झुक कर किसी बात पर सहमति दिखाई तो उनकी निरंकारियों जैसी गत बना दी जाएगी । २९ मई १९८३ को प्रचारित एक पैम्फलेट में, जिस पर ठेकेदार जसवंत सिंह और सुप्रीम एग्जीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य देविन्दर सिंह के हस्ताक्षर हैं, लिखा है कि "जहाँ तक सिखों का सम्बंध है, भारतीय संविधान एक बेकार सा दस्तावेज है और दल खालसा 'इन्टरनेशनल कोर्ट आफ जस्टिस' में भारत को चुनौती देना चाहता है और "सिख होमलैण्ड" छोड़ने के लिए वह भारत पर दबाव डालने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता लेगा ।"

जुलाई १९८३ में साउथहाल में हुई बैठक में ठेकेदार जसवंत सिंह ने कहा कि दल खालसा पंजाब में सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार हो रहा है और पंजाब के अनेक उच्चाधिकारी इस संगठन को अपना गुप्त समर्थन दे रहे हैं, यहाँ तक कि सैनिक अधिकारी भी विद्रोह की स्थिति में आगे आने को तैयार हैं । नवम्बर १९८३ में ठेकेदार जसवंत सिंह की पंजाबी पुस्तक 'खालसा राज' ब्रिटेन में बिक्री को आई जिसमें कहा गया कि (१) खालसा राज की स्थापना के लिए दल खालसा वचन-बद्ध है, (२) सिखों में धार्मिक जागरूकता तैयार करने और संसार के उन अन्य समुदायों के साथ सहयोग करने के लिए योजना बनाई है जो इसी प्रकार स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत हैं, और (३) एक नया संगठन 'तख्त खालसा' बनाया जाएगा जिसका काम खालसा पंथ को स्वच्छ करना और स्वतंत्रता के लिए सरकार के विरुद्ध संघर्ष करना होगा । यह संघर्ष यहूदियों की तरह होगा ।" पुस्तक में लिखा गया है कि राजनीतिक शक्ति केवल शारीरिक बल, छापामार युद्ध और सशस्त्र विद्रोह से प्राप्त की जा सकेगी ।

'बब्बर खालसा', अखण्ड कीर्तनी जत्थे की राजनीतिक शाखा है जो अपनी गतिविधियों के लिए यहूदियों के इस्राइल की स्थापना के संघर्ष और कुर्द लोगों द्वारा अपनी राष्ट्रीय आजादी के लिए किए जा रहे संघर्ष को अपना आदर्श मानता है । विदेशों में इसकी शाखाओं के जत्थेदार तलविन्दर सिंह परमार हैं जिन्हें प. जर्मनी ने गिरफ्तार कर भारत सरकार को न सौंपकर छोड़ दिया और जिसे लेकर प. जर्मन दूतावास पर बीते महीने में प्रदर्शन हुए । बब्बर खालसा के अनुसार पाकिस्तान सिखों के लिए एक सहज और सांस्कृतिक पड़ोसी है जो भारत सरकार के विरुद्ध उनके आन्दोलन में मदद करने को तैयार है ।' बब्बर खालसा जोर देता है कि विदेशों में बसे सिखों को 'खालिस्तान' की आजादी के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है । इसके लिए बब्बर खालसा का प्रसार अमेरिका, ब्रिटेन, हालैंड और पश्चिमी जर्मनी तक कर दिया गया है । २० मई १९८३ को लन्दन के 'देश-परदेश को' दिए साक्षात्कार में तलविन्दर सिंह परमार ने दावा किया कि बब्बर खालसा पंजाब में लाला जगत नारायण, निरंकारियों तथा अन्य लोगों की हत्याएं करने के लिए जिम्मेदार है और रेल लाइनों को तोड़ने की जिम्मेदारी अखिल भारतीय सिख छात्र संघ की है ।

फरवरी १९८४ में श्री सुर्जन सिंह गिल ने पंजाब के सिख नेताओं को एक खुला पत्र लिखा

जिसमें उनसे आग्रह किया गया कि वे सिख कौम के मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अर्थात् स्वतंत्र राज्य की स्थापना के लिए कार्रवाई शुरू करें। उसने सुझाव दिया कि पंजाब में स्थिति को बदलने के लिए आत्मघाती दस्तों (सुसाइड स्क्वैड) के प्रयोग का यह सही समय है और साथ ही पत्र में चेतावनी दी गई कि, कौम उस नेता को माफ नहीं करेगी जो इस नाजुक समय में कोई कमजोरी दिखाएगा।

वार्ता असफल क्यों?

उपर्युक्त स्थिति के ही कारण पंजाब का हर बड़ा सिख नेता अपने को दबा हुआ महसूस करता था, सच्ची बात कहने से डरता था, सरकारी दलीलों से असहमति प्रकट करता था और पंजाब में हो रहे नर-संहार को चुप-चाप देखता था। वार्ता की मेज पर सरकार के सामने, बात करने को वे बैठ तो जाते थे, लेकिन किसी बात पर हाँ कहने का अधिकार उन्हें नहीं था क्योंकि आतंक की पिस्तौल हमेशा उनकी छाती पर तनी रहती थी। वार्ताओं के लम्बे-चौड़े दौर चलाकर भी भारत सरकार को जो विफलता मिली, उसका कारण सिखों के प्रति उसका दुराग्रह नहीं था, बल्कि अकाली नेतृत्व का दब्बूपन था। सिख समाज में वे अपने को कौम का रहनुमा प्रदर्शित करते रहे, लेकिन हकीकत यह थी कि वे अपनी जुबान से एक सधे हुए तोते की तरह वही बोलते थे जो आतंकवादी बुलवाते थे। संत लोंगोवाल भी उदार थे, प्रकाशसिंह बादल भी उदार थे, तोहड़ा और तलवंडी भी अनुदार नहीं थे, लेकिन उन्हें आतंकवादियों ने दुराग्रही बना दिया। संत होकर भी वे अंत तक झूठ बोलते रहे, मुख्य ग्रंथी भी यह कह कर असत्य पंथी बने रहे कि स्वर्ण-मन्दिर में न आतंकवादियों का बसेरा है न हथियारों का जखीरा है। संत भिंडराँवाले से वे मिलते रहे, भाई अमरीक सिंह व बलवीर सिंह संधु से बातें करते रहे, लेकिन कहते यही रहे कि स्वर्ण-मन्दिर में ये खतरनाक तत्व मौजूद ही नहीं हैं।

मजहब और राजनीति के गठबंधन का ही यह चमत्कार था कि संतों और ग्रंथियों को, जिन पर पंथ का महान् दायित्व था, क्षुद्र राजनीति के लिए इस प्रकार अत्यंत निर्लज्जता से झूठ का आश्रय लेना पड़ा। ऐसे लोगों पर, जिन्होंने अपनी विश्वसनीयता को खुद ही पलीता लगा दिया, भला कौन विश्वास करेगा? आतंक से झुकने वाला कायर होता है, वीरात्मा नहीं। गुरुद्वारे में छिपकर आतंकवाद का उपदेश देने वाला भी कायर होता है, वीर नहीं। अपने आचरण से शिरोमणि अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के नेताओं ने इसी तथ्य को प्रकट किया है। निहित स्वार्थों के लिए कोई भ्रमित संत कितने नीचे गिर सकते हैं, यह पंजाब में एक बार नहीं, अनेक बार देखने को मिला।

सैलाब थमने के बाद

पंजाब में माँगों के इस सैलाब के कारण भयंकर बाढ़ के पश्चात् की सी दयनीय स्थिति दिखाई पड़ रही है। ४२ प्रमुख गुरुद्वारों को आतंकवादियों का गढ़ बनाने का ही यह परिणाम था। सैनिक कार्रवाई से पूर्व आतंकवादी लगभग ५०० लोगों के खून से अपने हाथ रँग बैठे थे, जिनमें निरीह यात्री थे, पत्रकार थे, राजनेता थे, शिक्षक थे, वकील थे और जिनमें निरंकारी थे, आर्यसमाजी थे, मजहबी सिख थे, सनातनधर्मी थे और आतंकवाद की निन्दा करने वाले गुरु के सच्चे सिख भी थे। सैनिक कार्रवाई के बाद ३० जून तक ६४६ लोग मौत का शिकार हुए जिनमें ९२ सैनिक व सैनिक अधिकारी

और ४९३ नागरिक थे। गुरुद्वारों में जिस ढंग का जिस मात्रा में गोला-बारूद व आधुनिक हथियार मिले हैं उससे लगता है कि पंजाब में वैसे ही कत्लेआम की योजना बनाई जा रही थी जैसी कि अहमदशाह दुर्रानी और नादिरशाह ने दिल्ली में क्रियान्वित की थी। बाद में कुछ ऐसे समाचार भी अखबारों में आए जिससे पता चलता है कि आतंकवादी आज़ाद खालिस्तान का मन पूरी तरह बना चुके थे और पाकिस्तान इस कार्रवाई में पूरा सहयोग देने को तैयार बैठा था। सैंतीस रेलवे स्टेशनों को फूँकने और फिरोजपुर मण्डल में रेलवे लाइनों तथा पुल को उड़ाने के पीछे उसके छिपे हाथों का संकेत गृहमंत्री संसद में दे ही चुके थे। मरजीवड़ों को पाकिस्तान में गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण देने के समाचार भी अखबारों में आ चुके थे।

किन्तु १३ अप्रैल १९८४ को संसद में श्री सूरजभान ने यह रहस्योद्घाटन करके सनसनी फैला दी कि कुछ दिन पहले पाकिस्तान के जनरल मोहम्मद इकबाल नई दिल्ली आकर वेस्टर्न कोर्ट के विधायक व सांसद होस्टल में ठहरे थे। यह भी बताया गया कि इकबाल भारत सरकार के एक स्वायत्तशासी प्राधिकरण के अध्यक्ष (जिसे कुछ दिन पूर्व कैबिनेट स्तर दिया गया था) का सगा भाई है। मुकेरियाँ में पाकिस्तानी जहाज उतरने से भी सन्देह जागृत हुआ कि दाल में कहीं कुछ काला है। २५ जून १९८४ के 'नवभारत टाइम्स' में छपे इस समाचार ने रहस्य से और परदा हटा दिया कि सेना का गुप्तचर विभाग सरगर्मी से इस बात की जाँच कर रहा है कि सैनिक कार्रवाई के कुछ दिन पूर्व क्या स्वर्ण-मन्दिर में भिंडराँवाले के साथ खालिस्तान के स्वयंभू प्रधान डा. जगजीत सिंह चौहान, गंगा सिंह ढिल्लों और पाकिस्तान के एक जनरल ने मुलाकात की थी। स्वर्ण मन्दिर परिसर में अकाल तख्त के तहखाने से कुछ ऐसे दस्तावेज सेना के हाथ लगे हैं जिनसे संकेत मिलता है कि ये तीनों व्यक्ति एक रात भिंडराँवाले के मेहमान बनकर रहे थे। सूत्रों का कहना है कि इन विघटनकारियों ने भिंडराँवाले को खालिस्तान की साजिश के अन्तिम चरण के बारे में विस्तार से समझाया था। कहा जाता है कि ये लोग आजाद कश्मीर की सीमा से भारत में प्रवेश कर बाद में एयर इंडिया की नियमित उड़ान से अमृतसर पहुँचे और एक रात अकाल तख्त में बिताने के पश्चात् अगले दिन उसी मार्ग से वापस पाकिस्तान लौट गए।

ऐसी स्थिति में क्या बेचारे लोंगोवाल और क्या बेचारी इन्दिरा माँगों के सैलाब को नियंत्रित कर सकते थे? विध्वंस करने पर ही बाढ़ शांत होती है, क्योंकि उसकी प्रकृति में यही बदा होता है। मरजीवड़ों की मृतात्मा और लोंगोवाल-बादल-तलवंडी की जीवितात्मा निश्चय ही मानवता के इन दुश्मनों को रह-रहकर धिक्कार रही होगी कि चमन को इस प्रकार उजाड़ कर उनकी नेतागिरी कितनी सार्थक हुई? वे यदि अब भी अपने को कौम का रहनुमा मानने के भ्रम में हैं, आज भी अपने को पंथ का रक्षक मानते हैं, तो पंजाब का भविष्य उनसे प्रश्न करता है कि गुरुद्वारों की मिट्टी पलीत कराने का उन्हें क्या हक था, पंथ की जग हँसाई कराने का उन्हें क्या अधिकार था और कौम की देशभक्ति को आँख दिखाने का क्या प्रयोजन था?

बात यहाँ तक पहुँची

२२ जुलाई १९८४ को 'पंजाब केसरी' ने "आतंकवादी बेबस जिस्मों से भूख मिटाने के बाद हत्याओं पर निकलते थे" शीर्षक से जो समाचार प्रकाशित किया है उससे हर धर्मावलम्बी और सच्चे सिख का मस्तक शर्म से झुक जाएगा। यही समाचार नागपुर के 'हितवाद' तथा अन्य पत्रों में भी

प्रकाशित हुआ। समाचार के अनुसार सैनिक कार्रवाई के पश्चात् सैनिकों को स्वर्ण-मन्दिर के तहखाने में छिपी ६४ मादरजात नंगी लड़कियाँ मिलीं जो २० वर्ष के आसपास की थीं और उनमें से कुछ कुँवारी होने पर भी गर्भवती थीं। इन लड़कियों ने बताया कि जब वे स्वर्ण-मन्दिर में अपने माता-पिता के साथ दर्शनार्थ आईं तो भिंडराँवाले के मरजीवड़े उन्हें गुरु नानक निवास में दबोच ले गए। माता-पिताओं ने भिंडराँवाले और लोंगोवाल से काफी दुआ-फरियादें की, लेकिन कुछ नहीं बना। स्वर्ण-मन्दिर में दुर्दान्त आतंकवादियों को १५ दिन रखकर इन अबलाओं की इज्जत से अपनी पाशविक भूख मिटाने की खुली छूट दी जाती थी और फिर उन्हें हत्या की जघन्य वारदातों के मिशन पर भेज दिया जाता था। औरतें ही नहीं, शराब की बोतलें व ऐयाशी की अन्य सभी सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध कराई जाती थीं।

इस समाचार के बाद भी यदि लोंगोवाल व उनके साथी अपने को सम्मान का अधिकारी समझते हैं तो इससे बढ़कर मानव-इतिहास में कोई अन्य निर्लज्जता शेष नहीं रहेगी। यदि उनमें मनुष्यता का थोड़ा-सा भी अंश बाकी है तो इन ६०-६२ माँगों को छाती से लगाकर गुरु अर्जुनदेव की भांति रावी में छलाँग लगा कर आत्महत्या कर लेनी चाहिए। इससे कम से कम वे बलिदानी संत तो कहला सकेंगे, भले ही मनुष्य न सही।

१२ हिन्दू नहीं, तो क्या मुसलमान ?

सन् १८९७ में स्वामी विवेकानन्द ने लाहौर में कहा था ...

"यदि तुम्हें अपने देश का भला करना है तो तुममें से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह बनना होगा। तुम्हें अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष नज़र आवें ; लेकिन उनके हिन्दू रक्त को पहचानो, जिन्हें तुमको पूजना होगा। चाहे वे तुम्हें हानि पहुचाने के लिए सब कुछ करें, चाहे उनमें से प्रत्येक तुम्हें शाप दे, अपशब्द कहे, तुम सदा प्रेम के शब्दों से उनका सत्कार करो। यदि वे तुम्हें निष्कासित भी कर दें, तब भी शक्ति-पुंज सिंह सदृश गुरु गोविन्द सिंह की तरह शान्ति से मरण का वरण करो। ऐसा ही व्यक्ति हिन्दू नाम का अधिकारी है। ऐसा ही आदर्श सदा सम्मुख रखना चाहिए।"

इस कथन में जहां एक राष्ट्रभक्त की आत्मा की पुकार है, वहाँ हिन्दुत्व के आदर्श का भी उच्चार है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दुत्व के इस आदर्श के शीर्ष पर गुरु गोविन्द सिंह विराजमान हैं।

और हिन्दुत्व के आदर्श गुरु गोविन्द सिंह क्यों न हों, जिनके पिता, नवम गुरु, गुरु तेग बहादुर ने तिलक, चोटी और जनेऊ की रक्षा के लिए अपना बलिदान देते हुए कहा था—

शिर मम कढ्यो न जैह, जर तुव कटेगी।
हों हिन्दू धर्म के काज आज मम देह लटेगी।।

भारत में थियोसोफी का प्रचार करने वाली आयरिश अंग्रेज महिला डा. एनीबोसेन्ट ने एक बार कहा था :

"लगभग चालीस वर्ष से अधिक समय तक संसार के विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुची हूं कि कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान वैज्ञानिक, पूर्ण एवं दार्शनिक हो। इसके संबंध में जितनी गहराई से सोचोगे, उतना ही श्रेष्ठ तुम इसे मानने लगोगे।

"यह समझना भूल नहीं है कि हिन्दुत्व के बिना भारत का कोई भविष्य नहीं। हिन्दुत्व ही वह जमीन है जिसमें भारत की जड़ें गहराई तक पहुँची हुई हैं और यदि उस जमीन से अलग कर दिया गया तो यह देश कटे पेड़ की भांति मुरझा जाएगा। भारत में अनेक जातियां और अनेक धर्म हैं। परन्तु उनमें से कोई भी भारत के अतीत से सम्बद्ध नहीं है और न ही उनके कारण भारत की राष्ट्रीयता कायम है। वे जैसे आए हैं, वैसे चले जाएंगे। परन्तु यदि हिन्दुत्व नष्ट हो गया तो फिर भारत, भारत नहीं रहेगा। वह मात्र एक भौगोलिक इकाई बनकर रह जाएगा, जिसके साथ उसके उज्ज्वल अतीत

की स्मृतियां ही जुड़ी होंगी। उसका इतिहास, उसका साहित्य, उसकी कला, उसके स्मारक सभी पर तो हिन्दुत्व अंकित है। अगर हिन्दुओं ने हिन्दुत्व की रक्षा नहीं की तो फिर उसे कौन बचाएगा ? यदि भारत माता के पुत्र ही हिन्दू धर्म का पालन नहीं करेंगे तो फिर उसकी रक्षा कौन करेगा ? भारत ही भारत की रक्षा कर सकता है और भारत तथा हिन्दुत्व में कोई अन्तर नहीं, वे पर्यायवाची है।"

वेदों की महत्ता

हिन्दुत्व के जो मूलाधार हैं उनका समर्थन गुरुवाणी में बारम्बार किया गया है। उदाहरण के लिए वेदों के सम्बन्ध में देखिए–

दीवा बले अंधेरा जाय। वेद पाठ मति पापां खाय।
उगवै सूर न जापे चन्द। जहां ग्यान प्रकास अग्यान मिटन्त ।।

(सूही म. १)

दीपक जलाने पर जैसे अंधकार दूर हो जाता है, सूर्य चढ़ने पर जैसे चन्द्रमा दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार वेद ज्ञान का प्रकाश होने पर अज्ञान का अंधेरा मिट जाता है।

इसके साथ ही आगे भी कहा है ---

वेद पाठ संसार की कार। पढ़ पढ़ पंडित करहिं विचार।
विन बूझे सभ होहिं खुआर। नानक गुरमुख उतरस पार ।।

(सूही म. २)

–वेद का पढ़ना संसार भर का कर्तव्य है। विद्वानों को चाहिए कि वे वेद के अर्थों पर विचार करें। जो अर्थों पर विचार नहीं करते, वे दुःखी होते हैं। नानक जी कहते है कि गुरुमुख यानी वेदज्ञान पर आचरण करने वाले ही भवसागर से पार होते हैं।

अन्यत्र कहा है–

वेदा महिं नाम उत्तम सो सुणहि नाहिं, फिरहिं ज्यो बेतालिया।
कहे नानक जिन्हां सच तजिया, कूड़ लागे तिनी जनम जूए हारिया ।।

(रामकली, महला ३, आनन्द १९)

--वेदों में नाम या ईश्वरीय सत्य ज्ञान या पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का बखान बड़े उत्तम ढंग से हुआ है। उसको तो तू सुनता नहीं, बेताल या पागल की तरह भटक रहा है। नानक जी कहते है कि जिन लोगों ने सत्य को छोड़ा, वेदज्ञान से मुँह मोड़ा और झूठ में लग गए वे मानो मानव-जीवन को जूए में हार गए।

'विचित्र नाटक' के अध्यायं ४ में लिखा है--

भुजंग प्रयात छन्द--

जिने वेद पढ्यो सुवेदी कहाए। तिने धरम के करम नीके चलाए।
पढ़े कागदं मद्र राजा सुधारं। आपो आप में वैरभाव विसार ।।१
नृपं मुकलियं दूत सो कासी आयं। सभे वेदियं भेद भाखं सुनायं।
सभे वेदपाठी चलें मद्र देसे। प्रणामं कियो आन कै कै नरेसे ।। २
धुनं वेद की भूप तांते कराई। सभे पास बैठे सभा बीच भाई ।।
पढ़े सामवेदं जुजुरवेद कत्थं। ऋगंवेद पाद्यं करे भाव हत्थं ।। ३

रसावल छन्द–

अथरवेद पठियं। सुनियो पाप नठियं।
रहा रीझ राजा। दीआ सरब साजा ।। ४

—जिन्होंने वेद पढ़े वे सुवेदी कहाये और उन्होंने ही धर्म के शुभ कार्यों का श्रीगणेश किया। मद्र देश के राजा ने जब यह समाचार जाना तो सबसे आपस में वैरभाव छोड़ने को कहा और अपने दूतों को काशी भेजा। वे दूत काशी के वेदपाठी पंडितों से मिले, उनसे वेदों का उच्चारण सुना और अपने राजा की ओर से निमंत्रण दिया। निमंत्रण पाकर सब वेद पाठी मद्रदेश चले और वहां पहुच कर राजा को प्रणाम किया। राजा ने उन सब पण्डितों से वेदपाठ की ध्वनि करवाई। स्वयं सब भाइयों के साथ सभा के बीच में बैठे। पंडितों ने सामवेद और यजुर्वेद का पाठ किया। उसके बाद ऋग्वेद का पाठ करके उसका भाव समझाया। फिर अथर्ववेद का पाठ सुनाया।उसके सुनने से सब पाप नष्ट हो गए। तब राजा ने उन पंडितों को सब प्रकार से पुरस्कृत किया।

व्यसनों का निषेध

मांस भक्षण का निषेध करते हुए सारंग की वार महाल में कहा है——

कलि होई कुते मुहीं, खाज होआ मुरदार।
कूड़ बोलि बोलि भोकण, चूका धर्म विचार।।

—कलियुग में तो मनुष्यों का स्वभाव कुत्तों जैसा हो गया है क्योंकि लोग जीवों को मारकर खाने लगे हैं। मुरदार खाकर वे कुत्तों की तरह भौंकते हैं और धर्म का तो विचार ही उठ गया है।

वेद कतेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारे।
जो सब में एक खुदाय कहत हो, तो क्यों मुर्गी मारे।।

(प्रभात बानी कबीर)

—लोगो! वेदादि धर्मशास्त्रों को झूठा मत कहो, झूठा वह है जो उन पर विचार नहीं करता। यदि सब जीवों में और सर्वत्र एक ही परमात्मा को व्यापक मानते हो, तो फिर मुर्गी आदि निरीह जीवों को क्यों मारते हो?

भांग माछली सुरा पानि, जो जो प्राणी खांहि।
तीरथ, बरत, नेम किये ते, सभे रसातल जांहि।।

(श्लोक कबीर जी)

—जो लोग भांग, शराब आदि नशा और मछली मांस आदि अभक्ष्य भोजन करते है उनके तीर्थ, स्नान, व्रत और नियम सब व्यर्थ जाते है।

रहतनामा देसासिंह में दशमगुरु का आदेश है ——

कुठा हुक्का चरस तम्बाकू, गांजा टोपी ताड़ी खाकू।
इनकी ओर कभी न देखे, रहत बन्त जो सिख विसेखे।।

——मेरे विशेष रहत वाले जो सिख है वे मांस, चरस, तम्बाकू, गांजा, चिलम, ताड़ी, शराब आदि का सेवन नहीं करते। वे इन गन्दी वस्तुओं की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते।

इसके अलावा जन्मसाखी में यह भी लिखा है——

बकरा झटका बीच न करे, और मांस न लंगर बड़े।।
जो करे इबादत बन्दगी, उसनू मांस न पाक।
सभना अन्दर रम रह्या, हरदम साहिब आप।।

—लंगर या रसोईघर में बकरे का झटका न हो, न ही मांस अंदर प्रवेश पा सके। जो ईश्वर की उपासना करता है उसके लिए हर प्रकार का मांस अपवित्र है। क्योंकि प्राणि मात्र में एक ही परमात्मा रम रहा है।

बानगी के तौर पर ये उद्धरण केवल यह बताने के लिए दिए हैं कि धर्म के आधार के रूप में गुरुओं के मन में वेदों के प्रति कोई कम आदर नहीं था और सात्विक जीवन के लिए व्यसनों से रहित होने का जैसा उपदेश हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों में दिया है, वैसा ही उपदेश गुरुओं ने भी दिया है। इसमें हिन्दुत्व का सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष दोनों आ गए। स्वयं दशमेश गुरु जब पुष्कर राज़ की तीर्थयात्रा पर गए, तो पृथ्वी पंडित ने उनसे पूछा कि आपके जीवन का ध्येय क्या है और सिख पंथ क्यों चलाया है, तो गुरु जी ने उत्तर में कहा था--"पंडित जी! यह पंथ आर्य धर्म की रक्षा के लिए, साधु, ब्राह्मण, निर्धन और दीन - दुखियों की रक्षा के लिए है। यही सेवा यह कर रहा है और सदा करता रहेगा।" (जन्मसाखी)

इसी प्रकार के और सैंकड़ों उदाहरण दिए जा सकते है जिनसे सिखों और हिन्दुओं की एकात्मता सिद्ध होती है। गुरु नानक ने **नाम, दान, स्नान, सेवा और सिमरन** पर जो जोर दिया, उसे भी किसी तरह हिन्दुत्व के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। **कीरत (श्रम) करो, नाम जपो और वंड के खाओ** (बांट कर खाओ) –इस उपदेश में भी कोई नवीनता नहीं है। गुरु के लंगर को भी आध्यात्मिकता का समाजीकरण कहा जा सकता है -- जिसे हम भक्तिकाल की विशेषता गिना चुके हैं। देश के अन्य भागों में भक्तिकाल के अन्य सन्तों ने इससे मिलती - जुलती अन्य परम्पराएं चलाई थी। बहुत हो, तो उस युग में हिन्दुत्व के जैसे विभिन्न संस्करण अपने अपने प्रदेशों की विशिष्ट परम्पराओं का समन्वय करते हुए चल रहे थे, गुरु नानक के मत को वैसे ही पंजाब के हिन्दुत्व का नवीन संस्करण कहा जा सकता है।

हिन्दू न मुसलमान

गुरु नानक पूर्वजन्म के कोई महान् आत्मा थे। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों की निन्दा भी एक मिशनरी सुधारक के रूप में नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक सन्त के नाते की। इसीलिए उनके उपदेश दिमाग के बजाय दिल को अधिक छूते थे और हिन्दू मुसलमान सभी को आकर्षित करते थे। अपना कोई अलग सम्प्रदाय कायम करने की बात उनके मन में नहीं थी, न ही अपनी वाणी को किसी ग्रन्थ में कैद करने की उनकी मंशा थी। १५३९ में उनके ब्रह्मलीन होने के ६५ वर्ष पश्चात् गुरु ग्रन्थ साहब का संकलन हुआ - पांचवें गुरु अर्जुनदेव के समय। बीच के तीन गुरुओं ने इस तरह की बात सोची भी नहीं थी। जैसे बाइबिल और कुरान का संकलन हजरत ईसामसीह और मुहम्मद साहब ने नहीं किया, वैसे ही गुरु ग्रन्थ साहब का संकलन भी नानकदेव जी ने नहीं किया। महात्मा बुद्ध की वाणी का भी संकलन उनके महा-परिनिर्वाण के अनेक वर्षों बाद हुआ था।

फिर भी गुरु नानक ने अपने आपको हिन्दू या मुसलमान कहने से परहेज किया। उनका कहना था –

> हिन्दू कहूं तो मारिया, मुसलमान मैं नाउं ।
> पंच तत्व का पूतला नानक मेरा नाउं ।

इसमें सन्त-सुलभ आध्यात्मिकता की तथा सबसे ऊपर मानवता की प्रतिष्ठा की बात ही अधिक थी। क्योंकि मानवता हिन्दू-मुसलमान दोनों से ऊपर है। पर एक राजनीतिक मसलहत भी थी। तभी तो कहा – 'हिन्दू कहूँ तो मारिया' – अगर मैं अपने आपको हिन्दू कहूं तो मुसलमान मुझे मारेंगे, क्योंकि उनकी हकूमत है, पर मुसलमान मैं हूं नहीं, मैं तो केवल पंचतत्व का पुतला हूँ। यों इसमें भी

जहां मुसलमान होने का स्पष्ट खंडन है वहां सर्व-धर्म-समभाव वाली हिन्दुत्व की प्राचीन परम्परा ही झलकती है।

भक्तिकाल के सन्तों के अलावा उस समय के सूफी भी इसी प्रकार का प्रचार करते थे। आक्रमणकारी मुसलमानों के साथ जब हिन्दू धर्म की उदारता का मेल हुआ, तब ऐसा होना अनिवार्य था। औरंगजेब के भाई दारा शिकोह ने इसी मनोवृत्ति के वशीभूत होकर कश्मीर के पंडितों से संस्कृत पढ़ी थी और उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया था। अकबर भी 'दीने हलाही' का उपासक इसीलिए बना था।

उसी काल में सन्त सरमद सूफी हुआ जिसकी समाधि दिल्ली में जामा मस्जिद के पास बनी हुई है। उसका अपराध इतना ही था कि वह मुसलमान होकर भी नमाज नहीं पढ़ता था। मुल्ला-मौलवी उसे काफिर कहते थे। तब सरमद ने कहा था –

बुतपरस्तम काफिरम अज अहलो ईमाने स्तम।

– हां, मैं काफिर हूँ, मुझे बुत परस्त भी कह लो, तुम सब लोगों का ईमान मेरा ईमान नहीं है। तब मुल्लाओं ने कहा –"इसीलिए तुम्हारी यह दुर्गति है-न तन पर कपड़ा है, न खाने को रोटी।" तब सरमद ने अपने सूफियाने अंदाज में गर्दन तान कर कहा था –

शाहे शाहेनम जाहिद च तो डरिया नेस्तम।
जौको-शौके शोरिशम लेकिन परीशां नेस्तम॥

– तुम मुझे भूखा–नंगा समझते हो ? मैं तो आन्तरिक समृद्धि से सम्पन्न हूं। मैं तो अपने आपको जौक और शौक में शहंशाह समझता हूं, इसलिए मैं परेशान भी नहीं हूं।

सरमद पहले कलमा भी पढ़ते थे, कुरान भी, नमाज भी और मस्जिद में अजान भी देते थे। एक दिन अचानक क्या करिश्मा हुआ कि उन्होंने इस्लाम से तौबा कर ली और हिन्दुओं की तथा राम - लक्ष्मण की प्रशंसा करने लगे। किसी ने उनसे पूछा –

आखिर के खता दीदीं अल्लाहो रसूल।
सरगुफ्ता मुरीद लछमनो - राम शुदी॥

–"ऐ सरमद। तुमने अल्लाह और रसूल में क्या कमी देखी जो राम और लक्ष्मण के प्रशंसक बन गए।" पर सरमद अपने में मस्त रहे। वे जामा मस्जिद के पास के इलाके में ही फारसी में राम-लक्ष्मण के गीत गाने लगे। तब काजी ने उन्हें 'दुश्मनाने खुदा' और 'दुश्मनाने इस्लाम' करार दिया। सरमद नें औरंगजेब को कभी आलमगीर तसलीम नहीं किया। काजी ने उन्हें सजा-ए-मौत का फतवा दिया। जल्लाद सरमद को जंजीरों से बांधकर वधस्थल पर ले गए और काजियों के सामने उन्हें कत्ल कर दिया।

जिस तरह गुरु तेग बहादुर हिन्दुत्व की रक्षा के लिए शहीद हो गए और 'हिन्द की चादर' कहलाए, उसी तरह फकीर सरमद की सूफीमत के लिए शहादत भी अविस्मरणीय है। यह भक्तिकाल की आध्यात्मिकता का नन्दा दीप है।

पांचवें गुरु अर्जुन देव ने जब सिखों को हिन्दू और मुसलमान से अलग स्वतंत्र समुदाय का दर्जा दिया था, तब उसमें भी भक्तिकाल वाली आध्यात्मिकता की पुट ही अधिक थी, अलगाव की नहीं। गुरु अर्जुन देव ने कहा था –

मैं हिन्दुओं के व्रत उपवास नहीं करता, न मुसलमानों की तरह रमजान का रोजा रखता हूं। मैं तो उसी एक की सेवा करता हूं, वही एक मेरी शरण है। मेरा एक ही मालिक है, वही अल्लाह है। मैंने मुस्लिम और हिन्दू दोनों से नाता तोड़ लिया है। न मैं हिन्दू के साथ मूर्ति पूजा करूंगा, न ही मुसलमान के साथ

मक्का जाऊंगा । मैं केवल उसी का हुक्म बजाऊंगा, किसी और का नहीं । न मैं मूर्तियों की आरती करूंगा, न मुसलमानों की नमाज पढ़ूंगा । मैं तो उसी सर्वशक्तिमान प्रभु के चरणों में अपना हृदय अर्पित करूंगा । क्योंकि हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान ।

इस कथन में वही सरमद वाली सूफी मत की आध्यात्मिकता का देदीप्यमान तेज है, या अलगाव का बेसुरा राग ?

जब शब्दों के पीछे छिपे आध्यात्मिक मर्म को पकड़ने की शक्ति कम हो गई और मैकालिफ की माया से प्रभावित भाई काहन सिंह के 'हम हिन्दू नहीं' के प्रचार ने जोर पकड़ा, तब इन्हीं शब्दों को लेकर विशुद्ध दुनियावी और अलगाववादी अर्थ निकाले जाने लगे और इन्हीं के आधार पर सिखों को अलग कौम और अलग राष्ट्र घोषित किया जाने लगा । पर इसके लिए जो तर्क दिये गए, वे बड़े लचर थे । डा. शेर सिंह 'गुरमत दर्शन' (पृष्ठ ४९ - ५०) में लिखते हैं --

"श्री गुरु नानक देव के प्रचार को हिन्दू धर्म के प्रचार का ही एक नया रूप बताया गया और गुरु जी को एक हिन्दू दार्शनिक की पदवी दी गई । परन्तु गुरु जी का भारतवर्ष के बाहर जाकर देश - देशान्तर में, जहाँ बौद्ध धर्म के सिवाय इस्लाम, ईसाइयत, यहूदी तथा पारसी आदि धर्मों का भी जोर था, प्रचार करना सिद्ध करता है कि वे हिन्दू धर्म के घेरे से बाहर निकल कर उसकी सीमा को पार कर गए थे ।"

नानक विदेशों में धर्म प्रचार करने के कारण हिन्दू धर्म के घेरे के बाहर हो गए, यह विचित्र तर्क है । हिन्दू धर्म तो स्वयं बौद्ध धर्म और सिख धर्म से बहुत पहले विदेश हो आया था । पूर्वी एशिया में स्याम, अनाम, जावा, कम्बोडिया, मलाया, वियतनाम आदि में राज्य किसने स्थापित किए थे ? हिन्दुओं ने ही तो । इसके प्रमाण आज भी वहां विद्यमान हैं । अंगकोरवाट और बोरो बुदूर के मंदिर, बाली में अभी तक शैव धर्म की विद्यमानता और अनेकानेक संस्कृत शिलालेख, क्या हिन्दू धर्म से बाहर होने की कहानी कहते हैं ? स्वामी विवेकानन्द अमरीकामें प्रचार करने गए, तो क्या उनको हिन्दू धर्म से बाहर जाने की आवश्यकता पड़ी ? आज भी यदि रामकृष्ण परमहंस के अनुयायी स्वामी रंगनाथानन्द, या स्वामी चिन्मयानन्द, या महेश योगी या ऐसे ही अन्य प्रचारक विदेश में प्रचार करते हैं, तो क्या इसी कारण वे हिन्दू धर्म के घेरे से बाहर हो जाते हैं ? फिर गुरु नानक के सिवाय अन्य नौ गुरु तो विदेश नहीं गए, उनको हिन्दू धर्म के घेरे के बाहर किस तर्क के आधार पर मानोगे ?

गुरु नानक सच्चे मुसलमान ?

हिन्दू धर्म से अलग होने की झोंक में डा. शेर सिंह इतने आगे बढ़ गए कि उन्होंने अहमदिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी की 'सत्यवचन' नामक पुस्तक से यह अंश भी उद्धृत किया है –

"बाबा नानक हिन्दुओं के सब ऋषियों, मुनियों, अवतारों, गुरुओं तथा पीरों से बहुत ऊँचे थे । उनकी वाणी में जो सैद्धान्तिक सचाइयां मिलती है वे किसी भी हिन्दू वेदशास्त्र या पुराण आदि पुस्तक में नहीं हैं । गुरुग्रन्थ साहब कुरान शरीफ की ही व्याख्या तथा विस्तार है और बाबा नानक एक सच्चे मुसलमान थे । गुरवाणी में सब कुरान शरीफ वाली बातें हैं ।"

अफसोस ! सख्त अफ़सोस !! कादियानियों को पाकिस्तान ने मुसलमान मानने से इन्कार कर दिया, उनको मस्जिदों में नमाज पढ़ने से वंचित कर दिया और हजरत मुहम्मद साहिब को आखिरी पैगम्बर न मानने के अपराध में पाकिस्तान में उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक बना दिया, और उन्हीं

कादियानियों के गुरु के उद्धरण से डाक्टर साहब गुरु नानक को मुसलमान बनाने पर सहमत हो रहे हैं। अब गुरु नानक का 'मुसलमान मैं नाहिं ...' वाला वचन कहां गया?

स्वयं डा. शेर सिंह भी मानते हैं कि गुरु ग्रन्थ साहिब में पहले पांच गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त नवम और दशम गुरु की वाणी भी संकलित है। (जब पांचवे गुरु अर्जुनदेव ने गुरु ग्रंथ साहिब को अन्तिम रूप दे दिया, उसके श्लोकों की संख्या लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दिये, तब नवम और दशमगुरु की वाणी उसमें कैसे जुड़ गई?) उनके अतिरिक्त जय देव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सधना, रामानन्द, पीपा, कबीर, रविदास, धन्ना, फरीद, भीखण, सूरदास और मीरा बाई आदि भक्त कवियों की वाणी भी संकलित है। इनके अलावा १७ भाटों के प्रशस्तिगान् और बाबा सुंदर, मरदाना, सन्ता तथा बलवंड के शब्द भी संकलित हुए हैं। क्या हिन्दू भक्त कवि और हिन्दू भाट सब के सब कुरानशरीफ की व्याख्या कर रहे थे?

जब मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी गुरु नानक को मुसलमान सिद्ध करने में लगे हुए थे और डा. शेर सिंह जैसे अलगाववादी मनीषी उसे मीठी घूंट की तरह पी रहे थे, तब अमर शहीद रक्तसाक्षी पं. लेखराम जीवित थे। किसी सिख ने कादियानियों का कोई विरोध नहीं किया, पर हिन्दू जाति के अस्तित्व की रक्षा के लिए सिख - गुरुओं के समान ही अपना तन - मन - धन न्यौछावर करने को उद्यत आर्यनेताओं में अग्रणी पं. लेख राम इसे कैसे सहन कर लेते। उन्होंने फिरोजपुर शहर में स्वयं मुनादी की कि आज रात को गुरु नानक की हकीकत बयान की जाएगी। कादियानी की किताब से आम सिख और खास तौर से फौजी सिख बड़े परेशान थे। उन सबके मन डांवाडोल थे – अगर गुरु नानक मुसलमान थे तो हम सब अपने आपको उनका शिष्य कहने वाले सारे सिख स्वयं मुसलमान हो गए।

रात को सार्वजनिक सभा हुई। उसमें पं. लेखराम ने गुरु नानक को हिन्दू सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की झड़ी लगा दी और मिर्जा गुलाम अहमद के तर्कों के ऐसे धुर्रे उड़ाए कि सारी जनता स्तब्ध रह गई। लेखराम जी कुरान के भी आलिम फाजिल थे। बिना प्रमाण के कभी कोई बात कहते नहीं थे। न ज़ाने कहां-कहां से प्रमाण खोज - खोजकर लाते थे। उनके भाषण में फौजी सिख भारी संख्या में आए थे। पं. लेखराम के व्याख्यान से उन सबके मन के संशय मिट गए, वे गद्गद् हो गए। ज्यों ही पं. लेखराम व्याख्यान देकर मंच से नीचे उतरे, उन फौजी सिखों ने उन्हें कंधे पर उठा लिया और हर्ष - विभोर होकर देर तक जयकारे लगाते रहे।

एक आर्यनेता ने सर्वथा निःस्वार्थ भाव से कितने बड़े षड्यंत्र को ध्वस्त कर दिया, यह आज के अलगाववादी क्या जानें!

अवान्तर होते हुए भी यहीं एक और प्रसंग का उल्लेख कर देना भी अनुचित नहीं होगा। सिखों और हिन्दुओं में दरार डालने के लिए आर्य समाज को बदनाम करने वालों के लिए भी यह अच्छा उत्तर हो सकता है।

एक बार सुशिक्षित सिखों में ही इस विषय पर विवाद चला कि दार्शनिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म का स्वरूप क्या है? ये दोनों एक हैं या अलग - अलग हैं। स्वर्ण मंदिर के ग्रंथियों के पास भी यह प्रश्न गया। वे भी अपेक्षित विद्वत्ता के अभाव में इसका कोई सही समाधान नहीं कर सके। उन्होंने सोचा कि किसी आर्य विद्वान को, जो हिन्दू दर्शनों तथा अन्य शास्त्रों का पंडित हो, बुलाकर स्वर्ण मंदिर में उक्त विषय पर उसके प्रवचन करवाये जाएं। तब उनका ध्यान डी.ए.वी. कालिज लाहौर में संस्कृत के प्रोफेसर और अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि जी

की ओर गया। महात्मा हंसराज की तरह वे भी दाढ़ी रखते थे, बड़ी सादगी से रहते थे और पगड़ी बांधते थे। स्वर्ण मंदिर में लगातार एक सप्ताह तक (सितम्बर, १८८७ ई. में) पं. आर्यमुनि के उस गहन दार्शनिक विषय पर व्याख्यान हुए और तब सिख विद्वानों के मन की गुत्थी सुलझी। उसके बाद भी जब किसी दार्शनिक विषय पर सिखों के मन में जिज्ञासा होती, तो वे स्वर्ण मंदिर में आर्य विद्वानों को बुलाकर उनके व्याख्यान करवाया करते। पर यह अलगाव की आंधी चलने से पहले की बात है।

आज के अलगाववादी सिख क्या इस बात पर विश्वास करेंगे कि महाराजा रणजीत सिंह के पौत्र जंगजोध सिंह ने आर्य-समाज स्यालकोट के लिए भूमि दान में दी थी? हम हिन्दू नहीं – यह कहते-कहते किस प्रकार सिख बन्धु हिन्दुओं के बजाय मुसलमानों के साथ तालमेल बिठाने लगे और गुरु नानक तक को मुसलमान सिद्ध करने पर उनकी अन्तरात्मा को कोई ठेस नहीं लगी। सूफी फकीर मियां मीर को आदर सहित लाहौर से पालकी में बिठाकर अमृतसर लाने और उनसे स्वर्ण मंदिर की आधार शिला रखवाने को भी इसी मनोवृत्ति के समर्थन में पेश किया गया। पर हम कह चुके हैं कि सूफी सन्त साम्प्रदायिकता से सर्वथा दूर, अध्यात्म के स्तर पर मानव मात्र की एकता के उपासक, समाज के वैसे ही उज्ज्वल नक्षत्र हैं जैसे भक्तिकाल के अन्य कवि। उनके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं – गुरु नानक। पर बाद के अलगाववादियों में आध्यात्मिकता के बजाय संकीर्ण स्वार्थमयी साम्प्रदायिकता प्रधान हो गई। इसी मनोवृत्ति ने जामा मस्जिद के इमाम शाह अब्दुल्ला बुखारी को आनन्दपुर बुलाकर उनकी उपस्थिति में पृथक् स्वायत्त राज्य का प्रस्ताव पास करवाया और मुसलमानों (तथा पाकिस्तान) के सहयोग से अपने इस मंसूबे को पूरा करने के लिए सम्मिलित मोर्चा बनानें को उकसाया। हिन्दू - विरोधी से बढ़ते - बढ़ते यह मनोवृत्ति कैसे राष्ट्र - विरोधी बनती गई, यह भी दर्शनीय है।

हिन्दू-विरोधी से राष्ट्र विरोधी

जालंधर के लायलपुर खालसा कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री प्रीतमसिंह गिल 'हेरिटेज आफ सिख कल्चर' में लिखते हैं–

"सिखों की अपनी अलग संस्कृति है, जो शेष भारत में रहने वाले अन्य सब लोगों से सर्वथा अलग है। उनके धार्मिक विश्वास भिन्न हैं, उनकी विरासत भिन्न है, उनकी संस्कृति भिन्न है।"

"भारत में, विभाजन के बाद नए भारत में, राष्ट्रीयता का विचार हिन्दुओं के मन में वही रहा है क्योंकि उन्होंने अब भी भाषा को धर्म के साथ जोड़ रखा है। हिन्दी सब हिन्दुओं की भाषा मानी जाती है चाहे वे किसी भी प्रदेश के निवासी क्यों न हों। उनके लिए हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपना धर्म, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति अल्पसंख्यकों पर थोपना चाहते हैं। वे उन सबकी संस्कृतियों को नष्ट कर भारत को केवल एक संस्कृति का राज्य बनाना चाहते हैं। भारत में कभी एक संस्कृति नहीं रही, किन्तु विभाजन के बाद यह प्रवृत्ति रही है। राष्ट्रीयता को हिन्दी, हिन्दुत्व और हिन्दू संस्कृति के साथ नत्थी कर दिया गया है। निश्चय ही इससे विद्रोह की स्थिति पैदा होगी और देश का और विघटन होगा। भाषा, धर्म और संस्कृति की एकता की राष्ट्रीयता की पुरानी परिभाषा वर्तमान परिस्थितियों में नहीं चल सकती। भारत बहुभाषीय, बहुधर्मीय, बहुजातीय और

बहु-संस्कृतियों वाला देश है, इसलिए राष्ट्रीयता की एक नई समन्वित परिभाषा तैयार करनी पड़ेगी। देश के सामने यह समस्या है......

"सिखों का अपना इतिहास है, उनका अपना घर है, अपनी परम्पराएं हैं, सुविकसित भाषा है, अपना धर्म है, उनका खास समाज है, नैतिकता है और सौन्दर्यबोध है। इस प्रकार उनकी एक अलग संस्कृति है, जिसकी वे रक्षा करना चाहते हैं.......

"सिख हिन्दू राष्ट्रवाद के शिकार हुए हैं। भारत को बेशक स्वतंत्रता मिली, सिखों को नहीं। हिन्दू एक शत्रु - देश को छोड़कर अपने भाई - बंदों के देश में आ गए। यही बात मुसलमानों के साथ हुई। परन्तु सिखों ने एक शत्रुदेश को छोड़कर दूसरे शत्रुदेश में प्रवेश किया। वे कड़ाही से भट्टी में गिर पड़े। उन्हें दो बुराइयों में से एक को चुनना था।.......

"भाषा को मारो, संस्कृति को मारो, समुदाय को मारो – हिन्दुओं की यही तिहरी कूटनीति है। इससे भारत एक - भाषा, एक - धर्म और एक - संस्कृति वाला देश बन जाएगा – यही वे चाहते हैं। हिन्दू राष्ट्रवादियों का यही स्वप्न है।.....कोई भी ऐसा अहिन्दी भाषी व्यक्ति जो हिन्दी को अपनी मातृभाषा घोषित कर दे, 'हीरो' बन जाता है। यह बड़ा सीधा तरीका है, केवल थोड़ा सा झूठ बोलने की जरूरत है। पंजाब के पंजाबी - भाषी क्षेत्र के हिन्दुओं ने सामूहिक रूप से झूठ बोला, जब १९५१ की जनगणना में उन सबने मिलकर घोषणा की कि उनकी मातृभाषा हिन्दी है, पंजाबी नहीं। .....परिणामस्वरूप सन् १९६६ तक पंजाबी को पूर्णतया सरकारी और प्रशासनिक दर्जा नहीं मिल पाया और पंजाब के पुनर्गठन के बाद भी उसे केवल आधे दिल से स्वीकार किया जा रहा है ताकि अन्त में वह समाप्त हो जावे। हर कदम पर उसे पंजाबी के साथ खड़ा करने की कोशिश की जाती है। यह स्थिति उस प्रादेशिक भाषा के साथ है जिसे संविधान में मान्यता प्राप्त है। प्रशासन के माध्यम के रूप में पंजाबी के संबंध में यह बात है।

"जहां तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, उसे नष्ट करने का संगठित प्रयत्न किया जाता है। सब हिन्दू संस्थाएं हिन्दी को माध्यम स्वीकार करती हैं, केवल सिख संस्थाएं ही पंजाबी को अपनाती हैं। सरकारी शिक्षा संस्थाओं में छोटे पैमाने पर विभाजन है – हिन्दी भाषी छात्रों के समुदाय और पंजाबी - भाषी छात्रों के समुदाय के रूप में। पहले में हिन्दू प्रमुख हैं, दूसरे में सिख। यह विभाजन हिन्दुओं ने किया है, सिखों ने नहीं। ......

"समस्या का मूल यह है कि हिन्दू किसी भी प्रान्त में किसी अन्य समुदाय का प्रभुत्व नहीं चाहते, क्योंकि वे प्रशासक जाति के हैं। .....वे पहले हिन्दू हैं, बाद में भारतीय। सांस्कृतिक इकाइयां उनकी 'वोटिंग पावर' की दया पर रहती हैं। इसीलिए वे किसी ऐसे उपाय की खोज में हैं जिससे वे अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकें : वे विलुप्त नहीं होना चाहतीं। अपनी संस्कृतियों की रक्षा के लिए उन्हें संरक्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार दो स्पष्ट प्रवृत्तियां हैं – केन्द्रानुसारी और केन्द्रापसारी (सेण्ट्रीपीटल और सेण्ट्रीफ्यूगल)। यह संघर्ष तब तक रहेगा जब तक भारत अतीत में जीता रहेगा, खासतौर से बहुसंख्यक समाज। अब बहुसंख्यक समाज के अधिकारों को कोई खतरा नहीं है। इसलिए उनके रवैये के विरुद्ध अल्पसंख्यक समाज में प्रतिक्रिया होती है। यह जीवन-मरण का प्रश्न है। इसलिए अब यह बहुसंख्यक समाज का काम है कि वह अपनी राष्ट्रीयता की धारणा बदले, न कि अल्पसंख्यक समुदाय की।"

इसके बाद श्री गिल ने यह दिखाने के लिए कि सिखों को हिन्दू न समझा जाए, काफी लम्बी बहस की है। यद्यपि उन्होंने अलग राज्य की बात तो नहीं की, परन्तु उनका युक्तिक्रम इस प्रकार है –

"यह कहना बेकार है कि भारत की एक संस्कृति है। विभिन्नता मौजूद है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर कुछ लोग कहते हैं कि इस विभिन्नता में भी एकता है। यह सिवाय आत्मप्रवंचना के कुछ नहीं है और कुछ लोगों का दूषित चिन्तन मात्र है।

हिन्दुओं, जैनियों, बौद्धों, मुसलमानों, सिख, और पारसियों की धार्मिक शिक्षाओं में कोई समानता है? नहीं, उनकी मूल बातों में ही अन्तर है।

क्या भाषा, नस्ल और विरासत में कोई एकता है? नहीं।

अपने धर्म के बाहर कितने लोग विवाह करते है? वे उंगलियों पर गिने जा सकते है।

अछूत समझे जाने वाले कितने लोग हैं? लाखों।

क्या भोजन और पोशाक के सम्बन्ध में उन्होंने पूर्वाग्रह छोड़ दिए हैं? नहीं।

कितने लोग दूसरे दर्जे के नागरिक समझे जाते हैं? बहुसंख्यक समाज बता सकता है।

भारत न कभी एक था, न कभी एक हो सकता है और इसलिए न कभी एक होना चाहिए।"

भारत के राष्ट्रवाद पर, उसकी सांस्कृतिक एकता पर और हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान पर इससे कड़ा प्रहार शायद नहीं किया जा सकता? श्री गिल के एक-एक नुक्ते पर यहां बहस करना व्यर्थ है, परन्तु 'हम हिन्दू नहीं' कहते - कहते वे एक तरह से 'हम भारतीय नहीं' कहने पर आमादा हो गए हैं। यह जहां आजकल के अलगाववादी सिखों की गलत मानसिकता का निदर्शन है, वहां इतिहास के गलत अध्ययन के साथ उसे गलत रूप से पेश करना भी है।

नया इतिहास

गिल की तरह कुछ अन्य सिख बुद्धिजीवी भी हैं जो इसी प्रकार की मानसिकता को इतिहास-सम्मत सिद्ध करने के लिए नए सिरे से इतिहास लिख रहे हैं। 'इण्डियन एक्सप्रेस' में छपे श्री दुग्गल के एक लेख के अनुसार जो नया इतिहास तैयार किया जा रहा है उसके अनुसार गांधी और नेहरू राष्ट्रीय नेता नहीं, हिन्दू नेता हैं जो धोखाघड़ी में पारंगत थे और जिन्होंने सिखों के साथ विश्वासघात किया था। इस नए इतिहास के अनुसार जिन्ना एक दूरदर्शी नेता थे और उनके शब्दों में भविष्यवाणी जैसा ओज था। इस तथाकथित नए इतिहास में भाई मति दास से लेकर वीर वैरागी और भगत सिंह जैसे व्यक्तियों को उनकी मृत्यु के पश्चात ही शामिल किया गया है, जैसे उनके जीवन का राष्ट्रीय इतिहास में कोई स्थान न हो। इस इतिहास में कहा गया है कि १९४६ में सर्वप्रभुत्व सम्पन्न सिख राज्य प्राप्त न करने के कारण एक स्वर्णिम अवसर खो दिया क्योंकि जिन्ना के प्रलोभनों को बिना किसी वैध कारण के ठुकरा दिया गया था। ब्रिटेन के गुप्तचर विभाग और कैबिनेट मिशन की रिपोर्ट में सिखों को अलग राज्य देने की बात का उल्लेख है। (इन सिख इतिहासकारों के सिवाय किसी अन्य इतिहास लेखक को यह बात मालूम नहीं है।) इस इतिहास के अनुसार १९४७ में आजादी नहीं मिली, बल्कि सिखों का एक कटु और दीर्घकालीन संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस इतिहास के अनुसार, भारतीय संविधान में स्वतंत्रता, न्याय और सम्प्रदाय-निरपेक्षता के नाम पर सिखों से साथ विश्वासघात किया गया है। साझे आदर्शों, साझी विरासत और साझी संस्कृति का उल्लेख इस इतिहास के अनुसार सिखों का राजनीतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त करने का कुटिल प्रयास है ताकि उन्हें हिन्दू धर्म में शामिल किया जा सके।

जहां तक राष्ट्रीयता का प्रश्न है, हमारा कहना यह है कि वहां हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई

इत्यादि परिभाषाओं में सोचना ही गलत है। किसी भी राष्ट्र में केवल दो ही वर्ग हो सकते हैं–एक राष्ट्रभक्त और दूसरे अराष्ट्रभक्त। धर्मनिरपेक्ष देश में तो धर्म के आधार पर राजनीति चलाना और भी गलत है। आजादी से पहले अंग्रेजों ने धर्म को राजनीति के साथ जोड़ा कम्युनल एवार्ड के द्वारा, और कांग्रेस ने जोड़ा मुस्लिम तुष्टिकरण की खातिर खिलाफत आन्दोलन चला कर। तुर्की में खलीफा रहे या न रहे, इसके लिए भारत में आंदोलन करना सरासर बेतुकी बात थी, परन्तु सिर्फ मुसलमानों को किसी न किसी बहाने राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करने के लिए जब यह मुहिम चली, तब गांधी जी ने यह भी कहा कि आजादी के लिए हिन्दू मुस्लिम एकता जरूरी है। इस 'जरूरी' के नारे से मुसलमानों को अपनी अहमियत पता लगी और उन्होंने इस एकता के लिए कीमत वसूलनी शुरू कर दी। कांग्रेस और अंग्रेज बोली बढ़ाते गए और अन्त में जहां बोली समाप्त हुई–वहां देश को विभाजन का दुर्भाग्य झेलना पड़ा। सिखों ने भी अंग्रेजों के समय से ही बोली पर चढ़ना शुरू कर दिया था। अंग्रेजों के समय वह बोली पूरी नहीं हुई। देश के साथ गद्दारी करके भी जिन अंग्रेजों की चाकरी बजाई, जब उन आकाओं ने ही घास नहीं डाली, तो अब स्वतंत्र भारत में तो दूध के जले फूंक-फूंक कर छाछ पीयेंगे ही।

हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान

हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान–इन तीन शब्दों के सम्बन्ध में भी बहुत भ्रम है। इन तीनों शब्दों को ही साम्प्रदायिकता के साथ जोड़ दिया गया है और तीनों के बीच में पड़ा, दोनों तरफ अपनी छाया फेंकने वाला, 'हिन्दू' शब्द भी धर्म के साथ जुड़कर बहुसंख्यक सम्प्रदाय का ही वाचक बन गया है। परन्तु अन्य धर्मों के समान हिन्दू धर्म की क्या कोई परिभाषा हो सकती है? इस्लाम या ईसाईयत की तरह क्या यह किसी एक पैगम्बर से (जो प्रकारान्तर से अवतार का ही दूसरा रूप है), एक ग्रन्थ से, एक विचार - पद्धति से और एक उपासना पद्धति से जुड़ा है? क्या इसके सर्वस्वीकृत दार्शनिक चिन्तन की कोई एक रूप रेखा है? 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत जितने वर्ग और सम्प्रदाय हैं, क्या उनकी कोई एक धार्मिक संहिता, आचार संहिता और नीति संहिता है? धार्मिक स्तर पर ये सम्प्रदाय अनेक स्तरों पर परस्पर विरोधी ही अधिक हैं। मुस्लिम काल से बहुत पहले इनमें परस्पर मुठभेड़ भी होती रही है। परन्तु जिसे हम भारतीय संस्कृति की विशेषता कहते हैं वह यह है कि इतने अन्तर्विरोधों के बावजूद उसकी जीवनी-शक्ति अदम्य है, अक्षय है। उसकी उदारता, सहिष्णुता, सर्वधर्म समभाव की प्रवृत्ति और विचार - स्वातंत्र्य की छूट उसे संगठनात्मक रूप से भले ही कभी एक और दृढ़ न होने दे, इसे उसकी दुर्बलता कह लीजिये, पर यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। यही उसके चिर - जीवन का रहस्य है।

कुछ उदाहरण लीजिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी में "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" – यह एक सूत्र है। जिनका आपस में सदा विरोध रहता है उनका उदाहरण दिया है – 'काकोलूकयोः' 'ब्राह्मण-श्रमणयोः'–अर्थात् कौए और उल्लू की आपस में कभी नहीं बनती, वैसे ही ब्राह्मण और श्रमण की आपस में कभी नहीं बनती – उनका शाश्वत विरोध है। (श्रमण – बौद्ध भिक्षु)। परन्तु इतिहास साक्षी है कि कालान्तर में वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण और बौद्ध धर्मावलम्बी श्रमण प्रेमपूर्वक साथ - साथ रहे और आज भी रह रहे हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं को उनके ग्रन्थों में आदेश था – 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मंदिरम्' – हाथी पीछा कर रहा हो तो भी प्राण रक्षा के

लिए जैन मंदिर में नहीं जानी चाहिए। परन्तु यहां भी इतिहास साक्षी है कि हिन्दुओं और जैनों में कभी विरोध बेशक रहा, परन्तु धीरे - धीरे भौगोलिक परिवेश और साहचर्य ने उन्हें सौहार्दपूर्वक साथ-साथ रहना सिखाया। सम्राट अशोक सदा अपने नाम के साथ 'देवानां प्रिय' (देवताओं का प्यारा) विशेषण लगाया करते थे, परन्तु अमर कोषकार जैन विद्वान अमर सिंह ने उसका अर्थ 'मूर्ख' कर दिया। यह अर्थ उस काल का द्योतक है जब जैनों और बौद्धों में परस्पर संघर्ष था। पर बाद में जैन और बौद्ध भी परस्पर प्रीतिपूर्वक रहे और आज भी रहते हैं।

जब साथ रहना ही है, तो प्रेम से रहो, यही सांस्कृतिक विकासशील चेतना हमें विरासत में मिली है। इसी का नाम हिन्दुत्व है। इसी चेतना के फलस्वरूप यहां हिन्दुओं के परस्पर - विरोधी सम्प्रदायों ने ही सौहार्दपूर्वक जीना नहीं सीखा, बल्कि यहूदियों, पारसियों, ईसाइयों और मुसलमानों तक के साथ – जो बाहर से आए थे, सौहार्दपूर्वक साथ रहने का आदर्श उपस्थित करके एक नए जीवन दर्शन को जन्म दिया। उसी जीवन - दर्शन का नाम 'हिन्दू' है।

कुछ विद्वानों ने वैदिक धर्म को हिन्दू धर्म से अभिन्न स्वीकार किया है। पर सत्य यह है कि वैदिक, शैव, वैष्णव तथा अन्य परम्पराओं ने मिलकर जिस पौराणिक धर्म की सृष्टि की है, वही हिन्दू धर्म है। जैसे जैन और बौद्ध इसके अंग हैं, वैसे ही सिख भी। सच तो यह है कि धर्म के आधार पर हिन्दू शब्द की समाधानपरक व्याख्या अभी तक नहीं हो पाई। हां एक व्याख्या हो सकती है, और वह यह कि 'हिन्दू' ऐसे सम्प्रदायों, वर्गों, जातियों का संघबद्ध रूप है जिनकी निष्ठा इस देश के साथ जुड़ी है। इसी भूखण्ड से जुड़कर 'हिन्दू' ने एक सामूहिक चेतना का विकास किया। इसलिए 'हिन्दू' एक धार्मिक नहीं, भौगोलिक परिभाषा है।

इस मान्यता की पुष्टि भारत के बाहर के देशों में प्रचलित धारणाओं से होती है। अरब देशों में तो भारत से जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भले ही वह मुसलमान हो, हिन्दी या हिन्दू कहते ही हैं, चीन में भी लोग हिन्दू को धर्म नहीं मानते, देश ही मानते हैं। भारतीय मुसलमानों को अरब देशों में अपने-आपको हिन्दी या हिन्दू कहे जाने पर आपत्ति नहीं होती, किन्तु भारत में हिन्दू कहे जाने पर वे आपत्ति करते हैं। अब वैसी ही आपत्ति सिख भी करने लगे हैं। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि डा. एनी बीसेण्ट के कथनानुसार भारत और हिन्दू पर्यायवाची क्यों हैं और जो सिख अपने आपको हिन्दू कहने को तैयार नहीं वे किस तरह और क्यों हिन्दू का विरोध करते - करते भारत का विरोध करने लग गए।

प्रारम्भ में पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों ने 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग भौगोलिक दृष्टि से ही किया था। जब वे इस भौगोलिक खण्ड में प्रविष्ट हुए, तो क्योंकि उनका अपना राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आचार-व्यवहार-परक सारा जीवन इस्लाम से ही संचालित होता था और उनके लिए इस्लाम किसी भौगोलिक परिभाषा का द्योतक नहीं था, तो बाद में उन्होंने 'हिन्दू' शब्द को धर्म के साथ भी जोड़ दिया। धर्म की कट्टरता से नियंत्रित उनकी चेतना और मनोवृत्ति इस रूप में प्रतिक्षिप्त हुई और 'हिन्दू' पर धर्म आरोपित हो गया। तब इस देश के लोग आक्रमणकारियों के लिए केवल राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं रहे, धार्मिक प्रतिद्वन्द्वी भी हो गए। विरोध की इस समग्रता के कारण उन्होंने शुरू से ही पृथकता पर पूरा बल दिया। तब से अब तक यह पृथक्ता बढ़ती ही चली गई। विदेशियों द्वारा इस भूखण्ड के निवासियों को 'हिन्दू' कहने के तथ्य को भी भुला दिया गया।

हिन्दू को धर्म माने जाने पर जब उसका भौगोलिक रूप धुंधला पड़ गया, तो आक्रमणकारियों

से निरन्तर पराजय का अभिशाप झेलते-झेलते अनेक हिन्दू सम्प्रदाय अपने आपको इस शब्द से असम्बद्ध घोषित करने लगे। तभी साधु-सन्तों ने तात्कालिक लाभ की दृष्टि से और पराजय की पीड़ा से बचने के लिए 'न मैं मुस्लिम, न मैं हिन्दू' कहना शुरू कर दिया—अर्थात् न मैं आक्रमणकारियों में शामिल हूं और न ही आक्रान्त और पीड़ित वर्ग में, मैं दोनों से अलग हूं। सूफियों और भक्त कवियों के मन में मानव मात्र की समानता का जो उच्च आदर्श था, उसके साथ इस तात्कालिक लाभ ने मिलकर न हिन्दू, न मुसलमान की मानसिकता को जन्म दिया। पराजय ने हिन्दू समाज में हीन भावना पैदा की थी। इस हीन-भावना से बचने के लिए, जिनका सम्पूर्ण अतीत हिन्दुओं से जुड़ा था और जिनके सुख-दुःख समान थे, वे एकाएक अपनी पृथक सत्ता मानने लगे और उनके पूर्वजों ने जिन आक्रमणकारियों से संघर्ष किया था उन्हीं के साथ वे अपने आपको जोड़ने लगे।

ब्रिटिशकाल में मानसिक दीनता और हीनता के अलावा दैहिक और रूपरंग की हीनता के बोध से ग्रस्त, पाश्चात्य सभ्यता को प्रगति की निशानी समझने वाले लोग भी हिन्दुत्व के अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए भारतीय सभ्यता, आचार-विचार और हिंदुत्व को कोसने में शान समझने लगे।

हिन्दू की आन्तरिक स्थिति यह थी कि कोई भी व्यक्ति शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि धर्म परिवर्तन करके भी हिन्दू ही रहता था, क्योंकि इस धर्म-परिवर्तन से उसका देश नहीं बदलता था। धर्म-परिवर्तन उसकी भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन नहीं करता था, वह इस देश से जुड़ा रहता था। मुस्लिम उन्माद ने इस स्थिति को बदल दिया। धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन जाने पर वह 'हिन्दू' नहीं रहा, अर्थात वह भारतीय नहीं रहा। इसीलिए मुसलमानों की देश निष्ठा का प्रश्न बारम्बार उठाया जाता है। अब अकाली आंदोलन ने भी वही स्थिति उत्पन्न कर दी है। हिन्दुत्व को नकारते-नकारते वे भारतीयता को और राष्ट्रीयता को ही नकारने लगे हैं।

यदि हम इस संपूर्ण भूखण्ड के निवासियों को 'हिन्दू' शब्द से सम्बोधित करते हैं, तो उनके पारस्परिक व्यवहार की भाषा, सम्पर्क भाषा के रूप में 'हिन्दी' को स्वीकार करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं है। इसलिए यह आपत्ति भी निरर्थक है कि 'हिन्दू' के साथ 'हिन्दी' को बांध रखना धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयता के विरुद्ध है, या सिख, मुसलमान या ईसाई हिन्दी भाषी नहीं हो सकता। हिन्दी से द्वेष भी वही करेगा जो अपनी पराजय की पीड़ा में हीनता बोध से अपने आपको हिन्दू या भारतीय कहने से कतराता है।

जब विघटनवादी तत्व हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान नारे को साम्प्रदायिक बताकर यह कहते हैं कि मराठीभाषी, पंजाबीभाषी, बंगलाभाषी या मलयालमभाषी हिन्दू होते हुए भी हिन्दी भाषी नहीं हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि हिन्दी के साथ इन सब भाषाओं की मूलभूत एकता है। अपनी भाषायी और धार्मिक संकीर्णता के कारण वे सम्पूर्ण देश की उस भाषायी एकता को चुनौती देते हैं जिसे स्थापित करने के लिए हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का नारा सार्थकता प्रदान करता है। इसलिए आवश्यकता राष्ट्रीयता की परिभाषा बदलने की नहीं है, बल्कि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान जैसे शब्दों के सही अर्थ को समझने की है।

महाराष्ट्र के मुख्य न्यायाधीश, भारत सरकार के पूर्व शिक्षामंत्री, स्व. मुहम्मद करीम छागला के निम्न कथन को कौन राष्ट्रवादी अस्वीकार करेगा—

"एकमात्र हिन्दू धर्म ही ऐसा है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी मैं सबसे अधिक प्रशंसा करता हू, सहिष्णुता है। इसमें कोई पोप नहीं है जो अपने अनुयायियों के लिए हुकमनामे (Bulls) जारी करता हो। इसमें सभी प्रकार के वैचारिक सम्प्रदायों का समावेश है। तुम चाहे आस्तिक हो,

चाहे नास्तिक हो, चाहे सन्देहवादी हो, फिर भी तुम हिन्दू हो। वास्तव में तो हिन्दू धर्म को धर्म या रिलीजन कहना ही गलत है। यह तो एक जीवन-विधि है, विचार पद्धति है। फ्रांसीसी लोग अपनी तर्क-बुद्धि और सूक्ष्म विश्लेषण के अर्न्तगत समस्त भारतीयों को, फिर चाहे वे किसी भी जाति या सम्प्रदाय के क्यों न हों, हिन्दू (L' Hindus) ही कहते हैं। मैं समझता हूँ कि जो इस देश में रहते हैं, इसे अपना घर समझते हैं, उनके लिए यही सही सम्बोधन है।

सच बात यह है कि हम सब हिन्दू हैं, भले ही हम भिन्न-भिन्न धर्मों, मजहबों या सम्प्रदायों के मानने वाले हों। मैं हिन्दू हूं, क्योंकि मैं अपने पूर्वजों को आर्यों की सन्तान मानता हूं और मैं उस संस्कृति तथा विचारधारा का पोषक हूं जिसे वे अपनी भावी पीढ़ियों के लिए विरासत के रूप में छोड़ गए हैं।"

१३

चूहों को मारने के लिए घर तोड़ा ?

इन्दिरा गांधी मुर्दाबाद । इन्दिरा गांधी मुर्दाबाद ।।

नई दिल्ली के विट्ठल भाई पटेल हाउस में, सैनिक कार्रवाई विरोधी समिति की ओर से एक मीटिंग बुलाई गई । मीटिंग के अध्यक्ष थे प्रसिद्ध पत्रकार श्री कुलदीप नैयर और वक्ताओं में थे – श्री तारकुण्डे, श्री सुरेन्द्रमोहन, जार्ज फर्नांडीज, सरदार खुशवन्त सिंह, प्रो. महीप सिंह और जसवन्त सिंह आदि । भीड़ इतनी कि सभागार में समा नही रही थी । आधे लोग दूसरे सभागार में ध्वनिविस्तारक यंत्र से वक्ता की केवल आवाज सुन रहे थे ।

सबसे अधिक जोशीला भाषण जार्ज फर्नांडीज का रहा । जब अपने भाषण के पंचम स्वर पर पहुंच कर उन्होंने सिखों के आहत स्वाभिमान के लिए एकमात्र दोषी इन्दिरा गांधी को ठहराया तो चारों ओर से 'इन्दिरा गांधी मुर्दावाद' के नारे लगने लगे । जार्ज फर्नांडीज के भाषण का युक्तिक्रम इस प्रकार था –

"सरदार खुशवन्त सिंह 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के सम्पादक थे, तो उन्होंने एक बार श्रीमती इन्दिरा गांधी से साक्षात्कार का विवरण छापा था । इस विवरण में लिखा था, कि मैंने जब इन्दिरा गांधी से पूछा कि आप में और आपके पिता पं. जवाहरलाल नेहरू में क्या अन्तर है, तब इन्दिरा जी ने जवाब दिया – 'नेहरू जी सन्त प्रकृति के व्यक्ति थे, वे भूल सकते थे और माफ भी कर सकते थे, पर मै न भूलती हूँ, न माफ करती हूँ (आइ नाइदर फोरगेट, नौर फोरगिव)' । अपने इसी स्वभाव के अनुसार इन्दिरा इस बात को नहीं भूल सकी कि अकालियों ने आपातकाल का विरोध किया था और उसके विरोध में स्वर्ण मन्दिर से सत्याग्रहियों के जत्थे भी भेजे थे । प्रधान मंत्री इस बात को नहीं भूल सकी, केवल इतना ही नहीं, बल्कि उसने इसके लिए सिखों को कभी माफ नहीं किया । उसी का बदला लेने के लिए वह भिंडरावाले और उसके साथियों को उकसाती रही, तीन साल तक उनकी गतिविधियों को अनदेखी करती रही, एक तरह से हलका जहर पिला कर बीमारी बढ़ाती रही और अन्त में सैनिक कार्रवाई करके सिखों के आपातकाल के रवैये का बदला ले लिया । इस सारे काण्ड के लिए दोषी भिंडरावाले या उग्रवादी नहीं, इन्दिरा गांधी है ।"

इस युक्तिक्रम की समाप्ति 'इन्दिरा गांधी मुर्दाबाद' के नारों से होनी ही थी । इसी प्रकार के अन्य अनेक राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी लोग हैं जो इस काण्ड के लिए एकमात्र जिम्मेवार इन्दिरा गांधी को मानते हैं और इसे उनका चुनाव जीतने के लिए एक करिश्मा मानते हैं ।

यह ठीक है कि इन्दिरा गांधी की एक अपनी कार्यशैली है। पहले वे ऐसा आभास देती हैं कि जैसे डर के मारे मांद में छिप गई हैं, किन्तु एकाएक बाघिन की तरह ऐसा झपट्टा मारती हैं कि शिकार को संभलने का मौका ही नहीं मिलता और वह चारों खाने चित जाता है। पर इस कार्यशैली को उनके तीन साल तक सतत षड्यंत्र की संज्ञा देना एक तरह से उन्हें भविष्यद्रष्टा और त्रिकालदर्शी बताना है। इन्दिरा चाहे कितनी ही दूरदर्शी कही जाए, किन्तु एकमात्र वे नियन्ता, नियामक या विधाता नहीं हैं। संसार की प्रत्येक घटना न तो उनसे पूछ कर होती है, न उनकी इच्छानुसार होती है। घटनाओं के घटित होने का अपना चक्र होता है। किसी महान् से महान् व्यक्ति को भी इतिहास कभी विश्वनियन्ता नहीं मान सकता। नहीं तो अपने-अपने समय में समुद्र और आकाश तक को अपना वशवर्ती समझने वाले सिकन्दर, चंगेजखां, नैपोलियन, नीरो, हिटलर और मुसोलिनी आज स्वयं 'इति ह आस' (ऐसा भी था) । न बन जाते।

किसी शायर ने लिखा था –

मगस से कह दो कि न जाये चमन में ।
वर्ना नाहक में खून परवानों का होगा ॥

– मधुमक्खी से कह दो कि वह बाग में न जाए, नहीं तो बिना बात के ही परवानों का खून हो जाएगा। श्रोताओं में से कोई भी जब मधुमक्खी के साथ परवानों के खून की संगति नहीं समझ सका, तब स्वयं शायर महोदय को समझाना पड़ा: "मधुमक्खी अगर बाग में जाएगी, तो फूलों से रस ग्रहण करेगी, रस लेकर उसका शहद बनाएगी, उस शहद को सुरक्षित रखने के लिए छत्ता बनाएगी। तब कोई शहद के लालच में उस छत्ते को तोड़ेगा। छत्ता टूटने पर जहां उसमें से शहद निकलेगा, वहां मोम भी निकलेगा। उस मोम से मोमबत्ती बनेगी। मोमबत्ती महफिल में शमा बनकर जलेगी, तो उस पर परवाने आएंगे और जल-जल कर मरते जाएंगे। इस प्रकार वह मधुमख्खी परवानों के खून का कारण बनेगी। इसलिए उससे कह दो कि वह चमन में न जाए ....। पंजाब की समस्या को इन्दिरा का षड्यंत्र बताने वाले ऐसी ही दूर की कौड़ी लाना चाहते हैं।

खालिस्तान की मांग नहीं की?

आश्चर्य की बात यह है कि कभी-कभी शिक्षित गैर-अकाली भी यह कहते देखे जाते हैं कि अकाली दल ने कभी खालिस्तान की या पृथक सिख राज्य की मांग नहीं की। हरचरण सिंह लोंगोवाल आखिरी दम तक ज़बान से यही कहते रहे कि हमारी मांग खालिस्तान की नहीं है। स्वयं भिंडरावाले भी कहते रहे कि मैं न खालिस्तान के पक्ष में हूँ, न विपक्ष में। पर यदि खालिस्तान मिल जाए तो मैं उसे स्वीकार कर लूँगा। पर ये सब अकाली नेता आनन्दपुर साहब प्रस्ताव को मानने पर बल देते रहे। उस प्रस्ताव में बेशक "खालिस्तान" का नाम नहीं आता, पर जिस तरह "उत्तर भारत में एक ऐसा स्वायत्त प्रदेश तुरन्त स्थापित किया जाना चाहिए, जहां सिखों के हितों को प्रमुख तथा विशेष महत्व के हितों के रूप में संवैधानिक मान्यता दी जाए।" या "सभी पंजाबी भाषी क्षेत्रों का विलय करके एक ऐसी प्रशासनिक इकाई बनाई जाए, जहां सिखों और सिख धर्म के हितों को विशेष संरक्षण मिल सके" – की बात कही गई है, उसका अर्थ सिवाय खालिस्तान के और कुछ नहीं होता। इसीलिए भारत सरकार बारंबार यह घोषणा करती है कि एक स्वायत्त राज्य में किसी दूसरे

स्वायत्त राज्य की मांग करने वाला प्रस्ताव उसे किसी हालत में स्वीकार नहीं। वह सीधा राष्ट्र के मूल पर और उसकी एकता पर कुठाराघात है।

पर इस अलग राज्य की कल्पना जिस अलगाव की मनोवृत्ति पर आधारित है, वह आंनन्दपुर साहब के प्रस्ताव से भी बहुत पहले की है। कुछ तो "राज करेगा खालसा" के नारे से उत्पन्न मिथ्याभिमान, कुछ 'सिखों का बोलबाला' की अहम्मन्यता और ऊपर से अंग्रेजों की शह – इन सबने मिला कर ऐसी मानसिकता तैयार कर दी जो कुछ लोगों को राष्ट्र की सम्मिलित धारा से निरन्तर काटती ही चली गई। सन् १९०० से पहले तक जनगणना में सिख अपने आपको हमेशा हिन्दू ही लिखवाते रहे। उसके बाद हिन्दुओं से अलगाव की बात क्या रूप ग्रहण करती गई यह देखने लायक है। सरदार मिहिर सिंह कानपुरी 'पुरख गुरु' में लिखते हैं –

> हिन्दुओं से अलग होने के जोश में सिखों ने सन् १९०० के लगभग 'बावे दी बेर' (स्यालकोट) में एक प्रस्ताव पास किया था – "हम हिन्दू नहीं। गाय का गोश्त न खाना भी हमने हिन्दूओं से सीखा है। सिखों को किसी भी गोश्त को खाने को मनाही नहीं है।" (पृष्ठ : २६९)

सिख हिन्दू नहीं है और उन्हें गाय का गोशत खाने की मनाही नहीं है – ये दोनों निर्णय महान् गुरुओं की भावना के सर्वथा विपरीत हैं, क्योंकि गुरु गोविन्द सिंह ने कहा है –

> मिटे कष्ट गउअन छुटे खेद भारी
> यही देहु आग्या तुरकन गहि खपाऊं
> गऊ घात का दोष जगत से मिटाऊँ।

(दशम गुरु ग्रन्थ साहिब)

क्या हिन्दुओं से अपने आपको अलग कहने वाले अकाली लोग गुरु नानक से लेकर श्री गुरु गोविन्द सिंह तक उनके इष्ट ओउम्, वेद-शास्त्र, योग, यज्ञ, यज्ञोपवीत, विक्रमी-संवत्, संक्रान्ति, पूर्णिमा, मुर्दों को जलाना, नमस्ते, श्रीराम और श्रीकृष्ण की स्तुति से लेकर दशम गुरु ग्रन्थ तक के अन्य उल्लेखों का परित्याग कर सकते हैं? दशम ग्रन्थ में दशमेश गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज ने अपने आपको श्रीराम तथा श्रीकृष्ण का वंशज तक कहा है।

महाराज पटियाला द्वारा बनाई गई खालसा लीग के प्रतिनिधयों ने सन् १९४२ में सर स्टेफर्ड क्रिप्स के सामने अलग सिख राज्य की मांग रखी थी। उसके बाद अकालियों ने भी यही मांग रखी। खास बात यह है कि यह मांग सब पंजाबियों की ओर से नहीं, केवल सिखों की ओर से रखी गई थी। १० अप्रैल, १९४७ को सर ईवान जेनकिंस ने लार्ड वेवल के स्थान पर उसी समय नए वायसराय बनकर आए लार्ड माउण्ट बेटन को सूचित किया – "ज्ञानी करतार सिंह तथा अन्य सिख नेताओं से जिनसे मै मिला हूँ उनका कहना है कि एक ऐसा गैर - मुस्लिम राज्य बनाया जाए जिसमें सारे देश के सिख समा सकें। यह राज्य नाभा, पटियाला और जींद के साथ मिलाकर एक संघ राज्य बनेगा, जो हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में मिलने को पूर्ण स्वतंत्र होगा और ब्रिटिश सरकार के साथ अलग संधि करेगा।" ('ट्रांसफर आफ पावर", दसवीं जिल्द, पृष्ठ १८३)

परन्तु इसके कुछ ही दिन बाद २७ जून, १९४७ को वायसराय के परामर्श दाता लार्ड इस्मे को

पंजाब सर्विस के पेंडेरल मून ने लिखा – "सरदार बलदेव सिंह और मा. तारा सिंह दोनों के सम्पर्क में रहने वाले कुछ सिखों ने मुझे कहा है कि यदि सिखों को पूर्वी पंजाब अलग राज्य के रूप में दे दिया जाए, तो प्रथम चरण के रूप में वे हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में मिलने की स्वतंत्रता चाहेंगे और यह स्वीकार हो जाने के बाद वे स्वभावतः शेष पंजाब और पाकिस्तान के साथ मिल जाएंगे ।"

(वही, जिल्द ११, पृष्ठः ६९२)

मुस्लिम लीग की नकल

इस प्रकार अकाली अपने अलगाव के वहाव में सीधा पाकिस्तान से मिलने के तैयारी कर रहे थे और इसके लिए वही व्यूह - रंचना अपना रहे थे, जो जिन्ना ने अपनाई थी । वह व्यूह - रचना क्या थी, यह श्री एच. वी. हडसन के एक लेख से स्पष्ट हो जाती है ।

श्री हडसन ने १९७६ में इस्लामाबाद यूनिवर्सिटी के एक सेमिनार में अपना निबंध पढ़ा था जिसमें सन् १९४० में लीग के पाकिस्तान संबंधी प्रस्ताव के बारे में तीन नुक्तों को स्पष्ट किया था ।

> पहला नुक्ता यह था कि मुस्लिम लीग के नेता नए संविधान के निर्माण के समय केवल पूर्ण विभाजन में विश्वास करने वाले मुसलमानों को ही नहीं, बल्कि उसमें सन्देह करने वाले मुसलमानों को भी एक गिरोह में समेटने के लिए लचीला रुख अपना सकें ।
>
> दूसरा, यह कि मुस्लिम लीग की कार्य समिति को एक प्रस्ताव द्वारा निश्चित संवैधानिक योजना के लिए कहा गया, पर उसने वैसा कभी नहीं किया ।
>
> तीसरा, संवैधानिक परिवर्तनों पर मुसलमानों के निषेधाधिकार (वीटो) का दावा मुस्लिम लीग के नाम से नहीं, मुस्लिम भारत के नाम से किया गया था ।

विभाजन संबंधी लाहौर प्रस्ताव के स्थान पर आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव को और मुस्लिम लीग के स्थान पर अकालीदल को रख लीजिए – फिर सारी स्थिति स्वंय स्पष्ट हो जाएगी ।

श्री हडसन ने रोजमर्रा के लिए भी एक अन्तिम व्यूह - रचना तैयार की थी । उसके साथ भी अकालियों के व्यवहार की तुलना करिए । वह इस प्रकार थी –

१) अधिकतम की मांग करो और अन्तिम दम तक उस पर अड़े रहो ।
२) बिना कीमत वसूल किये कोई समझौता मत करो ।
३) किसी भावी सुविधा या काल्पनिक शर्तों के आधार पर कीमत स्वीकार मंत करो – जो भी कीमत हो वह राजनीतिक नकद हो ।
४) कांग्रेस को (या अन्य ग्रुपों को) सार्वजनिक गलतियां करने दो, पर अपने कार्ड छाती से चिपकाए रखो ।
५) कांग्रेस को ऐसा कोई राजनीतिक लाभ मत ले जाने दो जिसमें तुम्हारी साझेदारी हो सकती हो ।
६) यदि तुम्हें कभी अधिकतम मांग से पीछे भी हटना पड़े, तो बाद में भविष्य के लिए उस पर निरन्तर आग्रह रखो ।
७) यदि तुरन्त सौदेबाजी की खातिर तुम्हें अपनी मांगों के बारे में समझौता करना पड़े तो

उसकी वसूली के अभाव में समझौते से मुकर जाओः अगली बार तुम और लाभ की स्थिति में रहोगे, पहले वाली स्थिति से बदतर स्थिति होने की संभावना नहीं है ।

('कायदे आजम', पृष्ठः २४७-४९)

खूब गुजरेगी ..... दीवाने दो

हालांकि श्वेत पत्र में जानबूझकर उन देशों के नाम नहीं लिये गए जिन्होंने खालिस्तान के ख्याली ख्वाब को हकीकत में बदलने की पूरी कोशिश कीं, पर कुछ प्रमाण ऐसे हैं जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता । जिस तरह अकाली नेता आखिर दम तक कहते रहे कि स्वर्ण मन्दिर में कोई उग्रवादी नहीं है, न ही घातक हथियार हैं, वैसे ही जनरल जिया ने सैनिक कार्रवाई के बाद एक दुहरी मार वाला कूटनीतिक बयान दे मारा – "हमें सहयोग देना होता तो हम भारत के दस करोड़ मुसलमानों को सहयोग देते (जिन पर भारत में अत्याचार हो रहा है), दो करोड़ सिखों को सहयोग देकर हम क्या करेंगे?" पर पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री दरबारा सिंह ने खालिस्तान और पाकिस्तान के दोनों दीवानों का – जो झूठ बोलने में एक दूसरे से बढ़कर हैं – पर्दाफाश करते हुए कहा था – "मैने अपने मुख्यमंत्रित्व काल में स्वर्ण मंदिर के कमरों के नम्बर और उनमें छिपे उग्रवादियों के नाम शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को भेजे और उन उग्रवादियों को वहां से निकालने की अपील की, किन्तु शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अधिकारियों ने उग्रवादियों के अस्तित्व से साफ इन्कार कर दिया ।

सब से अधिक आश्चर्य तो श्री सुब्रहमण्यम स्वामी पर है जिन्होंने ५ दिन तक स्वर्ण मंदिर में भिण्डरावाले के अतिथि रहने के पश्चात् बाहर आकर बयान दिया कि स्वर्ण मंदिर में कोई उग्रवादी नहीं है और न ही कोई घातक हथियार है ।

दरबारा सिंह ने ही राज्यसभा में जनरल जिया के झूठ की नकाब उतारते हुए कहा कि खालिस्तान बनाने की साजिश पाक राष्ट्रपति जनरल जिया उल हक ने और डाक्टर जगजीत सिंह चौहान ने मिलकर बनाई थी और इस निमित्त वे कई बार मिले थे । इस साजिश में अमरीका की गुप्तचर संस्था सी. आई. ए. का भी हाथ था । उन्होंने और भी जोर देकर कहा कि मेरे पास इसके पक्के सबूत हैं कि पाकिस्तान में और जम्मू-काश्मीर में उग्रवादियों को प्रशिक्षण दिया गया । उनके साथ ही कुछ (पाकिस्तान में इन स्थानों पर प्रशिक्षण दिया जाता था – नारोवाल, पसरूर और डस्का (जिला स्यालकोट); नारंगमंडी, एमनाबाद और मुरीदके (जिला शेखूपुरा); जल्लो पठाना, बर्की, भगवानपुरा और मुगलपुरा (जिला लाहौर); कोहमरी; और अटक का किला ।) जनरल जिया पाकिस्तान जाने वाले सिखों का गरम जोशी से स्वागत करते थे, उन्हें भारत के विरुद्ध विष-वमन करने को प्रोत्साहित करते थे और उन्हें भरोसा दिलाते थे कि वे भारत के सिखों के लिए बहुत चिंतित हैं ।

पहले ख्याल था कि बंगला देश बनने के बाद उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पाकिस्तान ने भारत के विघटन के लिए यह षड्यंत्र किया, पर हाल में ही एक समाचार से पता लगा कि वह योजना सन् १९७१ से नहीं बल्कि सन् १९६५ से, भारत पर पाक आक्रमण के बाद से, चल रही थी । इस योजना में दिमाग ब्रिटेन का था और उसे पूरा करने का दायित्व पाकिस्तान का था । १३ अगस्त् ८४ के समाचार पत्रों में छपा वह समाचार इस प्रकार है –.

"नई दिल्ली, १२ अगस्त (प्रेट्र)। पंजाब की घटनाओं का विश्लेषण करने वाले इस नतीजे पर पहुंचे हैं पंजाब के उग्रवादियों को पाकिस्तान से जो मदद मिली, उसका अंततः उद्देश्य पंजाब को भारत से काट कर अलग देश बना देना था। यह योजना पाकिस्तान के खुफिया विभाग ने बनाई। एक दो साल पहले नहीं, बल्कि करीब दो दशक पहले। योजना यह बनी कि सिखों व हिन्दुओं में फूट पैदा की जाए। पंजाब देश का सीमांवर्ती राज्य है और समृद्ध भी। सोचा यह गया कि अगर पंजाब में उथल-पुथल मचा दी जाए, तो वह देश से कट ही जाएगा।

इस योजना को पाकिस्तान के उच्च राजनीतिक अधिकारियों ने अपनी सहमति दी। कहा गया कि सारी मदद सीधे नहीं, बल्कि पसेक्ष रूप से दी जाए। लेकिन यह मदद ऐसी जोरदार हो कि सिखों का अलग राज्य "खालिस्तान" अपने आप अस्तित्व में आ जाए।

पहले कदम के रूप में ब्रिटेन के वे उर्दू अखबार सक्रिय हुए, जो पाकिस्तान के इशारों पर चलते हैं। उनमें भड़काने वाले और बेबुनियाद समाचार छपने लगे कि भारत में सिखों के अधिकारों को दबाया जा रहा है। मुस्लिम अखबार सिखों की वकालत करने लगे। इसके पीछे छिपा उद्देश्य यह था कि सिख मुसलमानों को अपना सबसे बड़ा दोस्त और हमदर्द समझने लगें।

जब इस चाल में ज्यादा सिख नहीं फंसे, तो लंदन की एक जन संपर्क-एजेंसी से मदद मांगी गई। इस एजेंसी ने जो सुझाव दिए, वे इस प्रकार थे–

(१) पाकिस्तान में ननकाना साहब और डेरा बाबा नानक साहब आदि प्रमुख सिख तीर्थ-स्थलों के रखरखाव में सुधार किया जाए। (२) गुरु नानक देव के जन्म दिवस तथा बैसाखी जैसे उत्सवों पर सिखों को बड़ी संख्या में इन तीर्थ स्थलों पर जाने के लिए रियायती दर पर विमान सेवाएं उपलब्ध कराई जाएं। (३) गुरु ग्रंथ साहब के पाठ तथा शब्द कीर्तन के लिएं विशेष सुविधाएं दी जाएं। (४) अन्य देशों में बंसे सिखों को भी ऐसे मौकों पर आने के लिए खुले दिल से वीसा दिए जाएं। (५) सिखों के लिए गुरुग्रंथ साहब तथा शब्द कीर्तन के विशेष कैसेट तैयार किए जाएं और उनकी बिक्री न केवल ननकाना साहब आदि में की जाए, बल्कि विदेशों में भी।

इन सुझावों पर पाकिस्तान ने तुरन्त अमल शुरू कर दिया, क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनका प्रभाव दूर तक पड़ने वाला था। ऐसे सिखों से पहचान बढ़ाई जाने लगी, जो विदेशों में बसे हैं, असंतुष्ट हैं और किसी न किसी रूप में काम आ सकते हैं।

पाकिस्तानी एजेंटों ने उनके मन में यह भावना भरनी शुरू कर दी कि आप तो बड़े अच्छे हैं, लेकिन आपके साथ इंसाफ नहीं हो रहा। इन एजेंटों को खुला पैसा दिया गया ताकि वे इन लोगों की मौज-मस्ती के लिए भी हर तरह का सामान जुटा सकें। उन्हें ब्रिटेन में पाक दूतावास में बार-बार बुलाकर उनकी राय पुछी जाने लगी ताकि उन्हें यह मालूम हो कि वे बड़े महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। छोटे अफसर, बड़े राजनयिक उनसे पूछते कि आप बताइए कि पाकिस्तान में गुरुद्वारों का सुधार कैसे किया जाए।

यह संपर्क-सिलसिला बढ़ाने के काम में ब्रिटेन में बसे पाकिस्तानी व्यवसायियों तथा पत्रकारों ने भी खूब मदद की। इस काम में जिस व्यक्ति ने सबसे बड़ी भूमिका निभाई, उसका नाम है बूटा बेग उर्फ बूटा खान। बूटा खान ने तो सिख-मुस्लिम भाईचारा बढ़ाने का आंदोलन छेड़ दिया। ज्ञानी बख्शीश सिंह तथा गुरचरण सिंह जैसे खालिस्तान समर्थकों से उसने गहरी दोस्ती पैदा की। गुरुचरण

सिंह बाद में उग्रवादी दल खालसा का नेता बना।

इन नेताओं के बहुत ज्यादा समर्थक नहीं थे, फिर भी बूटा खान ने उन्हें भड़काया कि वे भारतीय उच्च आयोग के विरुद्ध प्रदर्शन आयोजित करें।

डा. जगजीत सिंह चौहान इन लोगों के चक्कर में १९७१ में आया। इन लोगों ने चीनी दूतावास की मदद पाने की कोशिशें की, लेकिन पाकिस्तानी सूत्रों ने उन्हें चीनी दूतावास के करीब ज्यादा न जाने के लिए राजी कर लिया।

ब्रिटेन में जो काम पाकिस्तानी दूतावास ने शुरू किया, वही सिलसिला अमेरिका और कनाडा के पाक दूतावासों ने भी शुरू कर दिया।

ये संपर्क तब सामने आए जब डा. चौहान ने ये बयान देने शुरू कर दिए कि सिखों के लिए पाकिस्तान के रास्ते अमेरिका ने हथियार भेजने शुरू कर दिए हैं। डा. चौहान ने तो यहां तक कह दिया था कि सिखों की मदद के लिए पाक सैनिक अधिकारी सिख वेशभूषा में गुरु रामदास सराय में पहुंच गए हैं।

अमृतसर में सैनिक कार्रवाई से कुछ समय पहले ही डा. चौहान ने यह भी भेद खोल दिया कि पाकिस्तान में रेडियो प्रसारण के लिए ट्रांसमीटर लगा दिया गया है। इससे 'रेडियो खालिस्तान' के प्रसारण जल्दी ही शुरू होने वाले हैं।

डा. जगजीतसिंह चौहान के बयानों की तह में जाया जाए तो उनका सूत्र पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक तथा रक्षामंत्री अली अहमद तालपुर के बयानों से मेल खाता है। जनरल जिया तो कह रहे थे कि पाकिस्तान भारत के विरुद्ध ऐसी कोई कार्रवाई नहीं करना चाहता, जिससे नाराजगी बढ़े। उन्होंने इस बात का भी प्रतिवाद किया कि पाकिस्तान सिखों की मदद कर रहा है। लेकिन उन्हीं के रक्षामंत्री कहते रहे कि हमारी पूरी हमदर्दी उन सिखों के साथ है जिन्हें दबाया जा रहा है।"

स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई के बाद इस पाक योजना के समर्थन में जो सबूत मिले हैं, अब उनकी बानगी देखिए –.

स्वर्णमंदिर के परिसर में जहां चीनी, पाकिस्तानी तथा अन्य देशों के शस्त्रास्त्र बरामद हुए, वहीं एक शक्तिशाली ट्रांसमीटर भी सरोवर में मिला जिसके माध्यम से उग्रवादी लाहौर तक से सीधा संपर्क रखते थे। शा बेग खान के पास उसकी मृत्यु के समय भी ऐसा ही ट्रांसमीटर था। सेना के हाथ कुछ ऐसे कागजात भी लगे जिनसे आतंकवादियों और पाकिस्तान की सांठगांठ स्पष्ट होती थी।

गुरु रामदास सराय के कमरे में खालिस्तान और पाकिस्तान के पासपोर्ट तो मिले ही, उनके साथ कुछ नकली दाढ़ियां भी मिलीं। सेना के साथ मुठभेड़ में मारे गए कुछ उग्रवादियों के शवों के पोस्ट मार्टम से पता लगा कि उनमें से अनेक नकली सिख थे और उनकी सुन्नत हुई थी। लेफ्टिनेन्ट जनरल सुन्दर जी के कथनानुसार वे निहंगवेषधारी पाकिस्तानी मुसलमान थे।

पाकिस्तान उग्रवादियों को अनेक रास्तों से हथियार भेजता था। अफगान विद्रोहियों को अमेरिका से मिलने वाले आधुनिकतम हथियार पंजाब आते थे। जिया ने भी इन हथियारों की तस्करी कबूल की है। २८ दिसम्बर, १९८३ को जसवीर सिंह उर्फ पप्पू नामक उग्रवादी ने अपनी गिरफ्तारी के बाद बताया कि दो निहंगों के सहयोग से ६०० रिवाल्वर उसने गंगानगर से अमृतसर पहुँचाए थे। अधिकांश शस्त्रास्त्र लंगर के लिए अनाज लाने वाली बोरियों के नीचे छिपा कर ट्रकों में लाये जाते थे और पुलिस इन ट्रकों की तलाशी नहीं लेती थी। पुलिस की भी उग्रवादियों से पूरी सांठगांठ थी। गुरु राम दास सराय के कमरा नं. १७९ में नौ हथियारबंद पाकिस्तानी जासूस ठहरे हुए थे जो उग्रवादियों

की सहायता के लिए आए थे।

स्वर्णमंदिर से मिले कागजात से यह तथ्य भी सामने आया है कि पाकिस्तानी हबीब बैंक की विदेश शाखा के जरिये भारी मात्रा में धन भी इन उग्रवादियों को भेजा जा रहा था। भिण्डरांवाले का भतीजा जसबीर सिंह संयुक्त अरब अमीरात में रहकर विभिन्न पाकिस्तानी व्यापारियों से धन लेकर भारत तक पहुँचाता था। कुछ कुख्यात तस्करों से भी धन व शस्त्र पहुंचाने में सहायता ली गई थी।

जगजीत सिंह चौहान तथा गंगा सिंह ढिल्लों के पाकिस्तान के राष्ट्रपति जिया उल हक से सीधे संबंध थे तथा वे अनेक बार पाकिस्तान जाकर पंजाब को भारत से अलग कर "खालिस्तान" घोषित करने के षडयंत्र पर बातचीत करते रहते थे। इन सब तथ्यों के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि पंजाब की हिंसात्मक घटनाएं केवल मुठ्ठीभर सिरफिरों या उग्रवादियों के भावावेश मात्र की वारदात नहीं थी, बल्कि "खालिस्तान" के नाम से पृथक राष्ट्र के निर्माण की भीषण साजिश थी।

पंजाब के उग्रवादी सिखों के साथ पाकिस्तान की शुरू से ही सहानुभूति थी। ११ मई, १९८३ को स्वर्ण मंदिर परिसर में अनवर अहमद खां के नेतृत्व में कुछ पाकिस्तानी युवकों ने "खालिस्तान" के लिए कुर्बानी तक देने की शपथ ली थी। जम्मू-कश्मीर में जमायते इस्लामी ने भी खुलकर "खालिस्तान" की मांग का समर्थन किया था। आनन्दपुर साहिब सम्मेलन में दिल्ली की जामा मस्जिद के इमाम ने उत्तेजक भाषण देते हुए भारत सरकार पर सिखों तथा मुसलमानों के साथ अन्याय करने का आरोप लगाया था।

भारत से सिख तीर्थयात्री जब पाकिस्तान जाते थे तो उनमें से कुछ व्यक्तियों की वहां के सैनिक अधिकारियों से गुप्त बातचीत कराई जाती थी। एक गिरफ्तार उग्रवादी ने यह भी स्वीकार किया है कि वह जब पाकिस्तान की तीर्थयात्रा पर गया था तो राष्ट्रपति जिया ने साफ-साफ कहा था -- "हम चाहते हैं कि सिख भी अपना अलग राज्य कायम कर उसमें शान से रहें।" पाकिस्तान के कुछ सैनिक अधिकारियों ने भी उनकी पीठ थपथपाई थी। उसने बताया कि वह भिण्डरांवाले के लिए पाकिस्तान से गुप्त पत्र भी लाया था।

४३००० सैनिक तैयार

स्वर्ण मंदिर तथा कुछ अन्य गुरुद्वारों को युद्ध का किला बनाने की साजिश १९७९ में बनाई गई थी और १९८० में इन्हें उग्रवादियों का अड्डा बनाकर शस्त्रास्त्रों से लैस किया जाने लगा था। १९८३ तक लगभग ३० हजार युवकों को हथियार चलाने, तोड़फोड़ करने तथा हत्या कर आंतक फैलाने का प्रशिक्षण दिया जा चुका था। जनवरी, १९८४ तक यह संख्या ४३ हजार तक पहुंच चुकी थी। अनेक अवकाशप्राप्त सैन्य अधिकारी इस काम में लगे थे। उन्हें भरपूर पैसा दिया जाता था। शाबेग सिंह के मशविरे से भिण्डरांवाले 'हिट-लिस्ट' तैयार करते थे और अपने विरुद्ध कुछ भी कहने वालों को मरवा देते थे। इस प्रकार स्वर्ण मंदिर में ही २०० लोगों को मार कर उनके शव कहीं फिंकवा दिये गए थे।

लाहौर के पास कसूर क्षेत्र में एक प्रशिक्षण शिविर में नकली निहंगों तथा भारतीय सिखों को प्रशिक्षण दिया गया। पाकिस्तान ने नकली सिखों की सेना तैयार की, जिनका काम पंजाब पहुंचकर हिन्दू समाज में घृणा पैदाकर सिखों तथा हिन्दुओं को एक दूसरे से अलग कर लड़ाना था। कश्मीर में भी पाक-समर्थक तत्वों के सहयोग से इस प्रकार के शिविर लगाये गये। इसी प्रकार के प्रशिक्षित

लोगों ने गत वर्ष हिन्दू मंदिरों में गायों के कटे हुए सिर डालकर तथा गुरुद्वारों में बीड़ी-सिगरेट फेंक कर एक-दूसरे के खिलाफ भड़काया था। गुरुद्वारों में तम्बाकू फेंकते हुए कई पाकिस्तानी पकड़े भी गये थे। पाकिस्तान ने कुख्यात तस्करों से भी इस काम में सहायता ली थी।

आतंक व हिंसा तथा केन्द्र सरकार से खुली बगावत की योजना को अमल में लाने, गोला बारूद व हथियारों को जुटाने के लिए १९८० से १९८४ के प्रारम्भ तक भिण्डरांवाले ने उग्रवादियों, अपने समर्थकों व सिख छात्र फैडरेशन के जरिए करीब २० करोड़ रुपए इकट्ठा कर पानी की तरह बहाया। इसमें बैंक डकैती व लूट का धन भी शामिल है। अकाली दल अध्यक्ष हरचंद सिंह लोंगोवाल व शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी के अध्यक्ष गुरचरण सिंह तोहड़ा अगर मुंह खोलें तो कई रहस्यों पर पर्दा उठ सकता है। १९७९ से स्वर्ण मंदिर व उसके परिसर में जो कुछ होता रहा उसकी पूरी जानकारी उन्हें है।

पाकिस्तान इस सारे काण्ड में किस तरह लिप्त था यह इस बात से भी पता चलता है कि सेना के स्वर्ण मंदिर में घुसते ही गांवों के और सेना के सिख जवानों को अफवाहें फैलाकर भड़काने की योजना भी पहले से तैयार थी। इसके लिए वीडियो फिल्म भी तैयार करली गई थी। प्रशिक्षणार्थियों के नाम पर कुछ संदिग्ध व्यक्तियों को सैनिक छावनियों में भेज कर सिखों की धार्मिक रेजिमेन्ट में सिख रंगरूटों को भ्रमित करने में कुछ नकली सिखों का हाथ था, यह भगोड़े जवानों के पकड़े जाने के बाद स्पष्ट हो गया।

स्वर्ण मंदिर से उग्रवादियों के सफाए के बाद पाकिस्तानी पत्रों ने जिस प्रकार उग्रवादियों की वकालत की और भिण्डरांवाले को गुरु गोविंद सिंह का अवतार बताया तथा भारतीय सेना के संबंध में निराधार समाचार छापे, उससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि इस सारे षड्यंत्र के पीछे पाकिस्तान का पूरा हाथ था। भिंडरांवाले के मरने के बाद उसके नाम से विदेशों के सिखों को नकली पत्र भेजे गए।

सेना के एक रिटायर्ड अफसर ने, जो फिरोजपुर का निवासी था, लेखक को एक व्यक्तिगत वार्तालाप में बताया था कि "हमारे गांव से पाकिस्तान की सीमा केवल ७-८ मील दूर है। विभाजन के बाद सीमावर्ती पाकिस्तानी गांवों से लोग डर के मारे अपने घरों को छोड़कर चले गए थे। परन्तु, खालिस्तानी आंदोलन शुरू होने के बाद वे पाकिस्तानी अपने घरों में वापिस आ गए। टूटे-फूटे घरों की मरम्मत हो गई थी। अब ये ही गांव तस्करी के केन्द्र बन गए। भारत की ओर से जाने वाले व्यक्तियों का उन गांवों में खूब स्वागत होता था। उनको मुफ्त में खाना और रिहायश की सुविधा मिलती। हमने अपने गांव से भी कितने ही जवानों को पाकिस्तान भेजा है। अब तो हम अपने जवान बेटों को भारत में कहीं और रोजगार तलाश करने के बजाय सीधा पाकिस्तान भेजते हैं और उनसे साफ-साफ कहते हैं कि जिस इन्दिरा गांधी ने सिखों का इतना जबर्दस्त अपमान किया है, उसके राज्य में हमें नहीं रहना। पाकिस्तान जाकर पहले ट्रेनिंग लो, फिर तुम छोटे-मोटे हथियार लेकर मत आओ, अब तो सीधे टैंक लेकर आओ। अब हम अपना खालिस्तान बनाकर ही रहेंगे, या हिन्दुस्तान छोड़कर पाकिस्तान में जाकर रहेंगे, ज़हां हमारी इतनी इज्जत होती है।"

यह सारी बातचीत किस जहनियत की द्योतक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसके साथ ११ जून को खालिस्तान की स्थापना की घोषणा को भी शामिल कर लीजिये, तो षड्यंत्र की व्यापकता का कुछ अंदाज लगाया जा सकता है और समझा जा सकता है कि सेना के वीर जवानों ने राष्ट्र को कितने भयंकर संकट से बचाया है।

गृह सचिव श्री कृष्ण मोहन वली ने एक प्रेस कान्फ्रेंस में स्वीकार किया था कि आतंकवादियों के

कुछ दल जम्मू-कश्मीर के सीमावर्ती पुंछ क्षेत्र से पाकिस्तान चले गए हैं और इसके पुष्ट प्रमाण भारत सरकार के पास हैं।

अमरीका और सी. आई. ए.

सोवियत संघ ने स्पष्ट रूप से आरोप लगाया है कि स्वर्ण मंदिर को आतंकवादियों का अड्डा बनाने में सी.आई.ए. का पूरा हाथ है। जिस तरह अन्य देशों में अस्थिरता पैदा करने के लिए अमरीका उन देशों की विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा देता रहता है, वही नीति उसने भारत के बारे में अपनाई। सोवियत राष्ट्रपति चेरेनकोव ने प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के एक पत्र के उत्तर में पंजाब की स्थिति से निपटने के लिए सैनिक कार्रवाई का पूरा समर्थन किया और कहा है कि "किसी भी शक्ति के द्वारा स्वतंत्र खालिस्तान की स्थापना का स्वप्न पूरा नहीं होगा और पंजाब भारत का अविभाज्य अंग बना रहेगा।" सोवियत सरकार की ओर से यह पहली अधिकृत घोषणा है। इसी प्रकार रूस के एक और मंत्री लेव रोवनिन ने भी मास्को - स्थित भारतीय दूतावास के एक समारोह में कहा कि अमरीकी गुप्तचर संस्था सी.आई.ए. तथा अमरीकी सरकार के समर्थन से कुछ शक्तियां भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहती हैं। ये शक्तियां भारत को विघटित करना चाहती हैं।

अमरीका जैसे महान् जनतंत्री देश का प्रशासन तीसरी दुनिया में अपना प्रभाव क्षेत्र फैलाने के लिए कैसे - कैसे हथकंडे अपनाता रहता है, यह सुधी राजनीतिज्ञों से छिपा नहीं है। इस सिलसिले में अमरीकी प्रतिरक्षा गुप्तचर संस्था (डी.आई.ए.) के एक भूतपूर्व डायरेक्टर ने यह रहस्योद्घाटन करके संसार को चौंका दिया कि खालिस्तान आंदोलन के दो प्रमुख सूत्रधार गंगा सिंह ढिल्लों और जगजीत सिंह चौहान डी.आई.ए. के नियमित वेतनभोगी हैं और संस्था के आय - व्यय रजिस्टर में उनका नाम दर्ज है। इन दोनों नेताओं ने अमरीकी सिनेटरों को और सरकारी अधिकारियों को यह विश्वास दिलाया था कि आजाद सिख मुल्क सोवियत संघ और साम्यवाद के सदा विरूद्ध रहेगा, सदा अमरीका का साथी रहेगा और उन्मुक्त व्यापार - वाणिज्य का पक्षधर रहेगा। इस आश्वासन की बदौलत अमरीकी अधिकारियों ने इन दोनों अलगाववादी सिखों को अमरीकी पूंजीपतियों से मिलने और सम्पन्न अमरीकी समाज में घुसपैठ का अवसर दिया था। चौहान को एक ब्रिटिश गुप्तचर संस्था का वेतनभोगी भी बताया जाता है।

अमरीका में रूस विरोधी घोर दक्षिणपंथी खप्तियों की कमी नहीं है। यदि ढिल्लों और चौहान की कुछ पूछ है तो उन्हीं खप्तियों की बदौलत। यह सब जानते हैं कि चौहान खेती के कोई विशेषज्ञ नहीं हैं, पर सीनेटर जेस हेम्स ने स्टेट डिपार्टमेन्ट के ऐतराज के बावजूद गत वर्ष खेती पर किसी स्टेट कमेटी में उनके बयान के लिए उन्हें अमरीका बुलाया था। उस कमेटी में चौहान का बयान हुआ भी नहीं, पर इस बहाने उन्हें अमरीका जाने का पासपोर्ट मिल गया।

अमरीका द्वारा शह का एक और प्रमाण यह है :-

पिछले दिनों न्यूयार्क में विश्व सिख संगठन का सम्मेलन हुआ जिसमें खालिस्तान के समर्थन में प्रस्ताव पास किया गया। इस सम्मेलन में बच्चे - बूढ़े - औरत - मर्द सब मिला कर कोई ढाई हजार लोग शामिल हुए। भूतपूर्व सीनेटर जेम्स कारनेम ने उसमें भाषण दिया। इस संगठन के अध्यक्ष हैं फलों के बगीचों के अमीर मालिक दीदार सिंह बेंस और महामंत्री हैं जसवंत सिंह भुल्लर। बेंस केलिफोर्निया में रहते हैं। उन्होंने भुल्लर से कहा था कि संगठन के लिए जितना धन तुम अन्य स्रोतों

से एकत्र करोगे, उतना मैं अकेला दूगा। ६१ वर्षीय रिटायर्ड मेजर जनरल भुल्लर ने करीब दो करोड़ रूपया इकट्ठा किया। इतना ही बेंस ने दिया। इसमें से अधिकांश राशि आतंकवादी करतूतों पर ही खर्च की जाएगी, ताकि नये भिण्डरांवाले और शावेग सिंह तैयार हो सकें।

ध्यान देने की बात यह है कि न्यूयार्क में हुए इस सम्मेलन में जहां खालिस्तान बनाने की शपथ ली गई, वहां स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई के लिए रूस और के.जी.बी. (सी.आई.ए. के मुकाबले में रूस की गुप्तचर संस्था) को खूब कोसा गया और कहा गया कि इन्दिरा गांधी ने जो कुछ किया, वह रूस के कहने से किया, इसी से सिख हमेशा के लिए भारत से कट गए। समझ में नहीं आता कि पंजाब जैसे सीमावर्ती राज्य के सिखों को अलग - थलग करके अमरीका के खिलाफ रूस का कौन सा हित सध सकता है ? बहरहाल इस सम्मेलन से यह स्पष्ट हो गया है कि वह भारत-विरोधी दक्षिणपंथी शगल का एक मंच बन कर रह गया।

यह सिख विश्व संगठन ढिल्लों के ननकाना फाउण्डेशन और चौहान की नेशनल काउंसिल आफ खालिस्तान से अलग है। चौहान ने १२ अप्रैल, १९८० को ही नेशनल काउंसिल आफ खालिस्तान की स्थापना कर दी थी और उसके तीन महीने बाद उन्होंने खालिस्तान की स्थापना की घोषणा भी कर दी और स्वयं उसके राष्ट्रपति बन बैठे। उनके महामंत्री बलवीर सिंह सन्धु ने भारत में गुरु नानक निवास में बैठकर ऐसी ही घोषणा की थी और २६ जनवरी को हर मंदिर साहब के पास तिरंगा जलाकर खालिस्तान का झंडा फहराया था। चौहान ने सन् ८२ में २६ जनवरी के गणराज्य दिवस पर ब्रिटेन में भारतीय दूतावास के सामने खालिस्तानी झंडा फहराया, भारतीय राष्ट्र ध्वज और भारतीय संविधान को जलाया और उसकी राख भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह को भिजवाई।

इसी प्रकार की हरकत लास एंजेल्स में हुए ओलम्पिक खेलों के दौरान अमरीका के सिख उग्रवादियों ने की। उन्होंने भारतीय खिलाड़ियों और भारत के विरुद्ध तथा खालिस्तान के समर्थन में नारे लगाए, भारतीय हाकी टीम के खिलाड़ियों को निरन्तर चिढ़ाते रहे, उनका मनोबल गिराते रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की हाकी टीम फाइनल तक तो क्या, सेमीफाइनल तक भी नहीं पहुंच सकी। इन उग्रवादियों ने भारतीय ध्वज भी जलाया और संसार भर के खिलाड़ियों के समक्ष अपनी राष्ट्रद्रोहिता उजागर कर दी। इन उग्रवादियों के साथ कश्मीर मुक्ति मोर्चा और पाकिस्तान के लोग भी प्रदर्शनों में शामिल थे।

उसके बाद भारतीय स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त) के उपलक्ष्य में न्यूयार्क में एक भारतीय समारोह का आयोजन किया गया जिसमें सुसज्जित नावों पर भारत के विभिन्न राज्यों की पोशाकों में भारतीय नागरिक सजधज कर बैठे थे। ऐसी २० नावों को इन अलगाववादी सिखों ने ज़लाने की और उन्हें क्षतिग्रस्त करने की कोशिश की, पर अमरीकी पुलिस अधिकारियों की सतर्कता और हिंसात्मक कार्रवाइयों के विरुद्ध सख्त चेतावनी के कारण उनके मनसूबे पूरे नहीं हुए।

चौहान और ढिल्लों

भारत सरकार ने चौहान का पासपोर्ट अप्रैल, १९८१ में ही रद्द कर दिया था। पर उन्होंने पास पोर्ट लौटाया नहीं और अपने राजनीतिक दोस्तों की मदद से ब्रिटेन में रहकर कनाडा, अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में घूमकर अपने समर्थक जुटाते रहे। चौहान ने कनाडा तथा अन्य स्थानों से खालिस्तान के पासपोर्ट, डाक टिकट और करेंसी नोट छपाए और दुनिया भर में भिजवाए।

खालिस्तान का एक पासपोर्ट बीस हजार रुपए में बेचा जाता था। इस तरह उन्होंने कनाडा और पश्चिमी जर्मनी में उन देशों के कानूनों का फायदा उठाकर कुछ ऐसे सिखों को वहां पहुचाने में मदद दी जो अपने आप को राजनीतिक पीड़ित बताकर उन देशों में रह सकते थे। उनका कहना था कि खालिस्तान का हिमायती होने के कारण भारत सरकार ने हमें निकाल फेंका है। कनाडा को जब पता लगा कि खालिस्तान तो गैर - कानूनी प्रवेश का एक बहाना है, तो उसने रोक लगा दी। पश्चिम जर्मनी में भी अब यह बहाना नहीं चलता। हालांकि हत्या तथा अन्य जुर्मों के घोषित अपराधी तलविन्दर सिंह को भारत से चोरी छिपे भाग जाने के बाद इंटरपोल ने गिरफ्तार किया और वह प. जर्मनी की जेल में ही था। भारत सरकार ने उसे वापिस लौटाने की मांग की, पर प. जर्मनी की सरकार ने भारत के आग्रह की परवाह न करके उसे कनाडा भेज दिया।

चौहान भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र संघ के स्वयं सेवक के नाते राजनीति में आए थें। लछमन सिंह गिल के सांझा अकाली मंत्रिमण्डल में वे मंत्री भी रहे। लेकिन जब १९७१ में बंगला देश का मामला उठा तो पाकिस्तान के उकसाने पर वे सिखों में पाकिस्तान के प्रति मुहब्बत जगाने में लग गए। इसमें पाकिस्तान का क्या स्वार्थ था, यह बताने की आवश्यकता नहीं, पर पाकिस्तान के दूरदर्शन पर प्रायः चौहान के दर्शन होने लगे। पाकिस्तानी टेलिविजन पर वे ननकाना साहिब की चाबियां हाथ में थामे दिखाए जाते थे ताकि सिखों को लगे कि पाकिस्तान उनका पवित्र धर्मस्थान एक सिख को सौंप रहा है।

सितम्बर, १९७१ में लंदन में पहली बार एक प्रेस कान्फ्रेस में चौहान ने खालिस्तान का नारा लगाया था। एक महीने बाद, यानी १३ अक्तूबर को, उन्होंने 'न्यूयार्क टाइम्स' में विज्ञापन देकर कारण बताए कि स्वतंत्र और सार्वभौम खालिस्तान की स्थापना जरूरी क्यों है। फिर यदि लोग यह आरोप लगाते हैं कि पाकिस्तान ने खालिस्तान की मांग उठाने के लिए चौहान को ऐसे समय तैयार किया जब पूर्वी पाकिस्तान के लोग बंगला देश की मांग कर रहे थे, तो इसमें गलत क्या है? यह आपको याद होगा कि १६ दिसम्बर, १९७१ को वांगलादेश बना। तबसे चौहान ब्रिटेन, कनाडा और अमरीका में अपना खालिस्तान का नुस्खा बेचने के लिए कोई न कोई तमाशा करते ही रहते हैं।

गत वर्ष चौहान ने यह दावा भी किया कि खालिस्तान आन्दोलन को अमरीका का पूरा समर्थन प्राप्त है और चार साल के अंदर अंदर वे खालिस्तान बना लेंगे। अमरीका से उन्होंने कहा कि वह भारत को गेहूं देना बन्द कर दे। श्वेत पत्र में उनके कुछ बयान छपे हैं। जैसे, लंदन में उन्होंने कहा कि दस हजार छापामारों की फौज बनाने और भारतीय फौज से लड़ने का समय आ गया है। उन्होंने यह भी कहा था कि गुरु रामदास सराय में सिखों के भेस में पाकिस्तानी जवान पहुंच चुके हैं और वे भिण्डरांवाले के आदेश की प्रतीक्षा में हैं। गत वर्ष उन्होंने नेपाल और बांगला देश के रास्ते भारत आने का प्रयत्न किया था। गत वर्ष ही उन्होंने अकाली नेताओं को खालिस्तान सरकार की बाकायदा स्थापना करने की घोषणा करने को कहा था। उन्हीं के कहने पर सन्धु ने तिरंगा जलाकर खालिस्तानी झण्डा फहराया था।

चौहान की ही टक्कर के दूसरे नेता हैं गंगसिंह ढिल्लों, जिन्होंने वाशिंगटन में ननकाना फाउण्डेशन बना रखा है। ननकाना साहिब पाकिस्तान में है। यह वही तलवंडी नामक स्थान है जहां गुरु नानक का जन्म हुआ था। इसी को रोम के पोप के वैटिकन सिटी की तरह एक अलग छोटी सी स्वायत्त स्टेट बनाने की मांग कभी-कभी सिखों की तरफ से उठती है। पर क्योंकि उसका सम्बन्ध

पाकिस्तान से है, इसलिए आनन्दपुर साहिब के प्रस्ताव में उसका उल्लेख नहीं है । ननकाना फाउण्डेशन के बहाने ढिल्लों का पाकिस्तान आना-जाना बना रहता है । जनरल जिया से उनके बहुत अच्छे सम्बन्ध हैं । कुछ लोग तो ढिल्लों को जनरल जिया का रिश्तेदार तक बताते हैं । भारत सरकार को उनके बारे में सब जानकारी थी, फिर भी उदारता की हद देखिए कि मार्च, १९८१ में वे चण्डीगढ़ आए, एजूकेशन कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की और अपने भाषण में कहा कि सिख एक अलग कौम है और सिखों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सहयोगी सदस्यता प्राप्त करनी चाहिए जैसा कि फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे ने कर रखी है । सम्मेलन चीफ खालसा दीवान ने बुलाया था जो कहने को उग्रवादी संगठन नहीं है, पर आजादी के पहले वह पूरी तरह अंग्रेज समर्थक था । सिख एक अलग कौम है–ढिल्लों के इसी नारे को अब दल खालसा, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी आदि सभी ने मंजूर करके उछाला, तो उस सम्मेलन के बाद शोर मचा । तबसे ढिल्लों भारत नहीं आ पाए ।

परन्तु एक अफवाह है कि स्वर्ण मन्दिर में सैनिक कार्रवाई से एक दिन पहले चौहान और ढिल्लों तथा एक पाकिस्तानी जनरल (अकरम खां) जम्मू कश्मीर के रास्ते अमृतसर आए थे और उन्होंने भिण्डरांवाले से भेंट करके खालिस्तान के अन्तिम चरण के बारे में बात की थी । इस अफवाह की पुष्टि का कोई उपाय नहीं है । किन्तु इससे ११ जून को खालिस्तान की बाकायदा घोषणा करने की साजिश को सहारा अवश्य मिलता है ।

बरतानिया और चीन भी

पाकिस्तान और अमरीका की तरह खालिस्तानी कोयले की दलाली में ब्रिटेन के हाथ भी कम काले नहीं हैं । ब्रिटेन ने ही सिखों में हिन्दुओं से अलग होने की भावना भरी थी और आज भी सिखों का जितना अहं है वह सब इसी बात पर केन्द्रित है कि हमने अंग्रेजों को इतनी सेवा की । गदर से लेकर १९१४ के प्रथम विश्व युद्ध और १९४० के द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी अंग्रेज-सेवा गिनाते-गिनाते वे थकते नहीं । इसी परम गहन सेवाधर्म की दुहाई देकर उन्होंने दिल्ली में हुए 'नाम' सम्मेलन (कामनवैल्थ के राष्ट्राध्यक्षों के सम्मेलन) में आई ब्रिटिश महारानी एलिजाबेथ की सेवा में विनम्र विज्ञापन दिया था कि भारत सरकार तो हमारी सुनती नहीं, किसी तरह आप ही हमें खालिस्तान दिलवा दो । कितनी बड़ी देशभक्ति का सबूत है यह ? इसका सही उत्तर तो अमर शहीद सरदार भगत सिंह से लेकर उन सब शहीदों की आत्माएं देंगी जिन्होंने अंग्रेजों की दासता से भारत को मुक्त कराने के लिए हंसते-हंसते फांसी का फन्दा चूमा था ।

लंदन में भारतीय दूतावास के वरिष्ठ कर्मचारी श्री म्हात्रे की हत्या में कश्मीर लिबरेशन फ्रंट को सहयोग देकर, फिर मकबूल भट्ट के भागने में सहायता देकर, फिर सैनिक कार्रवाई के बाद ब्रिटेन स्थित भारतीय दूतावास में तोड़फोड़ करके खालिस्तानियों ने अपनी जिस मनोविकृति का परिचय दिया, यह जितना स्पष्ट है उतनी ही स्पष्ट है ब्रिटिश सरकार की इस विषय में उदासीनता और ब्रिटिश पुलिस की निष्क्रियता । हाल में ही लंदन में सोवियत दूतावास के बाहर प्रदर्शन में, जो पंजाब में सिखों को कुचलने में रूस के लिप्त होने के विरोध में किया गया था, अफगान विद्रोहियों के ग्रुप भी शामिल हो गए । एक अफगान विद्रोही नेता तो लन्दन से न्यूयार्क भी गया और उसने विश्व सिख संगठन सम्मेलन में पंजाब में सैनिक कार्रवाई की निन्दा में भाषण भी दिया । तमिल मुक्ति मोर्चे का एक

वरिष्ठ प्रतिनिधि भी न्यूयार्क के सम्मेलन में शामिल हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न अलगाववादी गुट मिलकर खालिस्तान आन्दोलन के पीछे हैं और उन सबका जमघट लंदन में हो रहा है।

हद तो तब हो गई जब बी.बी.सी. ने जगजीत सिंह चौहान को अपने दूरदर्शन कार्यक्रम में भारत विरोधी भाषण देने का अवसर दिया और उन्होंने अपने भाषण में इन्दिरा गांधी की हत्या के लिए उकसाने का भी संकेत दिया। अब यह बात छिपी नहीं है कि चौहान ने इन्दिरा गांधी की हत्या करने वाले को ७५,००० पौण्ड इनाम देने की घोषणा की थी।

इन्दिरा और राजीव ही नहीं, चरण सिंह, अटलबिहारी वाजपेयी और जगजीवन राम से लेकर भाजपा और आर्य समाज के अनेक नेताओं तक के नाम भिण्डरांवाले की 'हिट लिस्ट' में शामिल थे। उन सबको हत्या की धमकी के पत्र मिल चुके थे। दिल्ली में लगभग एक हजार पुलिसमैन भारत सरकार ने उन सब नेताओं की सुरक्षा के लिए तैनात किए थे जिनको धमकी भरे पत्र मिले थे। इन्दिरा गांधी के निवास स्थान की चौकसी के लिए लगभग २०० पुलिसमैन और सादी वर्दी में अनेक गुप्तचर तैनात किए गए थे।

इन सब नेताओं की हत्या के लिए हथियारों की तस्करी का षड्यंत्र भी सामने आया है। २० जुलाई को तीन विदेशी रिवाल्वरों और ४५० कारतूसों सहित सेवा-निवृत्त ब्रिगेडियर जागीर सिंह पालम हवाई अड्डे पर पकड़ा गया। जागीर सिंह के शाबेग सिंह के साथ घनिष्ट सम्बन्ध थे। शाबेग ने जागीर सिंह को आश्वासन दिया था कि उसे खालिस्तानी सेवा में बड़ा पद दिया जाएगा। इस जागीर सिंह ने स्वीकार किया कि पंजाब में सैनिक कार्रवाई के बाद कुछ लोगों ने एक खूनी षड्यंत्र तैयार किया था जिसका उद्देश्य बड़े नेताओं की हत्या करना था। इस गुप्त बैठक में गोपाल सिंह गिल, लछमन सिंह सिरोठिया, सुखजीत सिंह और जागीर सिंह शामिल थे। जागीर सिंह अमरीका और ब्रिटेन में काफी पैसा इकट्ठा करके कुछ हथियार लेकर भारत चले आए। बाकी हथियार पाकिस्तान के रास्ते से आने का समझौता हो चुका था। जागीर सिंह इससे पहले भी उग्रवादियों को हथियार सप्लाई करने में सक्रिय भूमिका निभा चुके है। जागीर सिंह का सेना के उन कई रिटायर्ड अफसरों से भी गहरा सम्बन्ध रहा है जिनकी उग्रवादियों के साथ सहानुभूति थी।

भारत में अस्थिरता पैदा करने की यह योजना केवल असम और पंजाब से ही शुरू नहीं हुई। भारत के आजाद होने के तुरन्त बाद ब्रिटिश और पाकिस्तानी तत्वों ने नगा नेता फिजो को स्वतंत्र नगालैण्ड के लिए उकसाया था। चीन ने जब नगा और मिजो विद्रोहियों को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तब उस आंदोलन में जान पड़ गई। पूर्वी पाकिस्तान के चटगांव के पर्वतीय प्रदेशों में यह प्रशिक्षण दिया जाता था। बंगला देश के उदय में भारत के सहयोग का यह बहुत बड़ा कारण था।

जब आन्ध्र प्रदेश, केरल और बंगाल में नकसलवादियों का आंदोलन शुरू हुआ तो माओ के चीन का संकोच और भी जाता रहा और उसने नैतिक और भौतिक दोनों तरह का सहयोग उस आंदोलन को देना प्रारम्भ कर दिया।

जब सिक्किम के भूतपूर्व चोग्याल पालडेन थोंडुप नामग्याल ने अमेरिकन युवती होप कुक से विवाह किया, तब अमरीकी तत्वों ने बिना समय खोये चोग्याल के दिमाग में यह भूत सवार कर दिया कि वह सिक्किम को 'पूर्व का स्विट्जरलैण्ड' बना सकता है। इस षड्यंत्र में अमरीका और चीन दोनों की समान रूप से दिलचस्पी थी।

जब सिक्किम में, या केरल, बंगाल और आन्ध्र में नक्सलवादियों को कहीं भी सफलता नहीं मिली, तथा अरुणाचल, मेघालय, मिजोरम और नागालैण्ड में उनके सपने पूरे नहीं हुए, तब नक्सलवादियों ने अपना अड्डा पंजाब को बनाया। भिण्डरांवाले के मरजीवड़ों में कितने नक्सलवादी थे, यह कहना कठिन है। किन्तु जिस प्रकार बैंकों में डकैती और पुलों तथा रेल मार्गों को तोड़ने, स्टेशनों को जलाने और नहरों को काटने की वारदातें हुई हैं, उनसे यह लगता है कि इन उग्रवादियों में नक्सलवादी भी कम नहीं रहे होंगे। स्वर्ण मंदिर में चीन-निर्मित हथियारों के मिलने की गुत्थी भी इसी तरह सुलझ सकती है कि ये हथियार उन नक्सलवादियों द्वारा लाये गए जिनका चीन से सीधा सम्बन्ध था।

विदेशी पांवों पर खड़ा आंदोलन

चौहान, ढिल्लों, बेन्स और भुल्लर – कहने को ये चार नाम हैं केवल, परन्तु अकेले ब्रिटेन में ऐसी दर्जन भर संस्थाएं और ऐसे बीसियों नेता खड़े हो गए हैं। जम्मू - कश्मीर लिबरेशन फ्रंट, अफगान शरणार्थी गुट और अन्य कई ऐसे निवासित आतंकवादी संगठन खालिस्तानियों की मदद पर आ गए हैं। यूरोप के देशों और अमरीका की सरकार तथा उनकी गुप्तचर संस्थाएं इन खालिस्तानियों की अपने-अपने मतलब से मदद करती हैं। भारत के धर्मनिरपेक्ष और प्रजातांत्रिक चरित्र को बदनाम करने में पाकिस्तान को भी कम प्रसन्नता नहीं होगी।

इसके अलावा ब्रिटेन, कनाडा और अमरीका आदि देशों में जो लाखों सिख जाकर बस गए हैं, उनमें से अधिकतर खाते-पीते लोग हैं, जिन्होंने अपनी मेहनत से वहां खूब पैसा कमाया है। कुछ परिवार तो पीढ़ियों से वहां रह रहे हैं। पंजाब में शायद ही कोई ऐसा घर होगा जिसका कोई न कोई सदस्य विदेश में न हो। कई गांव के गांव खाली हो गए हैं – वहां खेती करने वाले चन्द किसानों के सिवाय और बहुत कम लोग रह गए हैं। कनाडा ने एक हवाई सर्विस शुरू की है उन सिखों के लिए जिनके पूर्वज कभी कनाडा गए थे, और उनके वंशज अब अपने पूर्वजों की जन्मभूमि के दर्शन करना चाहते हैं।

इनके बारे में 'जनसत्ता' में श्री आत्म प्रकाश विकल ने लिखा है – "ये लोग सिख या भारतीय से ज्यादा उन देशों के बन गए हैं। उनका पश्चिमीकरण इतनी तेजी से हुआ है कि उनके तौर - तरीके, रवैये और जीवन - पद्धति और पंजाब के सिखों की जीवन - पद्धति में आकाश-पाताल का अंतर है। इनकी धार्मिकता पर भी पश्चिम का असर है। इनमें से ज्यादातर लोग केश भी उस तरह नहीं रखते जिस तरह रखे जाने चाहिएं। इनके पास सब कुछ है, पर ये अपनी जमीन से उखड़ हुए लोग हैं और पश्चिम की जमीन में इन की जड़ें नहीं हैं। ये लाख कोशिश करने पर भी पूरी तरह पाश्चात्य रंग में रंग नहीं सकते। पाश्चात्य समाज में इनका कोई स्थान सहज सम्मान का नहीं है और न वहां की राजनीतिक व्यवस्था में इनका कोई दखल और दबदबा है। वे त्रिशंकु की तरह बीच में लटके हुए हैं। खालिस्तान या सिख होम लैण्ड की सबसे अधिक चाह इन्हीं लोगों की है। हालांकि पश्चिम की यांत्रिकता और सुख - सुविधा छोड़कर ये कभी पंजाब में वापिस आकर बसने वाले नहीं हैं।

"इन सिखों के मन में पंजाब के लिए कसक है। वापिस अपनी जमीन से जुड़ने की एक हुमक है उनमें। वे एक ऐसा देश चाहते है जिसके वे बाहरी और निर्वासित अल्पसंख्यक न हों, बल्कि राजा हों, भले ही वे उसमें कभी लौटकर न आवें। जाहिर है कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरों

पर इन सिखों की भावनाओं और अनुभूतियों का पंजाब के सिखों से ज्यादा मेल नहीं है। पंजाब का सिख भले ही इनकी तरह धनवान न हो, पर वह अपनी मातृभूमि से उखड़ा हुआ नहीं है। देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उसके दांव हैं। चाहे अकाली दल के जरिये या कांग्रेस के जरिये वह अपनी राजनीतिक भागीदारी निभाता है। इसीलिए सिख होमलैंड का नारा विदेशी सिखों का ही ज्यादा है। स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई के बाद जो लोग खालिस्तान के नारे लगाते हैं वे या तो भिण्डरांवाले के और उसके साथियों के चेले हैं या अपना गुस्सा निकालना चाहते हैं। इन लोगों को कोई शक नहीं है कि विदेशों में रहने वाले सिखों से उन्हें मदद सदा मिलती रहेगी।''

इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि खालिस्तान का आंदोलन अपने पैरों पर खड़ा होने के बजाय विदेशी पैरों पर खड़ा है। भारत में इसके समर्थक वे लोग हैं जिनकी देशभक्ति सदा संदिग्ध रही है और विदेशों में इसके समर्थक वे लोग हैं जो अपनी जमीन से उखड़े हुए हैं। रही बात पाकिस्तान, ब्रिटेन, कनाडा, अमरीका या चीन की। इनको सिखों के हित-अहित से कोई वास्ता नहीं, इनको केवल भारत में अस्थिरता पैदा करने की चिन्ता है, इसलिए वे सिखों या खालिस्तान का ही नहीं, प्रत्येक ऐसे आंदोलन का और ऐसे लोगों का समर्थन करने को तैयार हैं जो भारत के विघटन में रुचि रखते हों। उनके सामने केवल राजनीतिक उद्देश्य है।

प्रश्न यह है कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र का सामना करने के लिए किसी भी देश की सरकार क्या करती ? क्या इन षड्यंत्रकारियों की आरती उतारती, निर्मम हत्याओं में निर्भीकता के लिए उन्हें अशोक चक्र प्रदान करती ? फिर वह सरकार सरकार नहीं रहती, बल्कि उसके स्थान पर ये षड्यंत्रकारी ही सिंहासन पर आसीन होते। कोई समर्थ सरकार ऐसा कभी नहीं होने देती।

इस सारे काण्ड में इन्दिरा गांधी का चुनाव जीतने का करिश्मा देखने वालों से निवेदन है कि यदि इन्दिरा गांधी के बजाय कोई और प्रधानमंत्री होता, तो क्या वह इससे भिन्न कुछ कदम उठाता ? क्या पं. नेहरू, सरदार पटेल, लालबहादुर शास्त्री, मोरार जी देसाई या चरण सिंह के कार्यकाल में इसी प्रकार का, इतने बड़ पैमाने पर, अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र होता, तो क्या वे सैनिक कार्रवाई न करते ?

घटना घट चुकने के बाद बुद्धिमत्ता बघारना बहुत आसान होता है। सरदार खुशवंत सिंह ने बी.बी.सी. पर भिण्डरांवाले को पागल बताया था, तो भिंडरांवाले की हिट लिस्ट में सरदार साहब का नाम भी आ गया था। पर इस सैनिक कार्रवाई के बाद जिस तेजी से सरदार साहब ने 'पद्म भूषण' लौटाकर अपनी बिरादरी से अपनी एकात्मता प्रकट की है, उसकी सफाई में उनका कहना है कि सरकार भले ही स्वर्णमंदिर की घेराबंदी कर लेती, बिजली और पानी का कनैक्शन काट देती, उन्हें भूखों मरने देती और उन्हें बाहर आकर हमला करने पर विवश कर देती, पर सेना स्वर्ण मन्दिर में घुसकर कार्रवाई नहीं करती। यह सबसे गलत काम हुआ है।

इस बचकानी बात पर हंसी आती है। स्वर्ण मंदिर में गेहूं की दस हजार बोरियां पहले से रखी थीं, इसलिए भूखों मारने की बात नहीं बनती। पानी का कनैकशन काटने से क्या अंदर के उग्रवादी प्यासे मर जाते ? फिर पूरा सरोवर और अनेक हैण्ड पंप किस काम के थे ? बिजली का कनेक्शन काट देते तो क्या जनरेटर से काम नहीं चलाया जा सकता था ? घेरा बंदी करते? कितने महीने तक ? क्या लाखों देहाती सिख उस घेराबंदी को नाकारा नहीं कर देते ?

इसीलिए यह स्वीकार करना पड़ता है कि सैनिक कार्रवाई के सिवाय और कोई चारा नहीं था। इसीलिए एक कनाडियन पत्रकार के पत्र के उत्तर में इन्दिरा गांधी ने लिखा था : ''सबसे पहली बात तो यह कि उन लोगों ने हथियार क्यों जमा किये थे ? फिर दूसरी बात यह कि इन्होंने स्वर्ण मंदिर में

शरण क्यों ली थी ? क्या वे यह नहीं समझे बैठे थे कि वहां से उनको पकड़ा नहीं जा सकता और वे आम सिख जनता की धार्मिक आस्था का दुरुपयोग कर सकते हैं ? क्या उनको स्वर्ण मंदिर में बैठकर हिन्दुओं और सिखों की हत्या करने दी जाती ? जब इन सशस्त्र गतिविधियों के बारे में गुरुद्वारे के प्रबंध के लिए जिम्मेवार कमेटियों का ध्यान सरकार ने बार-बार खींचा, तो उन्होंने कोई कार्रवाई की ? जिस स्वर्ण मंदिर में घुसने से पहले घड़ी, छाता और सब हथियार बाहर रखवा लिये जाते थे, उसी स्वर्ण मंदिर में विदेशों में बने और विदेशों से आयातित घातक आधुनिक हथियार कैसे पहुँच गए ? यदि स्वर्ण मंदिर से आतंक और अपराध का यह सिलसिला नहीं चलता तो सेना को स्वर्ण मंदिर में घुसने की आवश्यकता ही क्या थी ? क्या कोई अपराध केवल इसीलिए कम जघन्य और कम घृणास्पद हो जाता है क्योंकि वह किसी गुरुद्वारे या मस्जिद और मन्दिर में बैठकर किया गया है ?" और अन्त में प्रधानमंत्री ने लिखा था : "मेरा राष्ट्र के प्रति और सिख समाज के प्रति भी कुछ दायित्व है, कुछ कर्तव्य है। मैंने अपने उसी दायित्व और कर्तव्य को पूरा किया है।"

राष्ट्र के प्रति इस दायित्व को पूरा करने के लिए क्या इन्दिरा गांधी को मुर्दाबाद कहा जाए ? नहीं, हरगिज नहीं।

सरदार खुशवन्त सिंह की आवाज फिर कान में पड़ती है –

"यह तो चूहों को मारने के लिए घर तोड़ा गया है।"

नहीं सरदार साहब ! जब कोई चींटी भी हाथी की सूंड में घुस जाती है तो प्राणघातक सिद्ध होती है। फिर यहां तो पूरा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र था। और वह इस महान् देश को निगल जाना चाहता था। जिनको आप चूहे कह रहे है, वे चूहे ही सही, पर वे इस घर की नींव में सेंध लगा रहे थे। घर की रक्षा के लिए उनका सफाया आवश्यक था। यह घर तोड़ा नहीं गया, बल्कि टूटने से बचा लिया गया। घर बचाने वाले चौकीदार को 'मुर्दाबाद' कहोगे या 'जिन्दाबाद' ?

१४ नया सवेरा : अभी अंधेरा

८ जून, १९८४।

५ और ६ जून की लम्बी काल रात्रि बीत चुकी थी। पर इन दोनों रातों में न राष्ट्रपति को नींद आई, और न प्रधानमंत्री को। दोनों अपने-अपने कारणों से चिन्तित थे। प्रधानमंत्री इन दोनों दिन चौबीसों घण्टे अपने साउथ ब्लाक के दफ्तर में बैठी रहीं।

खेल खत्म होने की सूचना मिल चुकी थी। नया खेल शुरू हो गया था। राष्ट्रपति भवन में तारों का अम्बार लग गया। पत्रों का भी। आखिर उन सबको देखने के लिए एक अलग अफसर नियुक्त करना पड़ा।

तारों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :-

"इतिहास में सिखों पर इतने अत्याचार कभी नहीं हुए। मस्सा रांधड़ और जकारिया खान की तरह तुम भी पुरस्कृत होगे। तुम्हारे जैसे निकृष्टतम सिख के हाथों ज्यादतियों के लिए हम तैयार हैं। आजाद पंथ की शान को कायम रखने के लिए विदेशों से शहीदों के जत्थे आएंगे। अब तुम सिखों को अपने जूए के नीचे नहीं रख सकते। हम आजाद और सर्वप्रभुत्व सम्पन्न कौम की घोषणा करते हैं।"
—बब्बर खालसा, टोरांटो

"क्या कहने हैं तुम्हारे नाम के — लाला जेल चंद।" —धर्मकौर खालसा, बाल्टीमोर

"हिंसा की हद हो गई। तुम्हारे सिख होने पर लानत है। कुछ भी जमीर हो तो इस्तीफा दो।"
—ज्यौरजिया, अमरीका, मैट्रोअतलांता के सिख।

"सिखों की हत्या बन्द करो, या इस्तीफा दो।"
—मैट्रोपोलिटन विंडसर (यू.के.) की सिख कल्चरल सोसायटी

"हवाई के सिख तुमसे इस्तीफे की मांग करते हैं।" —हवाई का सिख एसोसियेशन

दूसरी ओर ऐसे तारों की भी कमी नहीं थी जो राष्ट्रपति से इस्तीफा न देने को कह रहे थे :-

"इस संकट के समय मेरी संगत की प्रार्थनाएं आपके साथ हैं। अपने पद पर बने रहो। सिखों को आपके राष्ट्रपति बने रहने की जरूरत है। गुरु तुमको इस संकट से भी पार लगाएंगे।"
—सतजीवन सिंह, खालसा सिख धर्म, (यू.के.)

"इस धरती पर गुरु की कृपा हो। प्रार्थना की शक्ति का प्रयोग करो। अपने पद का उपयोग शान्ति स्थापित करने के लिए करो। इस्तीफा मत दो।" —शती परवा कौर खालसा, एंजेल्स

"सब कुछ परमात्मा की ओर से होता है। इस्तीफा मत दो।

—दुख निवारण कौर खालसा, ह्विप्, एपटन

ऊपर हमने विदेशों से आने वालें तारों का हिन्दी अनुवाद दिया है। इसी प्रकार के मिले जुले तार भारत के विभिन्न प्रदेशों से भी आ रहे थे। ज्ञानी जी पर और भी अनेक ओर से दवाब पड़ रहे थे। प्रसिद्ध पत्रकार खुशवंतसिंह ने पद्मभूषण लौटा दिया था। पटियांला राजवंश के उत्तराधिकारी अमरेन्द्र सिंह ने संसद से और इन्का से इस्तीफा दे दिया था। एक अन्य सांसद देविन्दर सिंह गरचा ने लोक सभा से इस्तीफा दे दिया था। अनेक सिख अफसर विभिन्न शहरों में अपने-अपने ढंग से विरोध कर रहे थे। दिल्ली के पंजाब सिंध बैंक के कर्मचारियों ने स्वर्ण मंदिर में सेना के प्रवेश की खबर सुनते ही बैंक में स्थान-स्थान पर लगे ज्ञानी जी के चित्र उतार कर फाड़ डाले थे और बैंक के द्वार पर 'दी बैंक आफ खालिस्तान' का बैनर लगा दिया था।

इसी बीच समाचार आने लगे कि सिख जवान सैनिक छावनियां छोड़-छोड़ कर अमृतसर की ओर कूच कर रहे हैं। बिहार के रामगढ़, राजस्थान के गंगानगर, उत्तरप्रदेश के गोरखपुर, और गुजरात तथा महाराष्ट्र के ठिकानों से भी सिख सैनिकों के कूच के समाचार आने लगे। पुणे के भगोड़े सैनिकों ने तो बम्बई के अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर कब्जा करने का भी प्रयत्न किया। पाकिस्तान का रेडियो और टेलिविजन तथा ब्रिटेन का बी.बी.सी. निरन्तर भड़काने वाले समाचार प्रसारित कर रहे थे। पाकिस्तान रेडियो कह रहा था कि दरबार साहिब नष्ट हो गया है, सिखों का कत्लेआम हो रहा है और सिख महिलाओं से बलात्कार किया जा रहा है। इन समाचारों से जवानों का भड़कना स्वाभाविक था। कुछ छावनियों में प्रशिक्षणार्थी के नाते पाकिस्तान के जासूस भी काम कर रहे थे। रामगढ़ में उत्तेजित जवानों ने ब्रिगेडियर आर.एस.पुरी. की हत्या कर दी थी और उनसे शस्त्रागार की चाबी छीनकर हथियार लेकर सेना के वाहनों में ही भाग निकले थे। इनमें से कुछ लोग बरेली और इटावा तक पहुंच भी गए थे। पर भारतीय सुरक्षा सैनिकों ने यहां भी अत्यन्त जागरूकता का परिचय देकर उन सब प्रयत्नों को विफल कर दिया।

जो लोग भिण्डरांवाले के समर्थक नहीं थे, वे भी उसके द्वारा स्वर्ण मंदिर के अंदर की गई हत्याओं को भूलकर अपने आहत स्वाभिमान की खातिर कह रहे थे कि जब गृहमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने संसद में कई बार यह कहा था कि सेना स्वर्ण मंदिर में नहीं जाएगी, फिर क्यों गई?

नान्देड़ के मुख्यग्रन्थी ने चार अन्य व्यक्तियों के साथ राष्ट्रपति जैसे निष्ठावान सिख को पंथ से निष्कासित कर दिया था।

इन सब कारणों से ज्ञानी जी के समस्त राजनीतिक जीवन में जैसी दुविधाजनक स्थिति कभी पैदा नहीं हुई थी, वह पैदा हो गई थी। यह ठीक है कि अन्य राष्ट्रपतियों के समक्ष भी दुविधा की घड़ियां आई थीं। डा. राजेन्द्रप्रसाद के समक्ष प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के अधिकारों को लेकर और डा. राधाकृष्णन के समक्ष चीन और पाकिस्तान के आक्रमण (१९६२ और १९६५) के समय। श्री वराह व्यंकट गिरि का अधिकांश जीवन श्रमिकों के संगठन में बीता था, इसलिए जब १९७४ में रेलवे हड़ताल के समय उन्हें कर्मचारियों के विरुद्ध अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने पड़े, तब उन्हें कैसा लगा होगा? कैसा लगा होगा फखरुद्दीन अली अहमद को जब उन्हें इमर्जेन्सी लागू करने की घोषणा पर

हस्ताक्षर करने पड़े थे। नीलम संजीव रेड्डी को सन् १९७९ में अभूतपूर्व संवैधानिक संकट का सामना करना पड़ा। पर ज्ञानी जैल सिंह के सामने जैसी दुविधा थी, उसके सामने अन्य राष्ट्रपतियों की दुविधाएं गौण पड़ जाती हैं।

८ जून को सवेरे ही अचानक प्रसिद्ध समाचार समीक्षक ..., (नाम न वताने के लिए क्षमा करें) को प्रधानमंत्री निवास से फोन मिला कि तुम्हें अभी अमृतसर स्वर्ण मंदिर जाकर आज रात को ही रेडियो से आंखों देखा हाल प्रसारित करना है। वे घरवालों को भी सूचित नहीं कर पाए, तुरन्त अमृतसर पहुंचे। स्वर्ण मंदिर में अकाल तख्त के मुख्य ग्रन्थी ज्ञानी साहिब सिंह ने उनको देखते ही कहा कि मैं अलग से आपको इंटरव्यू दूंगा कि भिण्डरांवाले ने किस प्रकार हमारे गले में अंगूठा डालकर हमसे अकाल तख्त का ४ करोड़ रुपये का सोना छीन लिया।

राष्ट्रपति स्वर्ण मंदिर में

इतने में समीक्षक महोदय क्या देखते हैं कि राष्ट्रपति का काफिला स्वर्ण मंदिर की ओर बढ़ा चला आ रहा है। इससे पहले राष्ट्रपति के पहुंचने की सूचना किसी को नहीं थी। राष्ट्रपति अपनी आंखों से स्वर्ण मंदिर की हालत देखने को बेताब थे। आपरेशन के दौरान प्रत्येक मिनट की गतिविधि से अवगत रहने का उनका आग्रह था। प्रथम अवसर मिलते ही वे तुरन्त स्वर्ण मंदिर पहुंच गए।

स्वर्ण मंदिर पहुंचते ही उनके सैक्रेटरी त्रिलोचन सिंह—जिनको अंदर से अकालियों से सहानुभूति रखने वाला माना जाता है—न जाने कहां गायब हो गए। स्वर्ण मंदिर के परिक्रमा-पथ में वे राष्ट्रपति के साथ नहीं थे। शायद वे गुप्त रूप से अपनी इनक्वायरी कर रहे थे। उग्रवादियों की ओर से छिटपुट गोलीबारी अभी जारी थी। राष्ट्रपति की सुरक्षा के लिए साथ चल रहे एक कमांडो को गोली लगी, पर बुलेट प्रूफ जाकेट से टकराकर वह गिर पड़ी। राष्ट्रपति के चेहरे पर एक उदासी भरी मुस्कराहट तैर गई।

हरमंदिर को सुरक्षित देखकर राष्ट्रपति को तसल्ली हुई, पर अकाल तख्त के विध्वंस को देखकर उनकी आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई। करीब २० मिनट तक वे बुत बने खड़े रहे। उनकी अश्रुधारा नहीं रुकी।

इसके बाद प्रसाद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति ने हरमंदिर की पौड़ियों को छूते हुए पवित्र सरोवर के जल का आचमन किया। उस समय उनके साथ केवल मुख्य ग्रंथी साहिब सिंह थे। साहिब सिंह ने कहा—'हजूर। सेना अंदर एक नहीं, नौ टैंक ले आई और उसने अकाल तख्त को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया।' राष्ट्रपति ने संभवतः अपने मुख से कुछ नहीं कहा, परन्तु साहिब सिंह को इस छोटी सी मुलाकात से और राष्ट्रपति को अपनी आंखों से अश्रु-विभोर देखकर कुछ इस तरह की राहत मिली कि उसके बाद जब समाचार-समीक्षक ने इंटरव्यू की याद दिलाई तो उसने साफ कह दिया – 'अब जब सब कुछ खत्म हो चुका, तो इंटरव्यू देकर क्या करना है ?'

साहिव सिंह के इस रुख परिवर्तन को देखकर समीक्षक को आश्चर्य हुआ। सैक्रेटरी त्रिलोचन सिंह की संदिग्ध गतिविधियों के कारण बाद में उन्हें निलम्बित किया गया। पर राष्ट्रपति के विशेष आग्रह के कारण उन्हें वापिस बुला लिया गया।

इसके बाद राष्ट्रपति कोप भवन में चले गए। उन्होंने किसी से भी मिलना बंद कर दिया। टेलिफोन तक सुनना छोड़ दिया। अपने सब सार्वजनिक कार्यक्रम रद्द कर दिए। इसी बीच राजीव

गांधी उनसे मिलने गए, इन्दिरा गांधी भी गईं और दोनों की अलग-अलग उनसे देर तक बातचीत भी हुई, पर न उनका कोप शान्त हुआ, न शोक।

स्वर्ण मंदिर से लौटने के बाद राष्ट्रपति के इस मौन धारण पर सारा राष्ट्र स्तब्ध रह गया। राष्ट्र उनसे असलियत सुनने को उत्सुक था। पर वे मौन थे।

इस बीच तरह-तरह की अफवाहें उड़ने लगीं। राष्ट्रपति इस्तीफा देंगे। आज नहीं, तो कल। कल नहीं, तो परसों। फिर सेना में मौजूद सारे सिख विद्रोह करेंगे। राष्ट्र की नब्ज जैसे थम गई थी। इस आसन्न विभीषिका के कारण, इंका के जो महारथी आपरेशन से आम चुनावों का गणित बिठाने में लगे थे, वे भी रुक गए। कहीं सारा दांव उलटा तो नहीं पड़ जाएगा!

तभी ८ जून को प्रधानमंत्री अचानक आबू गईं। इतनी कार्य-व्यस्तता के बावजूद प्रधानमंत्री को आबू में ऐसा क्या काम पड़ गया? कहने को पुलिस रैली को सम्बोधित करना था। पर वास्तव में तोहड़ा और लोंगोवाल से बात करनी थी। इन दोनों को पहले आबू ले जाने की ही बात थी। फिर पता लगा कि पहले इन दोनों को पूछताछ के लिए पश्चिमी कमान के मुख्यालय—शिमला—ले जाया गया है। तब प्रधानमंत्री का शिमला जाने का प्रोग्राम बना। परन्तु अखबार वालों को इसकी भनक लग गई और एक अखबार ने यह खबर छाप दी। तब प्रधानमंत्री के सलाहकारों ने उन्हें परामर्श दिया कि इससे सिख और भड़क जाएंगे। क्योंकि आत्म-समर्पण के कारण सिखों में लोंगोवाल और तोहड़ा की विश्वसनीयता समाप्त हो चुकी है और वे कायर समझे जा रहे हैं। प्रधानमंत्री की शिमला यात्रा रद्द हो गई। लोंगोवाल और तोहड़ा का आबू पहुंचाने का प्रयोजन तब समाप्त हो चुका था, इसलिए उन्हें आबू के बजाय उदयपुर और जोधपुर पहुंचा दिया गया।

प्रधानमंत्री ९ जून को लद्दाख के लिए रवाना हो गईं।

प्रधानमंत्री की यह यात्रा सर्वथा अप्रत्याशित हुई थी। देश में उसकी विशेष चर्चा नहीं हो पाई। अखबार वालों ने भी विशेष ध्यान नहीं दिया। सरकार ने उसे अधिक प्रचारित नहीं किया। इस यात्रा का उद्देश्य क्या था, वह पीछे स्पष्ट हुआ।

लद्दाख यात्रा क्यों?

अमृतसर के आपरेशन से लगभग तीन मास पहले, जम्मू कश्मीर के सीमावर्ती क्षेत्र नौशेरा में ५ फरवरी से २४ फरवरी तक पाकिस्तान की ओर से निरन्तर गोलीबारी हुई थी। भारतीय सेना ने भी उसका उचित उत्तर दिया था। आपरेशन से ठीक पहले पुंछ के क्षेत्र में कुछ छेड़खानी हुई थी। और वह सर्वथा नगण्य नहीं रही होगी, यह इसी बात से स्पष्ट है कि स्थल सेनाध्यक्ष श्री वैद्य को वहां जाना पड़ा था।

जिन दिनों स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई हो रही थी, ऐन उन्हीं दिनों में पाकिस्तान ने लद्दाख के निकट नुबरा घाटी पर कब्जा कर लिया। उससे पहले, कारगिल से सिपचित ग्लेशियर तक पाकिस्तानी सैनिकों का बड़े पैमाने पर जमाव हो गया था और सीमावर्ती गांवों को खाली करवा के पाक सेना ने नियंत्रण स्थापित कर लिया था। सिपचित ग्लेशियर के क्षेत्र में खुंजरेब दर्रे के आसपास बलूची सैनिकों को तैनात किया गया था जिसका विशेष उद्देश्य यही था कि अवसर मिलते ही वे जम्मू-कश्मीर में घुसपैठ करेंगे और छापामार दस्तों के रूप में काम करेंगे। उस अवसर का निश्चय

करने के लिए और भारतीय सेना की सतर्कता की परीक्षा के लिए ही पाकिस्तानी सेना ने लगभग १९ हजार फुट ऊंची नुबरा घाटी पर कब्जा कर लिया था। सोचा था, इतनी ऊंचाई पर चुपचाप कब्जा कर लेने से किसी को क्या पता लगेगा।

शायद योजना यह थी कि अकसाई चिन में चीनी सेना जमा है ही। काराकोरम की बारह मासी सड़क बन जाने से चीन का पाकिस्तान से सीधे आवागमन का रास्ता खुल ही चुका है। इधर अमृतसर के स्वर्ण मंदिर में सेना प्रविष्ट होगी, उधर पाकिस्तान और चीन की सेना भी इस अवसर पर कोई बड़ी कार्रवाई नहीं तो छोटी-मोटी कार्रवाई करके उग्रवादियों को दिए अपने वचन का पालन करेगी। पं. जर्मनी स्थित खालिस्तान सूचना केन्द्र ने यह बात प्रचारित भी की थी।

परन्तु भारतीय सेना भी गाफिल नहीं थी। नुबरा घाटी पर पाकिस्तानी कब्जा होते ही इधर से उसे खाली करवाने के लिए सैनिकों ने अभियान शुरू किया और दूसरी ओर से पाकिस्तानी सैनिकों के पीछे हेलिकोप्टर से छाताधारी सैनिक उतार दिये। इस तरह पाकिस्तानी सेना की टुकड़ी दोनों ओर से घिर गई और तब उसके पास नुबरा घाटी को खाली करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहा। भारतीय सेना ने यह कार्रवाई इतनी तेजी से की कि कश्मीर की सरकार को भी उसके पूरा हो जाने के बाद ही पता लगा।

ऐसी स्थिति में अपने सैनिकों का हौसला बढ़ाने के लिए प्रधानमंत्री का लद्दाख जाना ठीक ही था।

पर इस यात्रा का एक कारण और भी था।

स्वर्णमंदिर में सेना के प्रवेश का समाचार सुनते ही पाकिस्तान द्वारा भड़काए जाने पर सिख सैनिक अनेक छावनियों से भाग पड़े थे। कुल मिलाकर लगभग २००० सिख सैनिक भारत के विभिन्न स्थानों से भागे थे। लद्दाख में जो भारतीय सेना तैनात थी, उसमें सिखों की संख्या काफी थी। यदि ये सिख भी विद्रोह पर उतर आते तो पाकिस्तानी और चीनी सेना को शरारत का मुहमांगा अवसर मिल जाता। उन सिख सैनिकों को यह विश्वास दिलाना आवश्यक था कि स्वर्ण मंदिर की कार्रवाई सिखों के विरुद्ध नहीं, केवल चन्द उग्रवादियों के विरुद्ध थी, जो विदेशों की शह पर राष्ट्र के विघटन पर आमादा थे। जब प्रधानमंत्री ने भरे गले से और अश्रु-विगलित आंखों से सिख सैनिकों के समक्ष कहा – "मैं केवल भारत की प्रधानमंत्री ही नहीं, एक मां भी हूं और मुझे पता है कि बेटे के मरने का दुःख क्या होता है। पंजाब में मरने वाले प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु का समाचार सुनकर मेरा हृदय हाहाकार करता था और मुझे लगता था कि मेरा एक संजय और चला गया।" इन शब्दों ने सिख सैनिकों के दिलों पर मरहम का कैसा काम किया होगा!

प्रधानमंत्री की ताशकंद यात्रा

पर प्रधानमंत्री की इस लद्दाख - यात्रा का एक तीसरा कारण भी था जो और भी अधिक महत्वपूर्ण था।

पहले अध्याय में हमने उल्लेख किया है कि भिण्डरांवाले ११ जून को ख़ालिस्तान की घोषणा करने वाले थे, पर सेना उससे पहले ही उनके मनसूबे मिट्टी में मिला देगी, यह कल्पना उन्हें नहीं थी। जिस दिन स्वर्ण मंदिर को चारों ओर से सेना ने घेर लिया उस दिन ३ जून थी। यह गुरु अर्जुन

देव का बलिदान दिवस था। इसलिए लगभग १२०० स्त्री-पुरुष गुरु अर्जुन देव की शहादत पर अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करने के लिए स्वर्ण मंदिर में पहुंचे हुए थे। भिण्डरांवाले को यह तो अंदाज लग गया था कि अब सैनिक कार्रवाई होगी, पर उनका खयाल था कि सेना को कार्रवाई करने में कम से कम एक सप्ताह लग जाएगा। तब तक हम आम देहाती सिख जनता तक यह समाचार पहुंचा देंगे और हजारों सिख यहां इकट्ठे हो जाएंगे। कोई कार्रवाई पहले हुई भी तो उसे रोक सकने की पूरी तैयारी हमारे पास है ही। फिर कार्रवाई की भनक पड़ते ही सिख जनता स्वयं उमड़ पड़ेगी। उन हजारों लाखों आदमियों के आ जाने पर सेना कुछ नहीं कर सकेगी और हम सबके सामने ११ जून को खालिस्तान की स्थापना की घोषणा कर देंगे।

पर सेना ने सबसे पहला काम यह किया कि कर्फ्यू लगा दिया—और उसे तब तक बढ़ाती गई जब तक आपरेशन पूरा नहीं हो गया। फिर समाचारों पर प्रतिबंध, संवाददाताओं पर प्रतिबंध, रेलों पर प्रतिबंध, वाहनों पर प्रतिबंध, किसी भी प्रकार के यातायात पर प्रतिबंध। पूरे पंजाब को 'सील' कर दिया और मरीज को आपरेशन रूम में बिल्कुल बंद करके आपरेशन किया।

सेना का अंदाज भी गलत निकला। उसे उम्मीद थी कि अधिक से अधिक दो घंटे में आपरेशन पूरा हो जाएगा। उग्रवादियों ने इस प्रकार लड़ाई की तैयारी कर रखी होगी-जैसी किसी शत्रु देश की सेना ने, बल्कि उससे भी अधिक, उनके पास १२ मील तक मार करने वाली मशीनगनें और टैंक तोड़क प्रक्षेपास्त्र भी होंगे, यह किसे कल्पना थी। इसीलिए दो घन्टे के बजाय आपरेशन पूरा होने में ३६ घंटे लगे।

७ जून सवेरे तक भिण्डरांवाले का खेल तो खत्म हो चुका था, पर अभी ११ जून बाकी थी। उस दिन पूर्व योजनानुसार चीन और पाकिस्तान कुछ शरारत करें, तो ?

कहावत है कि समय पीछे से गंजा है, यदि उसे पकड़ना हो तो आगे से ही पकड़ा जा सकता है। इन्दिरा गांधी को ११ जून की पेशबंदी पूरी तरह से करनी थी। इसीलिए लद्दाख यात्रा तो बहाना भर था। असल में तो प्रधानमंत्री को ताशकंद जाकर रूसी नेताओं से बात करनी थीं कि यदि चीन और पाकिस्तान कुछ शरारत करें तो उसके प्रतिकार की योजना कैसे तैयार की जाए। ताशकंद लद्दाख की राजधानी लेह से मुश्किल से घंटे भर की उड़ान है। १० जून की रात को प्रधानमंत्री लेह में नहीं रहीं। वे रात को ही ताशकंद गईं और सवेरा होने से पहले वापिस लौट आईं और ११ जून को दिल्ली पहुंच गईं—ताकि भारत में उस दिन कोई कार्रवाई करनी हो तो तुरन्त की जा सके।

यदि सरकार की ओर से ही स्पष्टीकरण न हो, तो इस प्रकार की खबरों की पुष्टि मुश्किल होती है। पर प्रधानमंत्री ने १० जून की रात को ताशकंद की यात्रा की होगी, इसके सहायक कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं। ९ जून को प्रधानमंत्री ने सी.पी.आई. के प्रमुख नेता श्री सी. राजेश्वर राव से मंत्रणा की थी और उसी मंत्रणा के आधार पर मास्को स्थित भारतीय राजदूत श्री नूरुल हसन ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति श्री चेरेन्कोव से १० जून को रविवार होते हुए भी—जब रूस में अवकाश के कारण सब कामकाज बन्द होते हैं, अकस्मात् ही विशेष भेंट का समय लिया था और चेरेन्कोव १० जून को ताशकंद गए थे।

११ जून आई, और चली गई। न खालिस्तान की घोषणा हुई, न उसे सार्थकता प्रदान करने के लिए चीन और पाकिस्तान की ओर से कोई कार्रवाई हुई।

सुना था महफिल में, गालिब के उड़ेंगे पुर्जे।
देखने हम भी गए, पै तमाशा न हुआ।।

यह सब विस्तार से कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ७ जून को कालरात्रि बेशक समाप्त हो गई, पर सवेरा नहीं हुआ।

उधर ८ जून को स्वर्ण मंदिर से लौटने के बाद राष्ट्रपति कोप भवन में बैठे थे। उनका एक भी गलत वाक्य देश के लिए बरबादी का द्वार खोल सकता था। सारा राष्ट्र दम साधे उनका मौन टूटने की प्रतीक्षा कर रहा था। आपातकाल के हादसे से तो देश किसी प्रकार उबर गया था, पर यदि राष्ट्रपति ने एक बार भी कह दिया होता कि अमृतसर में हुई कार्रवाई से मैं सहमत नहीं हूं, तो इस हादसे से देश कभी उबर न पाता।

इधर निहित स्वार्थ वाले लोग तरह - तरह की अफवाहें उड़ाने में मशगूल थे और प्रधानमंत्री अपनी ओर से सब तरह की स्थितियों से निपटने के लिए पूरी तैयारी कर रही थीं। लोग यह भी कहने से बाज नहीं आ रहे थे कि भिण्डरांवाले ज्ञानी जी की ही सृष्टि था और स्वर्ण मंदिर में यदि इससे पहले कार्रवाई नहीं हुई तो उसका कारण भी ज्ञानी जी ही थे। अकालियों के साथ बातचीत में कोई समझौता न हो पाने में भी लोग उन्हें ही कारण बताते थे। कुछ लोगों ने गड़े मुर्दे उखाड़ते हुए कहना शुरू किया कि सन् १९७२ में पंजाब का मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् ज्ञानी जी ने गुरु नानक विश्वविद्यालय को सक्रिय किया था, चार सौ प्रमुख गुरुद्वारों को चार सौ किलोमीटर लम्बे राजमार्ग से जोड़ा था और एक दर्जन अस्पतालों का नामकरण सिख सन्तों के नाम पर करके अलगाववाद को शुरू किया था।

असल में राष्ट्रपति को किसी और से नहीं, अपने मन से ही जूझना पड़ रहा था। उनकी अपने धर्म के प्रति निष्ठा और राष्ट्रपति के कर्तव्य में द्वन्द्व चल रहा था। यदि हम लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानते हैं तो उसमें निहित ईर्ष्या-द्वेष और चालबाजियों को और उनसे उत्पन्न दुविधाओं को भी झेलना ही होगा। अन्त में जब निर्णय का क्षण आया, तो राष्ट्रपति ने सही निर्णय लिया। भावना पर कर्तव्य की विजय हुई। भले ही इस मानसिक संघर्ष से पार उतरने में उन्हें पूरा एक सप्ताह लग गया। पर अवसर आने पर उन्होंने क्षुद्र राजनेता की तरह नहीं, बल्कि इतिहास-पुरुष की तरह आचरण किया। वे पहले सिख थे जो देश के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। जनता ने उनमें विश्वास प्रकट किया था। प्रधानमंत्री ने यदि उन्हें गृहमंत्री पद से ऊपर उठाकर राष्ट्रपति पद तक पहुंचाने की जी तोड़ कोशिश की थी, तो शायद उनकी यह दूरदृष्टि ही थी--जो भविष्य में पंजाब में आसन्न संकट को स्पष्ट देख रही थी। भारत के सर्वोच्च शुभ्र शिखर पर एक सिख का विराजमान होना १७ जून को सार्थक हो गया, जब भारत के प्रथम नागरिक की हैसियत से ज्ञानी जी ने अपना मौन तोड़कर राष्ट्र को सम्बोधित किया।

उस रविवार की रात को जब राष्ट्रपति ने भाव-विभोर होकर गुरु तेग बहादुर के बलिदान का जिक्र किया और सर्वोच्च सेनापति ने जनता को बताया कि हमारे सैनिकों ने उसी बलिदानी परम्परा का पालन करते हुए अपनी जान दे दी पर हरमंदिर पर गोली नहीं चलाई, जबकि उधर से भारतीय जवानों पर दनादन मशीनगनों से गोलियां चल रही थीं, तब किस घायल दिल पर यह कथन मरहम का काम न करता। राष्ट्रपति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि अगर उग्रवादी बारम्बार अपील किए जाने पर आत्मसमर्पण कर देते तो न स्वर्ण मंदिर पर आंच आती, न गैर जरूरी खून खराबा होता। रेडियो और दूरदर्शन को सरकारी प्रचारतंत्र का माध्यम बताकर 'अविश्वसनीय' कहने वालों और पाकिस्तानी

रेडियो और बी.बी.सी. के भक्तों को भी राष्ट्रपति के भाषण को नकारने का कोई कारण नहीं था। 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक श्री राजेन्द्र माथुर ने तब ठीक ही लिखा था–"बावलेपन पर उतारू सिख उग्रवादी अगर लोकतांत्रिक भारत को मथ रहे जहर के प्रतीक हैं, तो ज्ञानी जैल सिंह का संयम उस अमृत का प्रतीक है, जो सारी ऊपरी कमजोरियों के बावजूद आज भी हिन्दुस्तान में मौजूद है। अमृतसर से भी बड़ा अमृत का सर इस माह हमने खोज लिया है और ज्ञानी जैल सिंह का अभिनन्दन करते समय हम दरअसल अपने अंदरूनी अमृतसर का भी अभिनन्दन कर रहे हैं।"

काल रात्रि के बाद यह थी उषा की पहली किरण।

पर सवेरा अभी दूर था।

किसी प्रिय जन की मृत्यु के पश्चात् जैसे श्मशान वैराग्य पैदा हो जाता है, वैसे अकालियों में अंग्रेजों के समय से जो मिथ्याभिमान पैदा हो गया था वह ब्लू स्टार आपरेशन के बाद राष्ट्र-वैराग्य में बदल गया। कहावत है–'मरणान्तानि वैराणि'–मरने के बाद वैर नहीं रहता। आहत स्वाभिमान ने उन सिखों को भी भिण्डरांवाले का प्रशंसक बना दिया जो उसके समर्थक नहीं थे। वे उसे भगवान का अवतार, गुरु गोविन्द सिंह का प्रतिरूप और अमर शहीद कहने लगे और शहीद दिवस मनाने और अमृतसर के स्वर्ण मंदिर को सेना से मुक्त करवाने के लिए शहीदी जत्थे भेजने की तैयारी करने लगे।

सन्त और शहीद

क्या भिण्डरांवाले को सन्त और शहीद माना जाए? भारत के ९९% लोग उन्हें कभी सन्त नहीं मानेंगे, और न ही शहीद की कोटि में रखेंगे। पर जिनकी मानसिकता ही भिन्न है वे उन्हें सन्तों और शहीदों का शिरोमणि कहते ही रहेंगे। इसमें तर्क का प्रश्न नहीं है, केवल बहकी हुई भावना का प्रश्न है। अब तक हम उनको शहीद कहते आए हैं जो राष्ट्र हित के लिए या अपने धर्म की रक्षा के लिए कुर्बान हुए हैं। भिण्डरांवाले का तो इनमें से एक भी उद्देश्य नहीं था। वे तो केवल ख्याली खालिस्तान के लिए लड़ रहे थे। पर आप उस मानसिकता को क्या कहेंगे जिसने स्वर्ण मंदिर को शस्त्रागार, हत्यारों और लुटेरों का शरणागार, मादक द्रव्यों का भण्डार और व्यभिचार तथा समस्त अवैधानिक कार्यों के विस्तार का केन्द्र बना दिया, वह तो सन्त की तरह पूजित हो गया और सेना के जिन वीर जवानों ने स्वर्ण मंदिर की पवित्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी, राष्ट्र को विघटन से बचाकर अपने कर्तव्य का पालन किया, उनके प्रवेश से स्वर्ण मंदिर अपवित्र हो गया? चाहिए तो यह था कि सारा राष्ट्र मिलकर उन वीर सैनिकों की स्मृति में धन्यवाद दिवस मनाता, या उग्रवादियों को इस प्रकार सीमातीत ढंग से बढ़ने देने के लिए पश्चात्ताप दिवस मनाता, पर जब मानसिकता ही दूषित हो जाए तो अमृत को विष और विष को अमृत बताते भी लज्जा नहीं आती।

सेना की कार्रवाई में जो उग्रवादी मारे गए, वे कितने ही पथभ्रष्ट क्यों न हों, किन्तु थे तो इसी भारतमाता के जाये ही, इसलिए उनके मरने पर प्रत्येक भारतवासी को दुख होना स्वाभाविक है। उन युवकों के माता-पिता, भाई-बहन तथा अन्य सगे-रिश्तेदारों की मर्मान्तिक व्यथा भी समझ में आती है, क्योंकि उनके हृदय की वीणा के तार टूट गए थे। पर उन उग्रवादियों को गौरवान्वित वही कर सकता है जो राष्ट्रद्रोह को पाप नहीं समझता। केवल मर जाना, या अन्तिम दम तक लड़ते-लड़ते मर जाना–शहादत नहीं होती। कितने ही डाकू अन्तिम समय तक आत्मसमर्पण नहीं करते और पुलिस से

लड़ते-लड़ते मर जाते हैं। फिर कितने ही डाकू धार्मिक दृष्टि से चण्डी या दुर्गा या काली के उपासक भी होते हैं। पर इसी कारण वे सन्त या शहीद नहीं कहला सकते। सन्त या शहीद के लिए कुछ मानदण्ड होते हैं। जो उन पर खरा नहीं उतरता, उसे सन्त या शहीद कहना अपराध कोटि में आता है।

जिस मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध के राजा दाहर पर आक्रमण किया था, उसके मरने पर उसके देशवासी भले ही उसे शहीद कहें, पर भारत में उसे शहीद कहने वाले को आप क्या कहेंगे ? जिस महमूद गजनवी ने सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण करके उसे लूटा था, उसने पुजारियों की इस मिन्नत-समाजत पर कान नहीं दिया–"हम से चाहे जितना धन ले लो पर मूर्ति को मत तोड़ो।" तब गजनवी ने भी कहा था कि मुसलमान होने के नाते मूर्तियों को तोड़ना मेरा धर्म है। ऐसे 'धर्मात्मा गाजी' को गजनी और अफगानिस्तान के लोग 'हीरो' मानें तो मानें, पर भारत का कोई निवासी उसे हीरो नहीं मान सकता। यहां राष्ट्रीय मूल्यों का प्रश्न है। जो नादिरशाह, हलाकू और चंगेज खां के गीत गा सकते हैं वे उन उन देशों के लोग होंगे, भारत के लोग नहीं होंगे। भिंडरांवाले को भी सन्त और शहीद वही लोग बताएंगे जिन्हें भारतीय संविधान को और तिरंगे झण्डे को जलाने में कोई दर्द नहीं होता। भारतवासी 'आनन्दमठ' के उन अनाम साधुओं को सन्त भी मानेंगे और हीरो भी, जिन्होंने विदेशी शक्ति से भारत की आजादी के लिए हथियार उठाए थे, पर उन लोगों को नहीं, जिन्होंने राष्ट्र की एकता पर कुठाराघात करने के लिए बाहर से सन्त का बाना धारण कर रखा था और अन्दर घृणा का राक्षस बिठा रखा था। भारत में ब्रिटिशकाल में जिन अंग्रेजों ने भारतवासियों पर अत्याचार किए, उनमें से कईयों पर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में महाभियोग भी चला, किन्तु अन्त में उन्हें यही कहकर माफ कर दिया गया कि उन्होंने जो कुछ किया, ब्रिटेन के हित की दृष्टि से किया। हां, वे ब्रिटेन के हीरो बन सकते हैं, परन्तु भारतीय जनता के तो वे दुश्मन ही रहेंगे। जिन सिखों ने जलियांवाले बाग के हत्यारे जनरल डायर को स्वर्ण मंदिर में सरोपा भेंट किया था और जिन्होंने महाराजा रणजीत सिंह के खालसा राज को समाप्त करने वाले लार्ड डलहौजी के स्वागत में स्वर्ण-मंदिर में दिवाली मनाई थी, वे भारतीय राष्ट्र राज्य के शत्रु भिण्डरांवाले को भी सिर-आंखों पर रखकर पूजें, तो क्या आश्चर्य! कायदे आजम जिन्ना पाकिस्तान के राष्ट्रपिता हो सकते हैं, पर भारतवासियों के मन में वे क्या हैं, यह किसी भी भारतवासी से पूछकर देखिये।

भिण्डरांवाले सिख धर्म की रक्षा के लिए यह सब कर रहे थे, इसलिए उसके साथ ऐसा बर्ताव हुआ, यह बात भी मन से निकाल देनी चाहिए। यदि कल कोई बाल ठाकरे हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर तिरुपति के सर्वपूजित मंदिर में बैठकर भारतीय राष्ट्र को चुनौती देने के लिए मरजीवड़े तैयार करता और हथियारों का भण्डार जमा करता, तो क्या भारतीय सेना तिरुपति के मंदिर में घुसकर उस चुनौती को समाप्त न करती ? या कोई इमाम अब्दुल्ला बुखारी जामा मस्जिद में बैठकर वही सब करता जो भिण्डरांवाले ने स्वर्ण मंदिर में किया, तो भारतीय सेना को वहां कार्रवाई नहीं करनी चाहिए थी ?

पाकिस्तान को सच्चा इस्लामी गणतंत्र बनाने के जिहाद में सात साल से राष्ट्रपति बने जनरल जिया उल हक का तो इन खालिस्तानियों को बहुत भरोसा है न। लेकिन खातिर जमा रखिए, यदि लाहौर की जामा मस्जिद में कोई खुमैनी जैसा जिहादी जमकर बैठ जाए और वह हथियार जमा कर के एक लाख मुजाहिदों की फौज बनाकर 'धरम युद्ध' छेड़ दे, तो इन्दिरा गांधी की तरह जिया कभी दुविधा में नहीं रहेंगे। वे उसे पाकिस्तान के इस्लामी गणतंत्र के विरुद्ध करार देकर बिना कुचले नहीं छोड़ेंगे।

लाहौर की मस्जिद की बात छोड़िए, काबा को ही लीजिए जिसके लिए मुसलमानों के दिल में

वही आदर है जो स्वर्ण मंदिर के लिए सिखों के मन में है। जब सन् १९७९ में खुमैनी के कठमुल्लेपन से प्रेरित होकर शिया आतंकवादियों ने काबा पर कब्जा कर लिया, तब सउदी अरेबिया के कमांडो सैनिकों ने बाकायदा उन आतंकवादियों से लड़कर काबा को मुक्त करवाया था या नहीं ?

पाकिस्तान और सऊदी अरेबिया के उदाहरण देना इसलिए भी आवश्यक है कि श्री खुशवन्त सिंह जैसे कई नए धार्मिक इतिहासकार यह कहने से बाज नहीं आते कि सिख परम्पराएं हिन्दू परम्पराओं की तरह अहिंसक या वैष्णव नहीं है, इसलिए वे इस्लाम के अधिक निकट हैं। गुरुद्वारों में हथियारों की पूजा होती आई है इसलिए वहां हथियारों का जमा करना कोई गलत काम नहीं है। शस्त्रास्त्रों की पूजा तो विजयादशमी के पर्व पर हिन्दू धर्म का भी अगं है, पर उसके कारण मंदिरों को शस्त्रागार नहीं बनाया जाता। गुरुद्वारों में चाहे जो कुछ हुआ हो, वह क्योंकि सिखों ने किया, इसलिए उनके खिलाफ कोई कार्रवाई करने के लिए पुलिस या सेना मंदिर में जाती है, तो वह हमलावर है और ऐसे हमलावरों से लड़कर जान देने वाले सब शहीद हैं। पर क्या किसी ने कभी सुना है कि काबा के उन आतंकवादियों को किसी ने शहीद कहा हो ?

कार सेवा में भी अड़ंगा

सैनिक कार्रवाई के पश्चात् स्वर्ण मंदिर से मलबे को हटाने और विध्वस्त अकाल तख्त के पुनर्निर्माण के कार्य को भी सेना बखूबी कर सकती थी, पर केवल सिख समुदाय की कोमल भावनाओं का विचार करते हुए सोचा गया कि इस कार्य को स्वयं सिख ही अपने हाथ में लें। जिस तरह देवाराधन से मनुष्य को अपने पाप-बोध से मुक्ति मिलती है, वैसे ही कार सेवा भी सिखों के लिए अपने पापमोचन का श्रद्धा-कार्य है, भक्ति का अंग है। इसलिए बड़े से बड़ा सिख कार सेवा में अपना योगदान देकर अपने को धन्य मानता है। परन्तु सिखों ने कार सेवा के लिए आगे आने के बजाय जब स्वर्ण मंदिर में से सेना को हटाने के लिए सिख महिलाओं के नेतृत्व में शहीदी जत्थे भेजने का निश्चय किया, तो सवेरा होने के बजाय अंधेरा और घना होता नजर आया।

कार सेवा के लिए प्रसिद्ध और अनुभवी बाबा खड़क सिंह को कार सेवा के लिए तैयार किया गया। वे तैयार भी हो गये। उन्होंने कहा कि मैं बूढ़ा हूँ, मैं चल फिर नहीं सकता, इसलिए दरबार साहब तक एक सीधी सड़क बना दी जाए, ताकि मैं अपनी कार वहां तक ले जा सकूं। सरकार ने उनकी बात मान कर रास्ते में पड़ने वाले भवनों को गिराकर सड़क तैयार कर दी। तब अकालियों ने ही उनकी कार वहां नहीं जाने दी और उन्हें कार सेवा से रोक दिया। उन्होंने ही बताया कि कार सेवा स्वर्णमंदिर के लिए कोई नई बात नहीं है, यह तो वहां सदा किसी न किसी रूप में चलती ही रहती है। उसके बाद बाबा हरबंस सिंह और फिर बाबा मंगल सिंह को कार सेवा के लिए तैयार किया गया, अकालियों ने उनको भी रोक दिया। जनरलों के साथ अकाली तथा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के नेताओं ने मिलकर समझौता किया, परन्तु बाद में उससे मुकर गए। वह समझौता विपक्षी दलों के नेताओं की प्रेरणा से हुआ था। पर बाद में कहा गया कि सरकार ने वह समझौता रद्द कर दिया।

असल में पांचों ग्रंथी अकाली राजनीति के शिकार थे। जैसे पहले, वैसे ही अब। वे यह तो चाहते थे कि सेना स्वर्ण मंदिर से हट जाए, पर यह गारंटी देने को तैयार नहीं थे कि फिर स्वर्ण मंदिर में उग्रवादियों को हावी नहीं होने देंगे। इसके अलावा वे अकाल तख्त की मरम्मत भी नहीं करवाना

चाहते थे, वे उसे भिण्डरांवाले की समाधि और यादगार बनाकर ज्यों का त्यों खंडहर के रूप में सुरक्षित रखना चाहते थे, ताकि भावुक सिख जनता की भावनाओं का दुरुपयोग किया जा सके। तब बुड्ढा दल के बाबा सन्ता सिंह को भटिण्डा से बुलाया गया – वे अपने सैंकड़ों अनुयायियों के साथ सहर्ष कार सेवा के लिए तैयार हो गए।

उन्होंने आकर कार सेवा शुरू कर दी। उनके अनुयायियों के साथ अन्य प्रदेशों से भी हिन्दू और सिख आकर भारी संख्या में कार-सेवा में जुट गए। देखते ही देखते चंद दिनों में उन्होंने सारा मलबा साफ कर दिया।

जब ग्रंथियों ने अपना खेल बिगड़ते देखा, तो उन्होंने हुक्मनामा जारी कर दिया कि बाबा सन्ता सिंह तो तनखैया (पंथविरोधी) है, इसलिए उसे पंथ से निकाला जाता है। बाबा सन्ता सिंह को अपने अनुयायियों का तथा आम जनता का बल प्राप्त था। उन्होंने कहा कि जिन ग्रंथियों ने भिण्डरांवाले के विरुद्ध अकाल तख्त से हुक्मनामा नहीं निकाला और भिण्डरांवाले को ही अकाल तख्त का सिंहासन सौंप दिया, अब जब वह अकाल तख्त ही नहीं रहा, तो उसकी ओर से हुक्मनामा कैसा ? न वे ग्रंथियों के सामने पेश हुए, न माफी मांगी। उल्टे उन्होंने कहा कि मुझे 'तनखैया' (पंथविरोधी) कहने वाले स्वयं 'तनखाहिया' (वेतनभोगी) हैं, इसलिए उनकी बात में अकालियों की राजनीति के सिवाय और कोई वजन नहीं है। इन्हीं ग्रंथियों ने राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को, खेल मंत्री सरदार बूटासिंह को, और दिल्ली के कांग्रेसी सिख नेता श्री महेन्द्र सिंह साथी को भी सिख पंथ से निष्कासित घोषित कर दिया। रस्सी जल गई, पर ऐंठ नहीं गई।

सरबत खालसा

फिर सरबत खालसा का नम्बर आया। यह सम्मेलन १७९ साल बाद बुलाया गया था–और सो भी अकालियों और ग्रंथियों की इच्छा के विरुद्ध। यह पहला अवसर था जब बाबा सन्ता सिंह ने स्वर्ण मंदिर के अंदर ही मुख्य ग्रंथियों की सत्ता को चुनौती देकर उसकी अवहेलना की थी और अब सार्वजनिक रूप से उसे चुनौती दे रहे थे। जिस तरह सन्ता सिंह की कार सेवा को अकालियों ने 'सरकार सेवा' कहा, उसी तरह इस सरबत खालसा सम्मेलन को भी सरकारी सम्मेलन कहा। अगर अकाली धर्म के नाम पर सिखों को इकट्ठा करके अपनी राजनीति चला सकते हैं, तो दूसरे लोग वैसा क्यों नहीं कर सकते ? फिर किस गुरु ने कहा है या गुरु ग्रन्थ साहब में कहां लिखा है कि सिख केवल वही है जो शिरोमणि अकाली दल का सदस्य हो, और जो कांग्रेस, कम्युनिस्ट या लोकदल में जाएगा, वह सिख नहीं रहेगा। अकाली और सिख पर्यायवाची नहीं हैं। यह ठीक है कि कभी भ्रष्ट महन्तों से गुरुद्वारों को मुक्त कराने के लिए अकालियों ने बलिदान किए थे, पर देश को आजाद कराने में कांग्रेस ने भी कम बलिदान नहीं किये। फिर भी देश को कांग्रेस की धरोहर हम नहीं मानते। देश की तरह ही धर्म भी बड़ा है, अगर एक पार्टी उसका उपयोग अपनी राजनीति चलाने के लिए कर सकती है, तो दूसरी भी कर सकती है।

भले ही कांग्रेस पार्टी का और सरकार का उसमें सहयोग रहा हो, पर सरबत खालसा में जिस प्रकार लाखों लोग इकट्ठे हुए, उससे यह स्पष्ट हो गया कि अकालियों का शोर ही अधिक है, स्वयं सिखों का ही बहुत बड़ा समुदाय ऐसा है जो अकालियों का समर्थक नहीं है। उनको संगठित करने की आवश्यकता है। भिण्डरांवाले छाप के उग्रवादियों ने जो सलूक निरंकारियों के साथ किया, वैसा ही

सलूक आगे जाकर वे निर्मले, उदासी, सतनामी और नामधारी सम्प्रदायों के साथ करते। ये सभी सिख हैं, पर अकाली उनसे द्वेष करते हैं। उन सब अकाली विरोधी सिखों का इतना बड़ा जमघट इससे पहले नहीं हुआ होगा। फिर अकालियों पर इस समय यदि जाट सिखों का दबदबा है तो जितने गैरजाट सिख हैं, और जितने शहरों में रहने वाले खत्री और अरोड़े सिख हैं, या देहात में भी जितने मजहबी (हरिजन) सिख हैं, वे सब अकालियों की राजनीति से ऊब चुके हैं। वे उनका साथ नहीं देते। इसीलिए तो अकाली कभी चुनाव में जीतकर इतना बहुमत नहीं प्राप्त कर सके कि अपनी एक पार्टी की सरकार बना सकें। उन्हें सदा कांग्रेस, जनता पार्टी या जनसंघ का सहारा लेना पड़ा; और तभी वे सत्ता सुख भोग सके। इस सत्ता ने ही उनका दिमाग खराब कर दिया। पर रतौंधी के शिकार अकाली अपनी असलियत और औकात कभी नहीं पहचान सके।

अमृतसर के इस सरबत खालसा सम्मेलन में नांदेड़ और पटना साहिब के मुख्य ग्रंथियों के शामिल होने से अकालियों की स्थिति और भी खराब हो गई। जिस कार सेवा से सन्ता सिंह को रोकने का जाल मुख्य ग्रंथियों ने रचा था और हुक्मनामे का अपना ब्रह्मास्त्र चलाकर भी कामयाब नहीं हुए थे, अब उसी कार सेवा की अनुमति सरबत खालसा से लेकर उन्होंने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के इन 'तनखाहियों' को और भी नंगा कर दिया। सन्ता सिंह ने इस विशाल सम्मेलन में साफ-साफ कहा कि शिरोमणि कमेटी और अकाली दल अकाल तख्त को भिण्डरांवाले की समाधि बनाकर रखना चाहते थे, पर मैं पवित्र हरमंदिर साहिब में यह होने नहीं देना चाहता था, इसीलिए मैं कार सेवा के लिए आया। उन्होंने ग्रंथियों की सत्ता को चुनौती देते हुए कहा कि आम सिखों का उन्हें समर्थन प्राप्त नहीं है।

इस सम्मेलन ने कार सेवा का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि कुछ राजनैतिक मुद्दे भी साफ कर दिये जिन पर सरकार पंजाब में आगे कार्रवाई करना चाहती थी। इनमें से एक तो था गुरुद्वारा कानून में ऐसा संशोधन कि भविष्य में गुरुद्वारों का राजनीति के लिए उपयोग न हो सके और दूसरा यह कि सिखों की धार्मिक सत्ता पर अकालियों का एकाधिकार न रहे। इसमें सरकार को कहां तक सफलता मिलेगी, यह तो भविष्य बताएगा, पर अकालियों के एकाधिकार को तोड़ने की शुरुआत इस सम्मेलन ने कर दी।

यह उषा की दूसरी किरण थी।

इस सरबत खालसा की सफलता से अकाली इतने विचलित हो गए कि जब उन्हें अपने पांवों के नीचे से जमीन खिसकती दिखी, तब उन्होंने फिर विदेशों की ओर ताकना शुरू कर दिया और दो सितम्बर, १९८४ को विश्व सिख सम्मेलन बुलाने की घोषणा कर दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व सिख सम्मेलन में वही सिख आते जो खालिस्तान के समर्थक हैं। पर ऐसे सम्मेलन को भारत की जनता और सरकार भारत की भूमि पर क्यों होने देती। राज्य के अधिकारियों ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। पर पांचों ग्रन्थी और अकाली उस सम्मेलन को करने की जिद पर अड़े रहे।

आखिर दो सितम्बर, ८४ को वह सम्मेलन हुआ। सरकार द्वारा वाहनों पर प्रतिबन्ध और सड़कों पर अवरोध के बावजूद लगभग ६०,००० व्यक्ति सम्मेलन में शामिल हुए। इनमें से अधिकांश लोग पैदल ही सम्मेलन-स्थल तक पहुंचे थे। सम्मेलन के लिए कहा गया था कि उसमें राजनीति की चर्चा नहीं होगी, पर मुख्य ग्रन्थी राजनीति को नहीं छोड़ सके, 'खालिस्तान जिन्दाबाद' के नारों को नहीं रोक सके। मुख्य ग्रन्थी किरपालसिंह ने दूसरे मुख्य ग्रन्थी साहिब सिंह को अपनी बगल में खड़ा करके एक प्रस्ताव पढ़ा और उसके पक्ष-विपक्ष में किसी प्रकार की चर्चा के बिना उसे पारित घोषित कर

दिया गया और विवश होकर सम्मेलन बीच में ही समाप्त कर दिया। इस प्रस्ताव के अनुसार सरकार को अल्टिमेटम दिया गया कि ३० सितम्बर तक सेना नहीं हटी, तो १ अक्तूबर से स्वर्ण मंदिर की ओर जत्थे मार्च करेंगे। खेलमंत्री सरकार बूटासिंह और राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह को 'तनखैया' (पंथ-विरोधी) घोषित कर उनके सामाजिक बहिष्कार की अपील की गई। राष्ट्रपति पर एक आरोप यह भी है कि वे स्वर्णमंदिर में छाता लगाकर गए। पंज पियारों ने पत्रकारों के समक्ष १ अक्तूबर से प्रस्तावित मोर्चा स्थगित करने की तीन शर्तें रखीं–सेना की वापसी, कार सेवा बन्द करना और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी को गुरुद्वारे सौंपना।

'पर सरकार ने इस अल्टिमेटम के आगे न झुकने का फैसला किया। गृहमंत्री श्री नरसिंह राव ने स्पष्ट कहा कि सरकार पंजाब समस्या को सुलझाने के लिए वार्ता को हमेशा तैयार है, किन्तु उससे पहले अकाली दल को चार बातों की जिम्मेवारी लेनी पड़गी – (१) स्पष्ट रूप से अलगाववाद की निन्दा, (२) गुरुद्वारों का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए उपयोग न करना, (३) धार्मिक स्थानों में हथियार जमा न होने देना और वहां अपराधियों को शरण न देना, (४) तोड़फोड़, आगजनी, हिंसा और आतंकवाद की निन्दा करना। अकाली दल या पांचों ग्रन्थी ऐसी कोई जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं हुए।

इसका अर्थ यह है कि अंधकार की शक्तियां नया सवेरा आसानी से नहीं आने देंगी। उस नए सवेरे को लाने के लिए विशेष प्रयास करने पड़ेंगे। वे विशेष प्रयत्न क्या हों, कैसे हों, इन पर विचार करना आवश्यक है।

भाषावार राज्य : गलत निर्णय

सन् १९६३ के १७ अगस्त को श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने राष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहा थाः–

"पुराने शासन के बहुभाषीय प्रान्त अपनी - अपनी सीमाओं में एकाधिक भाषाओं वाले समुदाय को अखिल भारतीय सामंजस्य से जोड़ रहे थे। परन्तु एक भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण ने उस प्रक्रिया को रोक दिया। राज्यों में अलग इकाई का राष्ट्रवादी अभिमान और एक-दूसरे के विरुद्ध आक्रामक रूप पनपने लगा। इससे अखिल भारतीय एकता को भारी आघात लगा। उन सबको बांधने वाला तत्व केवल केन्द्रीय सरकार रह गई। विदेशी दासता से मुक्ति दिलाने की उसकी छवि ज्यों-ज्यों धूमिल पड़ती जाएगी, त्यों-त्यों भारत विघटन की ओर बढ़ता जाएगा। अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के बजाय प्रांतीय राष्ट्रवाद बढ़ जाएगा। उसका इलाज केन्द्र को और अधिक अधिकार सौंपना नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। इससे निर्माण के बजाय विद्रोह को उत्तेजना मिलेगी। यह इसलिए होगा कि केन्द्र को सदा अधिक बलवान राज्य के रूप में पहचाना जाएगा। दूर भविष्य की दृष्टि से यह तस्वीर अंधकारपूर्ण है।"

राजा जी की वह भविष्यवाणी तमिलनाडु, तेलगुदेशम से होती हुई पंजाब में पूरी उतरी है। आजादी के बाद शुरू के वर्षों में भारत ने सब राज्यों को यदि एकताबद्ध रखा तो उसका कारण केन्द्रीय सत्ता या नेहरू का करिश्मा नहीं था, बल्कि विदेशी दासता से मुक्ति दिलाने वालों की दीप्त छवि ही अधिक थी। पर जब वह छवि धुंधली पड़ गई, तो भाषावार राज्यों के निर्माण के गलत कदम

से केन्द्र को अधिक अधिकार देने की बात चली और इसने 'विद्रोह' को जन्म दिया। इसलिए पंजाब में या अन्यत्र हमारी समस्याओं का समाधान यही है कि भाषावार राज्यों के निर्माण के प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाए।

यदि भाषावार राज्यों का निर्माण न होता, तो पंजाब में भी कभी पंजाबी सूबे की या खालिस्तान की मांग न उठती और आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव भी एक कागज का टुकड़ा मात्र बनकर रह जाता।

अब गाड़ी इतनी आगे बढ़ चुकी है कि भाषावार प्रान्तों के निर्माण को तो उलटना शायद संभव न हो, किन्तु राष्ट्रीय एकता की खातिर यह तो करना ही होगा कि किसी भी राज्य में वहां की प्रादेशिक भाषा भले ही प्रमुख रहे, परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उपेक्षा किसी भी स्तर पर न हो। उसे वही दर्जा मिले जो सोवियत संघ में रूसी भाषा को प्राप्त है। पंजाब के हिन्दुओं का हिन्दी के लिए आग्रह इसीलिए है कि वे इसे राष्ट्रीयता का वाहन मानते हैं और शेष भारत की राष्ट्रीय धारा से वे विमुख नहीं होना चाहते, जबकि सिख मुसलमानों की नकल पर राष्ट्रीय धारा की चिन्ता ही नहीं करते।

अकाली पंजाब की नदियों को केवल अपनी बपौती समझते हैं और अन्य राज्यों को इनका पानी अपनी दया से ही देना चाहते हैं। इसी तरह गुजराती, महाराष्ट्रियन, कन्नड़, और तमिलियन, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के बारे में ऐसे ही बात करते हैं कि जैसे उन पर इनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इसी तरह महाराष्ट्रियन बम्बई पर अपना अधिकार समझते हैं जबकि उसके निर्माण में उन अनेक पीढ़ियों का हाथ है जो मराठी-भाषी नहीं थीं। यदि भाषावार राज्य न हों, तो इन नदियों पर और दिल्ली, मद्रास, और कलकत्ता, बम्बई और चण्डीगढ़ जैसे शहरों पर कोई एक भाषा-भाषी अपना अधिकार न जतावें। भारत की सब नदियां, सब पहाड़, सब प्राकृतिक सम्पदा समग्र भारत की है, किसी एक प्रान्त की नहीं। एक राष्ट्र होने का यही अभिप्राय है।

आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव

जब तक आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव विद्यमान है, तब तक सिखों में भारत-द्रोह की भावना खत्म नहीं हो सकती और न वे भारत की एकता की शपथ ले सकते हैं। इस प्रस्ताव के तीन रूप तो श्वेत पत्र में ही प्रकाशित हैं। समय-समय पर उसके इतने रूप बदलते रहे हैं कि कोई भी समझदार व्यक्ति कल्पना नहीं कर सकता कि आखिर अकाली चाहते क्या हैं। "खालिस्तान" शब्द बेशक उसमें नहीं, पर अलग राज्य की बात उसमें बदस्तूर है। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत प्रायः जिन मांगों की चर्चा समाचार पत्रों में होती रही है, वे निर्दोष सी लगती हैं, इसलिए उदार राजनेता उनको स्वीकार करने के पक्ष में रहे हैं। प्रधानमंत्री स्वयं अकालियों की धार्मिक मांगों को मानने की घोषणा करती रही हैं। परन्तु धार्मिक मांगों में अकालियों की न रुचि रही, न कभी उन्होंने उन्हें गंभीरता से लिया, जबकि सार्वजनिक रूप से चर्चा वे धार्मिक मांगों की ही करते रहे। उनकी मांगें इतनी अयुक्तियुक्त रही हैं कि किसी बुद्धिवादी समझदार सिख को भी प्रथम दृष्टि में ही उनका बेतुकापन पता लग जाएगा। उन मांगों में से कुछ की बानगी देखिए :-

(१) व्यास, रावी और थीन बांध का पानी तथा बिजली का कोई भाग हरियाणा को न दिया जाए, सिर्फ पंजाब के पास ही रहे।

(२) भाखड़ा बांध का मिश्रित प्रशासन समाप्त कर केवल पंजाब प्रशासन को सौंपा जाए।

(३) राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर देश भर में प्रतिबन्ध लगाया जाय।

(४) निरंकारी मिशन के सभी कार्यकलापों पर प्रतिबन्ध हो।

(५) केन्द्र में कम से कम तीन सिख मंत्री हों, तीन सिख राज्य मंत्री हों, तीन सिख उपमंत्री हों।

(६) गृहमंत्री या रक्षा मंत्री में से एक सिख हो।

(७) प्रशासनिक सेवा या पुलिस सेवा में सिख अफसरों के खिलाफ विभागीय अनुशासनात्मक कार्रवाई करने वाले तीन जजों में दो सिख हों।

(८) हरियाणा में पंजाबी भाषा द्वितीय भाषा के रूप में अनिवार्य हो।

(९) सेना के तीनों अंगों में प्रधान सेनापति या उपप्रधान सेनापति सिख हो।

(१०) पांच सिख राज्यपाल हों, पांच सिख उपराज्यपाल हों और पांच सिख हाई कमिश्नर हों।

(११) पांच सिख राजदूत हों और पाकिस्तान में भारत का राजदूत सदा सिख हो।

(१२) केन्द्र का पंजाब के साथ सारा पत्र व्यवहार केवल पंजाबी में हो।

(१३) पंजाब से करों की जितनी भी राशि केन्द्र द्वारा वसूल की जाए उस पर नियंत्रण पंजाब सरकार का हो और केन्द्रीय अनुदान यथावत् जारी रहे।

(१४) अकाली दल को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनने की अनुमति दी जाए।

भविष्य में यदि कभी नरमपंथियों से या उग्रपंथियों से बातचीत होनी है, तो सबसे पहले उन्हें आनन्दुपर प्रस्ताव को नकारना होगा। क्या उसके लिए वे तैयार हैं? विश्व सिख सम्मेलन बुलाकर तो इस प्रस्ताव को नकारने की नहीं, बल्कि सकारने की ही बात की गई है। ये मांगें कभी ७५, कभी ४५ और कभी १५ बताई गई हैं।

अकालियों की जितनी भी मांगें हैं, वे सब की सब अलग राज्य की केवल कवचमात्र हैं। चाहे चण्डीगढ़ का प्रश्न हो, चाहे केन्द्र और राज्य के संबंधों का, वे सब खालिस्तान की भूमिका तैयार करने के लिए हैं। इसलिए अकालियों को सबसे पहले आनन्दपुर प्रस्ताव को छोड़ना होगा।

छापामार युद्ध

हो सकता है कि आतंकवाद की व्यर्थता समय पाकर अकालियों के सामने स्वयमेव स्पष्ट हो जाए, या सरकार अपने प्रयत्न से उसे समाप्त कर दे। आखिर पश्चिमी बंगाल, असम, नागालैण्ड, मिजोरम और तेलंगाना में वह खत्म हुआ ही। इसलिए पंजाब में भी वह चल नहीं पाएगा। सेना की कार्रवाई के दौरान जो आतंकवादी भाग गए हैं, या भूमिगत हो गए हैं, या अन्य राज्यों में फैल गए हैं, वे पुनः सक्रिय हो सकते हैं और पंजाब में छापामार युद्ध प्रारम्भ कर सकते हैं, इसकी संभावना समाप्त नहीं हुई है। विदेशों से भी उन्हें धन और शस्त्रास्त्र की पहले की तरह सहायता मिल सकती है। पंजाब के मैदानी भू-भाग में कोई भौगोलिक अड़चन भी ऐसे छापामार युद्ध के लिए संभव नहीं है। नहरों को तोड़ना, बैंकों को लूटना, सिपाहियों और सैनिकों पर घात लगाकर हमला करना और उनसे हथियार छीनकर भाग जाना, स्टेशनों को जलाना, रेल पटरियों को उखाड़ना, पुलों को तोड़ना और बसों में से उतारकर निरपराध व्यक्तियों को मारना – आतंकवादियों की ये सब कार्रवाइयां छापामार युद्ध के ही अंग समझी जा सकती हैं। पर भारत में किसी भी सक्षम सरकार के रहते आतंकवादी इस प्रकार के छापामार युद्ध में सफल हो सकेंगे, इसकी कोई संभावना नहीं है।

मलयेशिया का उदाहरण हमारे सामने है। भारतीय सेना इस प्रकार की कार्रवाइयों से निपटने में काफी अनुभवी हो गई है। भारत सरकार भी, बड़ी से बड़ी कीमत चुका कर भी, छापामार कार्रवाईयों को सफल नहीं होने देगी।

अल्पसंख्यकों के विशेषाधिकार

भारत को यदि एक राष्ट्र रहना है तो उसे अल्पसंख्यक आयोग भंग करके अल्पसंख्यकों के लिए विशेषाधिकारों की बात समाप्त करनी होगी। अल्पसंख्यक होना कोई वरदान नहीं है, न ही बहुसंख्यक होना कोई अभिशाप है। पर भारत में यही हो रहा है। जितनी अधिक सुविधाएं भारत में अल्पसंख्यकों को प्राप्त हैं, उतनी संसार के अन्य किसी देश में प्राप्त नहीं हैं। अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय या अत्याचार नहीं होना चाहिए, यह ठीक है, पर इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि बहुसंख्यकों के साथ अन्याय होना चाहिए। जिस प्रकार अल्पसंख्यक आबादी के प्रतिशत के हिसाब से कहीं अधिक अपने लिए संरक्षण और विशेषाधिकार मांगते हैं, यदि बहुसंख्यक भी उसी प्रकार की मांगें करने लग जाएं, तो अल्पसंख्यकों के लिए कुछ बचेगा ही नहीं। अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण के बहुत बुरे नतीजे हम भुगत चुके हैं। अल्पसंख्यक आयोग को समाप्त कर मानवाधिकार आयोग बनाया जाना चाहिए।

समान आचार संहिता

स्वतंत्रता प्राप्ति के ३७ वर्ष पश्चात् भी एक राष्ट्र के निर्माण में और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में कौन-कौन से बाधक तत्व रहे हैं, उनका उल्लेख करते हुए हमें कुछ मूलभूत बातों की ओर भी ध्यान देना होगा। भारत को अनेक राष्ट्रों का समूह और एक देश के बजाय उपमहाद्वीप कहने वालों को भारतीयों की विभिन्नता जितनी महत्वपूर्ण लगती है, उतनी उसकी एकता नहीं। उन्हें उनकी समानता क्यों नजर नहीं आती ? अगर देश के भीतर एक समुदाय ने या दूसरे समुदाय ने उपनिवेश बनाए हों, तो यह बात समझ में आ सकती है। अपने यहां के औपनिवेशिक दिमाग ही ऐसा आत्मघाती तर्क देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि भारतीय समाज ने अलग-अलग समूहों के गुणों और विशेषताओं की रक्षा करते हुए सबको एक सांझी संस्कृति में ढाला है। इतिहास और भूगोल ने मिलकर उसमें योग दिया है। उसकी एकता महज सौ बरसों की या ब्रिटिश शासन की देन नहीं है। इस भ्रान्त मान्यता के कारण ही अधिकांश पढ़ा-लिखा वर्ग समाज से एकाकार नहीं हो पाता और वह पूरे समाज को भीतर से तोड़ता रहता है।

भारतीय संविधान ने देश के समस्त नागरिकों को समान अधिकार प्रदान किए हैं। पर यदि हम हिन्दू कोड बिल बनाकर और मुस्लिम पर्सनल ला की स्वीकृति देकर वह समानता स्थापित करना चाहें, तो उससे सम्प्रदाय-निरपेक्षता के सिद्धान्त की अवहेलना होती है और समानता का सूत्र भी विच्छिन्न होता है। मुसलमानों और ईसाईयों के अलग व्यक्तिगत कानून बनाकर उन पर भारतीय दण्ड संहिता (इण्डियन पीनल कोड) लागू नहीं की जा सकती। उन्हीं की देखा देखी सिखों ने भी संविधान के २५वें अनुच्छेद का विरोध करके अपने लिए अलग सिख पर्सनल ला की मांग की है। हालांकि वे उसमें किस तरह का परिवर्तन चाहते हैं, यह अभी तक उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। फिर

जैन, बौद्ध या अन्य धर्म भी इसी प्रकार की मांग क्यों नहीं उठाएंगे । और तो और, आर्य समाज जैसी संस्था भी अपने आपको अल्पसंख्यक सिद्ध कर विशेषाधिकार मांगने का प्रयत्न कर चुकी है ।

कोई हिन्दू सरकारी अधिकारी एक_से अधिक शादी करने पर दण्डित हो सकता है, पर मुसलमान बन जाने पर वह उस दण्ड से बच सकता है । वह कैसी विचित्र स्थिति होगी जब कोई मुसलमान न्यायाधीश किसी हिन्दू को दूसरी शादी करने पर सजा सुनाए या उसकी पहली पत्नी की तलाक की अर्जी मंजूर करे, पर स्वयं न्यायाधीश की दो पत्नियां मौजूद हों । इसलिए सब भारतीयों के लिए समान संहिता होनी चाहिए । हिन्दू कोड बिल नहीं, इंडियन कोड बिल बनना चाहिए ।

३७० वां अनुच्छेद

मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने से अधिक धनवान्, ऐश्वर्यवान् और सत्ताशाली व्यक्ति को देखकर मन ही मन उस जैसा संपत्तिशाली बनना चाहता है । सौ-पति सहस्रपति, लखपति और लखपति करोड़पति । जब तक यह इच्छा पूरी नहीं होती, मन में असन्तोष सुलगता रहता है । सिक्किम चाहता है – मैं भूटान बन जाऊं, भूटान चाहता है – मैं नेपाल बन जाऊं, नेपाल चाहता है – बांगलादेश बन जाऊं और बांगला देश चाहता है – पाकिस्तान बन जाऊं । अपने से नीचे कोई देखना नहीं चाहता । 'उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति' – अपने से ऊपर वाले को देखने पर हरेक को अपनी कमी का आभास होता है । हमनें संविधान के ३७०वें अनुच्छेद के द्वारा जम्मू - कश्मीर को विशेष दर्जा दे रखा है, वह भी सिखों के मन में असन्तोष पैदा करता है । जब भारत में कश्मीर का पूर्ण विलय हुआ है, तब 'विशेष दर्जे' का कोई अर्थ नहीं रहता । इसीलिए ड़ा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी जम्मू - कश्मीर के अलग संविधान, अलग झण्डे और अलग राज्याध्यक्ष के विरोधी थे । उन्होंने सारे देश में यह नारा गुंजाया था –

एक देश में दो विधान,
एक देश में दो निशान,
एक देश में दो प्रधान,
नहीं चलेंगे, नहीं चलेंगे ।

जब तक कश्मीर में यह स्थिति रहेगी, तब तक सिखों की अलग विधान, अलग निशान और अलग प्रधान की मांग किस आधार पर रोकी जा सकती है ? इसलिए राष्ट्रीय एकता की खातिर संविधान की ३७०वीं धारा को अविलम्ब समाप्त करना होगा । आश्चर्य की बात यह है कि जब शेख अब्दुल्ला के समय कश्मीर की विधान सभा में इस धारा को हटाने की मांग उठी थी तब स्वयं कांग्रेस ने ही उसे हटाने का विरोध किया था । उनके मन में कश्मीरी मुसलमानों के तुष्टिकरण की ही बात थी, राष्ट्रीय एकता की नहीं । इस धारा के कारण कश्मीर के अंदर उपद्रवों को और अन्यत्र अलगाव को प्रोत्साहन मिलता है ।

हमारी सूचना तो यह भी है कि ११ जून को खालिस्तान की घोषणा के साथ - साथ कश्मीर को स्वतंत्र इस्लामी राज्य बनाने की और जम्मू को खालिस्तान में मिलाने की भी साजिश थी । कश्मीर के तत्कालीन मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला इस साजिश में शामिल थे । भिण्डरांवाले से मिलकर वे इस विषय में भूमिका तैयार कर चुके थे । इसीलिए कश्मीर में उग्रवादियों के शिविरों की उन्होंने अनुमति दी थी । पंजाब में प्रतिबंधित सिख छात्र संघ पर भारत सरकार के कहने पर भी उन्होंने प्रतिबंध नहीं लगाया था । स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई के आस पास ही कश्मीर में पाकिस्तानी तत्वों और

उग्रवादी अकालियों ने मिलकर हिंसा का ताण्डव नृत्य किया। हजूरी बाग के आर्य समाज मंदिर को और देवकी कन्या पाठशाला को जलाया, और हिन्दुओं के अनेक धार्मिक स्थानों को क्षति पहुँचाई। गुप्त सूचना यह भी है कि ११ जून को तख्ता पलट में सहायता के लिए ३००० पाकिस्तानी सैनिक सिखों के वेष में आजाद कश्मीर से आकर कश्मीर के गुरुद्वारों में छिपकर तैयार बैठे थे। यह सब साजिश ही फारुख अब्दुल्ला को ले बैठी। खालिस्तान का तख्ता ही नहीं पलटा, फारुख का तख्ता भी पलट गया।

अलग पहचान

सिखों के मन में हीन ग्रंथि भी है, उत्कृष्टता ग्रंथि भी। वे 'इनफीरियोरिटी' और 'सुपीरियोरिटी' दोनों के शिकार हैं। हीन ग्रंथि है हिन्दुओं की सर्वसंग्रहक उदारता के कारण और उत्कृष्टता ग्रन्थि है 'राज करेगा खालसा' की मनोवृत्ति के कारण। जिस तरह प्रेम और घृणा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, उसी तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन दोनों ग्रन्थियों का मूल भी एक ही है। हीन ग्रन्थि के कारण मन में भय उत्पन्न होता है, और उत्कृष्टता ग्रन्थि के कारण अभिमान। यह भय और अभिमान दोनों काल्पनिक भले हों, पर जीवन को आंदोलित तो करते ही हैं। जिन मुस्लिम शासकों से लोहा लेने के लिए खालसा पंथ का जन्म हुआ, जब मुस्लिम शासक नहीं रहे तो खालसा किंकर्तव्य विमूढ़ हो गए – अब क्या करें, कहां जाएं, कैसे अपना अस्तित्व सिद्ध करें। तब अपनी अलग पहचान की खातिर उन्होंने अंग्रेजों की बांह पकड़ी। फिर जब अंग्रेज नहीं रहे, देश का विभाजन हो गया, तो उनके सामने फिर समस्या पैदा हो गई – जिस हिन्दू समाज से बाहर रहने के लिए अपनी अलग पहचान का आग्रह था, विभाजन ने फिर उसी हिन्दू समाज की ममतामयी गोद में फेंक दिया – जो चिरकाल से उनकी जानी पहचानी थी, जिसकी विशालता में विलुप्त हो जाने का भय भी उन्हें सता रहा था, और जिससे आकृष्ट होने का बोध भी उन्हें चैन से नहीं बैठने देता था। फिर हिंन्दुओं से उनका खून का रिश्ता है। खून पानी से गाढ़ा होता है। सिख हिन्दुओं से अलग होना भी चाहते हैं, पर खून के कारण अलग हो भी नहीं पाते, इससे बेचैनी मन ही मन और बढ़ती है।

हिन्दू अपनी ओर से सिखों को मिटाने के लिए कुछ नहीं करते। पर काल्पनिक भय और काल्पनिक अभिमान का कोई क्या करे। अगर सिख और हिन्दू दोनों में फर्क करना है, तो कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। सभी सिख हिन्दू हैं, क्योंकि वे गुरुओं के शिष्य हैं। शिष्य को ही तो पंजाबी में सिख कहा गया, जैसे शिक्षा को सिख्या। (स्वयं गुरु सिख नहीं हैं, क्योंकि वे तो गुरु हैं, शिष्य थोड़े ही हैं।) पर सभी हिन्दू सिख नहीं हैं। सभी केशधारी खालसा सिख हैं, पर सभी सिख केशधारी खालसा नहीं हैं। इस बात को इस उदाहरण से समझिये – सभी ब्राह्मण हिन्दू हैं, पर सभी हिन्दू ब्राह्मण नहीं हैं, सभी सारस्वत या गौड़ आदि ब्राह्मण हैं पर सभी ब्राह्मण गौड़ या सारस्वत नहीं हैं।

अगर सिख केश, कंघा, कृपाण आदि पंच ककार छोड़ दें, तो उनमें और हिन्दुओं में कोई फर्क नहीं रहेगा। इसलिए अपनी अलग पहचान बनाए रखने के लिए पंच ककार पर जोर देना आवश्यक हो गया। खुशवंत सिंह का कहना है – हिन्दू समाज में सिखों के विलय के तीन चरण हैं – पहले चरण में केशधारी सिख बालों को छांटता है या हुक्का सिगरेट पीने लगता है। दूसरे चरण में वह चेहरा सफाचट करके सहजधारी सिख बन जाता है और अन्ततः तीसरे चरण में वह हिन्दू महासागर में डूब जाता है।

पंजाबी सूबा बनने, बहुमत प्राप्त करने, सारे राज्य में स्वच्छन्द विचरने, उद्योग व्यापार-वाणिज्य में इतनी समृद्धि प्राप्त करने पर भी न तो उनके मन का भय कम होता है, न उत्कृष्टता ग्रन्थि पुष्ट होती है। सिखों से अन्याय और भेदभाव की शिकायत बदस्तूर जारी रहती है। उन्हें लगता है कि जब तक ऐसा सिख राज्य कायम नहीं होगा जिसमें केशधारी सिख को ही प्रथम दर्जे का नागरिक माना जाए और सरकार के हर कार्य में हर स्तर पर, खालसा रीति-रिवाज और आचरण को तरजीह दी जाए, तब तक बात बनेगी नहीं। इसलिए आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव में स्कूल-कालेजों में सिखमत की शिक्षा, सिख ग्रन्थियों को आदर और अपनी आमदनी का दसवां हिस्सा दान देने पर जोर दिया गया है। कहने का मतलब यह है कि वे चाहते हैं कि अलग पहचान बनाए रखने की पूरी जिम्मेवारी सरकार ले। गुरुद्वारे, सचिवालय, जत्थेदार, कलैक्टर, ग्रंथी, प्रिंसीपल, मुख्यमंत्री आदि सब एक ही पेड़ की शाखाएँ हों और खालसा को राज करने का जो जन्म सिद्ध अधिकार है, वह उसे दिया जाए। संविधान को भी इसी के अनुरूप बनाया जाए। इस पर 'नवभारत टाइम्स' के सम्पादक श्री राजेन्द्र माथुर पूछते हैं : "क्या सिख धर्म इतना कमजोर है कि धर्म राज्य के बड़े भारी आक्सीजन टेंट के अन्दर बसेरा किये बगैर वह जिन्दा ही नहीं रह सकता? क्या भारत ऐसा शामियाना कभी सिखों को दे सकता है?"

इस अलग पहचान का कुछ नुक्सान भी हो सकता है, यह भी कभी सिखों ने सोचा है? हम यहां उस तात्विक मुद्दे को नहीं छेड़ते कि अलग पहचान की निशानी (पंच ककार) पर बल देने से बाहरी चिन्हों को महत्व मिल जाता है और धर्म का आंतरिक स्वरूप—जो उसका वास्तविक स्वरूप है, ओझल हो जाता है। केवल व्यावहारिकता के स्तर पर बात कही जा रही है।

पिछले दिनों डा. महीप सिंह ने एक भरी सभा में बड़े आक्रोश के साथ शिकायत की कि एशियाई खेलों के दिनों में जब पंजाब से उग्रवादी सिखों के दिल्ली आने पर प्रतिबंध लगा दिया गया तो पूर्वीकमान के सेनाध्यक्ष लेफ्टि. जनरल (अब अवकाश प्राप्त) जगजीत सिंह अरोड़ा, जिन्होंने बांगला देश की मुक्ति में प्रमुख भूमिका निभाई थी, उनकी कार को भी रोका गया। इस पर सब श्रोताओं ने 'शेम शेम' के नारे लगाए। पर हम समझते हैं कि यह श्री जगजीत सिंह का अपमान नहीं था, उनकी अलग पहचान के कारण ही उनके साथ यह व्यवहार हुआ। श्री अरोड़ा के माथे पर तो यह लिखा हुआ नहीं कि वे अमुक व्यक्ति हैं, और मामूली सिपाही से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इतने प्रसिद्ध सेनानायक को पहचानता ही हो, इसलिए श्री अरोड़ा को तो सैनिक अनुशासन के नाते इस बात पर बुरा मानने के बजाए उस सिपाही का धन्यवाद करना चाहिए जिसने अपने कर्तव्य का इतनी मुस्तैदी से पालन किया।

इस अलग पहचान का एक और खतरा भी नजर आता है। जिस तरह हाल में ही दो विमानों का अपहरण हुआ और अपहरण करने वाले 'अलग पहचान' वाले ही थे, या पंजाब में जितने उग्रवादियों की धर पकड़ हुई है या हो रही है वह सब 'अलग पहचान' के कारण ही, तो कहीं भविष्य में ऐसा न हो कि सारे भारत में, या सारे संसार में भी, सभी 'अलग पहचान' वाले सिख बन्धु सन्देह की नजर से देखे जाने लगें और कहीं कोई अपराध हो तो केवल 'अलग पहचान' के चिन्ह धारण करने के कारण बिचारे निरपराध सिख भी गिरफ्तार कर लिए जाएं। इसमें दोष कानून के रक्षकों का नहीं होगा, उनकी अलग पहचान का होगा।

हिन्दू कहें, न कहें

गुरु नानक की शिक्षाओं का सार यह था कि मानव की सेवा ही सच्चा धर्म है। मूर्ति पूजा का

बहिष्कार, दम्भ और पाखंड का निराकरण, खोखली परम्पराओं का परित्याग आदि उनकी प्रगतिशीलता की निशानी है। पर मूर्तिपूजा का विरोध करते-करते सिखों ने गुरु ग्रंथ साहिब को ही पवित्र मान लिया। वे ग्रंथ साहिब को गुरुओं का शरीर मानते हैं, और उसकी वैसे ही पूजा करते हैं जैसे मन्दिरों में राम और कृष्ण की या अन्य देवी-देवताओं की आम हिन्दू करते हैं। उन्हें हिन्दुओं की देव मूर्तियों की तरह ही भजन-कीर्तन करते हुए प्रातः अकाल तख्त से हर मंदिर में लाया जाता है, फिर रात को सुलाने के लिए वापिस अकाल तख्त ले जाया जाता है। उनके लाने ले जाने के लिए रेशमी वस्त्र से ढकी और सोने की चौखट जड़ी पालकी है। मूर्तियों की तरह ही उन पर चँवर डुलाया जाता है, उन्हें मूर्तियों की तरह ही भोग लगाया जाता है, उन्हें सर्दियों में गरम कपड़े और गर्मियों में ठण्डे कपड़े पहनाए जाते हैं। भक्तजन उनके आगे बैठकर अपनी मुरादें मांगते हैं, 'मानताएं' मानते हैं, और मुराद पूरी होने पर चढ़ावा चढ़ाने का प्रण लेते हैं। जैसे हिन्दू देवी-देविताओं के चित्रों की हिन्दू घरों में पूजा होती है, वैसे ही कैलेण्डरों में छपे गुरुओं के चित्रों की पूजा होती है। अखंड पाठ एक रस्म बन गई है। पाठ की समाप्ति पर भोग लगाया जाता है। जैसे हिन्दू व्यापारी अपने घरों में रामायण का पाठ करने के लिए किसी पेशेवर रामायणी पंडित को बुलाकर बिठा देते हैं, वैसे ही समृद्ध सिख भी किसी व्यवसायी ग्रन्थ पाठी को बुलाकर घर के एक कोने में ग्रन्थ साहब का पाठ करवाते हैं।

जहां तक बाह्याडम्बर का प्रश्न है, वे मूर्तिपूजक हिन्दुओं से किसी प्रकार कम नहीं हैं। जहां भी ग्रन्थ साहब का पाठ होता है, वह स्थान पवित्र माना जाता है। इसलिए जब किसी खाली पड़ी जमीन पर अवैध रूप से कब्जा करना होता है, वहां ग्रंथ साहब का पाठ रख दिया जाता है। मुसलमान कोई थड़ा सा बना कर उस पर कपड़ा डाल देते हैं और किसी पीर की कब्र के नाम से उसकी पूजा प्रारम्भ हो जाती है। हिन्दू हनुमान की मूर्ति रख देते हैं। दिल्ली में, दिल्ली विकास प्राधिकरण (डी. डी. ए.) की कितनी ही कालोनियों में इसी प्रकार जमीनों पर अवैध कब्जा किया गया है।

जिस तरह हिन्दू अपनी देवमूर्तियों को सोने चांदी और हीरे-जवाहरात से मंढते हैं, वैसे ही श्रद्धालु गुरुद्वारों के गुम्बदों को सोने के पत्तरों से मंढते हैं। बंगला साहब दिल्ली के गुरुद्वारे के गुम्बद में २५ किलो सोना लगा है। अकाल तख्त में रखे जाने वाले ग्रन्थ साहब की नई बीड़ में डेढ किलो सोना लगा है। जिस तरह हिन्दू राम और कृष्ण आदि की झांकियां निकालते हैं, वैसे ही सिख भी। ज्ञानी जैल सिंह के मुख्यमंत्रित्व काल में ६४० किलोमीटर लम्बे गुरु गोविन्द सिंह मार्ग पर गुरु गोविन्द सिंह की झांकियां कई ट्रकों में निकाली गई थीं। २०-३० किलोमीटर लम्बा जुलूस आनन्दपुर साहब से दमदमा साहब तक गया था। उस जुलूस में अमलोक और दिलबाग नामक दो घोड़े भी थे, जो दशमेश गुरु के घोड़ों के वंशज बताये गए थे। जब वह जुलूस चण्डीगढ़ पहुँचा तब उन घोड़ों का स्पर्श करने वाले और उनकी लीद को झोलों में भरने वाले भक्तों की भीड़ लग गई। 'ट्रिब्यून' के अनुसार उन घोड़ों के लिए सोने चांदी के कड़े और दो कीमती शाल भेंट किये गए। जहां जहां से ये झांकियां गुजरीं, उन गाड़ियों के नीचे की धूल लोगों ने माथे से लगाई।

जहां तक अंधविश्वास का प्रश्न है, उसका भी ताजा उदाहरण सामने आया है। गुरूद्वारा बंगला साहब में सुनहरे बाज के दर्शन देने की ख़बर फूस की आग की तरह फैल गई। भीड़ की भीड़ जुट गई, चढ़ावे पर चढ़ावा आने लगा। खोज करने पर रहस्य पता लगा कि एक बाज पालने वाले मुसलमान से वह बाज लिया गया। उसके पंख काट दिये गए, जिससे उड़ न सके और दूर से सुनहरा सा दिखे। उसे अफीम खिलाई गई और ग्रन्थ साहिब के पास उसे रख दिया गया। इसे गुरु गोविन्द

सिंह वाला सुनहरा बाज घोषित किया गया । भक्तों से कुल मिलाकर ९२ हजार रु. चढ़ावे में प्राप्त हुआ, उसमें से आधा बाज के मालिक को और आधा बंगला साहिब के ग्रन्थी ने आपस में बांट लिया ।

ग्रंथ साहब में गुरु नानक के केवल ९७४ पद हैं, किन्तु बाद में अन्य ९ में से ६ गुरुओं की वाणी भी इसमें जुड़ती चली गई । यथा गुरु अंगददेव के ६२ श्लोक, गुरु अमरदास के ९०७ पद व श्लोक, गुरु रामदास के ६७९ पद और श्लोक, गुरु अर्जुनदेव के २२१८ पद व श्लोक, गुरु तेगबहादुर के ११५ पद और गुरु गोविन्दसिंह का केवल एक श्लोक ग्रंथ साहब में संग्रहीत हुआ है ।

श्री गुरु ग्रंथ साहब में केवल सिख गुरुओं की ही वाणी नहीं है, वरन् उसमें समकालीन संतों यथा नामदेव के ६० पद, रविदास के ४१ पद, कबीर के २९२ पद, धन्ना के ४ पद, जयदेव के २ पद, रामानन्द, पोपा, परमानन्द और सेन के एक-एक पद भी संग्रहीत हैं । इनमें कई संत तुलसीदास के गुरुभाई और स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में से थे ।

इन संतों की वाणी का गुरु ग्रंथ साहब में संकलन इस उद्देश्य से किया गया था कि सिख धर्म को भारतीय मनीषा के पुष्ट आधार पर स्थापित कर उसे व्यापक आयाम प्रदान किया जा सके और भारत की पुण्य भूमि से ही वह जीवन-शक्ति प्राप्त करता रहे ।

> वैदिक वाङ्मय और ग्रंथ साहब का तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि नानक ने सहज ज्ञान से जिन आध्यात्मिक गहराइयों को खोजा व पाया उसका विलक्षण ओज वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, गीता व आदि शंकराचार्य के अनेक मंत्रों, श्लोकों व पदों में उपलब्ध है । 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, 'एकोऽहं बहुस्याम्,' 'ईशावास्यमिदं सवर्म्,' 'अहं ब्रह्मऽस्मि,' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन', आदि की विशद् विवेचना गुरुग्रंथ साहब में प्रत्यक्ष दिखाई देती है । ब्रह्म, आत्मा, प्रकति – इन तीन अनादि सत्ताओं का जिस रूप में उल्लेख हुआ है उसका कहीं न कहीं भारतीय वाङ्मय में पहले से उल्लेख है । जगन्नाथ पुरी (सन् १५०६) में नानक का दिया उपदेश वेद के पुरुष सूक्त के पद 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' से मिलता-जुलता है । कैलाश मानसरोवर (सन् १५१४) में सिद्धों द्वारा पूछे प्रश्नों का उत्तर योगराजोपनिषद् (मंत्र १४), आत्मपूजोपनिषद्, गीता (अध्याय १२ का श्लोक १४), ब्रह्मबिन्दूपनिषद् आदि में कतिपय स्थलों पर उपलब्ध है । कुरुक्षेत्र हरिद्वार में दिए गए उपदेशों का सार तैत्तिरीयोपनिषद्, गीता, बिन्दूपनिषद् से भी सिद्ध है । (द्रष्टव्य 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित दशरथनारायण शुक्ल के दो लेख – 'गुरु नानक द्वारा हिन्दू तीर्थों में धर्मोपदेश' तथा 'गुरु ग्रंथ साहिब का हिन्दू दर्शन से तादात्म्य')

हिन्दुत्व के इस धार्मिक आधार को यदि अपनी अलग पहचान की झोंक में सिख बन्धु नकारना चाहते हैं, तो भले ही नकारें । हम एक पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि 'हिन्दू' शब्द धर्मवाची होने के बजाए देशवाची अधिक है । पर जिस तरह आज के मुसलमान को अपने आपको हिन्दुस्तान में रहकर 'हिन्दू' कहने पर आपत्ति है, भले ही अरब देशों में वह 'हिन्दी' या 'हिन्दू' ही कहलाता रहे, उसी प्रकार यदि भारत के सिखों को स्वयं को हिन्दू कहने में आपत्ति है तो हमें इस पर आपत्ति करने का कोई अधिकार नहीं । यदि सचमुच वे अपने आपको हिन्दू नहीं कहना चाहते, तो न कहें, संसार में कोई भी उन्हें हिन्दू कहने के लिए बाध्य नहीं कर सकता । पर उन्हें भारत-द्रोह की अनुमति नहीं दी जा सकती ।

यह विचित्र संयोग है कि अबसे ४० वर्ष पहले मित्रराष्ट्रों ने यूरोप को हिटलर के आतंकवाद से मुक्त करने के लिए नारमंडी के समुद्र तट पर अपनी सेनाएं जिस तारीख को उतारी थीं, उसी ६ जून को भारतीय सेना ने स्वर्ण-मंदिर को आतंकवादियों से मुक्त कराने के लिए कार्रवाई की। अकालियों ने अपने आंदोलन को 'धर्मयुद्ध' कहा है। पर असल में तो वे पाप युद्ध कर रहे थे। निरपराध लोगों का और अपने से असहमत होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का खून बहाना, बैंक लूटना, गुरुद्वारों को शस्त्रागार बनाना, महंतों और पुजारियों को मौत के घाट उतारना, शिक्षण संस्थानों को जलाना, स्टेशनों को आग लगाना, पटरियों को उखाड़ना, नहरें तोड़ना, विमानों का अपहरण करना, सामाजिक सौहार्द को पलीता लगाना, प्रशासन को ठप्प करना, तस्करों और हत्यारों को शरण देना, सेना में बगावत फैलाना और पड़ौसी राज्यों में भी अशांति फैलाना यदि धर्मयुद्ध है, तो पाप युद्ध किसे कहेंगे ?

असली धर्म-युद्ध तो भारतीय सेना के वीर जवानों ने किया है जिन्होंने स्वर्ण-मंदिर की पवित्रता की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी और हरमंदिर से दनादन गोलियों की बौछार होते हुए भी उधर गोली नहीं चलाई। वीरता और धर्मरक्षा के इस आदर्श की तुलना उन कायरों से कैसे की जा सकती है जो अकाल तख्त में छिपकर सैंकड़ों बहन-बेटियों की मांग का सिन्दूर पोंछ गए, सैंकड़ों माताओं की गोद सूनी कर गए, सैंकड़ों अबोध बालकों को अनाथ कर गए और इस प्रकार धर्म का जनाजा निकाल गए। गुरु नानक भी जीवित होते, तो वे स्वयं अधर्म के नाश के लिए सेना के वीर जवानों को शाबाशी देते।

पर हम अकालियों के आंदोलन को धर्म-युद्ध के बजाय स्वार्थ-युद्ध कहना चाहते हैं। यह पंजाब में हरित क्रान्ति के पश्चात् पैदा हुए नव धनाढ्यों के स्वार्थों का युद्ध था, इसका धर्म से कोई वास्ता ही नहीं था।

पंजाबी सूबा बनने के पश्चात् सातवें दशक में देश में जो हरित क्रान्ति हुई उसमें वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से अनाज के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। सारे भारत से जितना अनाज भारतीय अन्न भण्डार में एकत्र हुआ, उसमें आधे से भी अधिक अशंदान केवल पंजाब का था। इस हरित क्रान्ति से जिनको लाभ हुआ वे दस प्रतिशत सिख जाट थे। नई समृद्धि के कारण सिखों में राजनीतिक महत्वाकांक्षा जागी और नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। पहले सिखों का नेतृत्व शहरी सिखों के हाथ में था। हरित क्रान्ति के बाद सिख जाटों के हाथ में आ गया। अधिक पैसा आ जाने के कारण अब वे शहरों में उद्योग व्यापार बढ़ाने को लालायित हो उठे। वहां पहले ही हिन्दू छाए हुए थे। इस होड़ से आपसी तनाव बढ़ा। जो दस प्रतिशत सिख उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ना चाहते थे, वे नए उद्योगों में केन्द्रीय कानूनों के पालन की अनिवार्यता से बचना चाहते थे। वे भली भांति जानते थे कि उनके आर्थिक हितों की पूर्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक राज्य के अधिकारों में असाधारण वृद्धि न हो। यह केन्द्र के अधिकारों में भारी कमी करने से ही सम्भव था। अपने इन आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए आम सिख जनता का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। सिख जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए ही धार्मिक मांगें जोड़ी गईं, जबकि इन अकाली नेताओं की उन मांगों के प्रति कोई रुचि नहीं रही। धर्म की आड़ तो केवल जनता का शोषण करने के लिए थी।

हरित क्रान्ति की इस नई सम्पन्नता का दूसरा परिणाम यह हुआ कि युवकों में अधार्मिक प्रवृत्ति बढ़ने लगी। फ़ैशन के तौर पर धूम्रपान, मद्यपान, और बाल कटवाने जैसे अधार्मिक कार्यों की ओर

रुझान बढ़ा। विदेशों के साथ सम्पर्क से पश्चिम की नकल भी युवकों में आई। इसी का यह परिणाम है कि आज केवल पंजाब में शराब की जितनी खपत होती है, उतनी भारत के किसी अन्य राज्य में नहीं होती। 'फिनिश्ड गुड्स' और विलासिता की सामग्री की भी सबसे अधिक बिक्री पंजाब में ही होती है। इससे सिख पंथ को नया खतरा पैदा हो गया। इस खतरे को टालने के लिए धार्मिक कट्टरता पर बल दिया जाने लगा। इस परिस्थिति में कुछ कट्टरपंथी सिख प्रचारक सिख जनता में खूब लोकप्रिय होने लगे।

इस प्रकार धनाढ्य किसानों के प्रतिनिधि नेता बने प्रकाश सिंह बादल,. आम खेतिहर छोटे किसानों के प्रतिनिधि बने लोंगोवाल और धार्मिक कट्टर लोगों के प्रतिनिधि बने भिण्डराँवाले। तीनों सिख जाट। यों हरित क्रान्ति के बाद के इन तीनों कृषिजीवी वर्गों ने उग्रवादी तत्वों के साथ गठबंधन करके धार्मिक मांगों के साथ राजनीतिक मांगों को जोड़ दिया और राष्ट्र के लिए एक अभूतपूर्व संकट पैदा कर दिया।

संगत और पंगत

सिख समुदाय के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं – संगत, पंगत और लंगर। संगत में 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' की झलक है – अर्थात् साथ मिलकर बैठो, साथ मिलकर विचार करो और साथ मिलकर समाज-हित का कार्य करो। पंगत का अभिप्राय है कि सब काम पंक्तिबद्ध अर्थात् अनुशासन में रहकर करो। लंगर का आशय है कि बिना भेदभाव और छुआछूत के समाज की संपत्ति का मिल बांट कर उपयोग करो।

इस समय पंजाब के कुछ भूमिपतियों और राजनेताओं ने मिलकर अपने वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए, पंजाब के बाहर बसे लाखों सिखों के व्यापक हितों की अवहेलना करके सारी संगत को अलगाव की भावना से भर दिया है। इनके साथ मिल गए कुछ विदेशों में बसे और वहीं के नागरिक बने नवधनाढ्य सिख, जिन्हें उन देशों की सरकारों के उन लोगों का समर्थन प्राप्त है जो भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं। सन् १९०७ में जो पंजाब 'पगड़ी संभाल ओ जट्टा' के राष्ट्रीय गान से गूँज उठा था, सन् १९४४ में 'आजाद पंजाब' की जिस योजना का राष्ट्रवादी सिखों ने ही प्रबल विरोध किया था, उस राष्ट्रवादी पीढ़ी के समाप्त हो जाने के पश्चात् नई स्वार्थपरायण पीढ़ी ने अलगाव के अलाव में संगत को सुलगा दिया है। इस संगत को राष्ट्रीय रंगत देनी होगी।

निष्कर्ष

पिछले पृष्ठों में हमने गुरु नानक से लेकर भिण्डराँवाले तक सिख इतिहास की और घटनाक्रम की चर्चा की है और यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार सत्ता प्राप्ति की लालसा ने आध्यात्मिकता-प्रधान पंथ में सैन्यवृत्ति प्रविष्ट की, किस प्रकार अंग्रेजों के कुटिल जाल ने उन्हें हिन्दुओं से अलग करके अपने साम्राज्य-विस्तार का हस्तक बनाया, किस प्रकार वे राष्ट्रीय धारा से कटकर केवल पंथ और केवल पंथ की भावना से ग्रस्त होकर अलगाव की ओर बढ़ने लगे। मा. तारा सिंह खालिस्तान के निर्माण की फरियाद लेकर, आजादी के बाद, पहले विलायत गए, विदेशी ईसाई मिशनरियों का समर्थन करने लगे और फिर पाकिस्तान गए। जनरल डायर और लार्ड डलहौजी

का स्वर्ण-मंदिर में स्वागत और सिंह सभा का सदस्य अंग्रेजों को बनाना पर हिन्दुओं को नहीं, और सन् १८५७ की राज्य क्रान्ति में हिस्सा लेने वालों को तथा कामागाटामारू जहाज के स्वतंत्रता सेनानियों को 'गद्दार' कहना एवं राष्ट्रभक्त बलिदानी नामधारियों को पथभ्रष्ट बताना सिख इतिहास का कालिमामय अध्याय है। कभी कांग्रेस का, कभी जनसंघ का, कभी जनता पार्टी का साथ उनकी राष्ट्रीयता के बजाय पंथिक स्वार्थ के लिए बैडमिन्टन की 'शटलकॉक' की तरह पाला बदलकर उछलते रहने की निशानी बन गई। किस प्रकार इन्दिरा गांधी को बाह्मनी या बाह्मन की बेटी, नेहरू और गांधी को हिन्दू नेता, हिन्दुओं को धोतीप्रसाद, आर्यसमाजियों को 'महाशय' और निरंकारियों को 'वाजिबुल-कत्ल' बताकर वे नफरत की चरम सीमा पर पहुँच गए। किस प्रकार वे हिन्दी, राष्ट्रध्वज और भारतीय संविधान का तिरस्कार कर राष्ट्र-द्रोह की ओर बढ़ते गए। किस प्रकार संतों के वेश में हत्यारों के गिरोह तैयार किए जाने लगे। किस प्रकार पाकिस्तान, चीन, ब्रिटेन, कनाडा और अमरीका ने उनको शह दी। इस सारे ऐतिहासिक घटनाक्रम का, अपनी ओर से निष्पक्ष होकर, कहीं संक्षेप में और कहीं कुछ विस्तार से, विवेचन करने का प्रयत्न हमने किया है। फिर अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि एक राष्ट्र के निर्माण में बाधक तत्व कौन से हैं और कैसे उनका निराकरण किया जा सकता है।

हम यह विश्वास करते हैं कि कालरात्रि चाहे कितनी ही विकट हो, अंधकार चाहे कितना ही गहरा हो, पर वह एक दिन समाप्त अवश्य होगा, यह प्रकृति का नियम है। नया सवेरा आएगा, अवश्य आएगा। इतिहास में न जाने अब तक हमने कितने अंधकार झेले हैं, पर उन सबको पचाकर अंदर से ज्योति की किरण भी प्रसारित की है। अनेक धर्मों, अनेक जातियों, अनेक भाषाओं और अनेक रंगों का यह देश सब प्रकार की विविधताओं को समेट कर संसार का विशालतम साम्प्रदाय-निरपेक्ष लोकतंत्र बनने का जो परीक्षण कर रहा है, जिसकी ओर सारा संसार उत्सुकता से देख रहा है, उसमें यह महान् राष्ट्र अवश्य सफल होगा।

दुःख की घड़ियां मन को क्लेश देती हैं तो चिन्तन की नई दिशा भी प्रदान करती हैं। पंजाब में महाकाल का ताण्डव फिर जन्म न ले, पंजाब में कोई भस्मासुर फिर पैदा न हो, इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि पंजाब की हिन्दू-सिख जनता भूल जाए कि गत तीन चार वर्षों में वहां कुछ अप्रिय घटित हुआ है।

दूसरी आवश्यकता यह है कि सिख समुदाय मजहब और राजनीति को एक मानने की हठ छोड़े, क्योंकि अकाली दल का इतिहास बताता है कि सिखों में अन्याय का बोध रोपे बिना उसका अस्तित्व रह नहीं सकता।

तीसरी आवश्यकता यह है कि मांगों पर साम्प्रदायिक और प्रान्तीय दृष्टिकोण से नहीं, अपितु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार-विमर्श हो, सरकार की विवशता और पड़ौसी राज्यों की आवश्यकता को भी समझने की सूझ पैदा हो।

चौथी आवश्यकता यह है कि सिख समुदाय 'प्रायश्चित्त दिवस' मनाकर आतंकवादियों की गतिविधियों की निन्दा करें और अन्य धर्मावलम्बियों से क्षमा-याचना करे, जिससे उनकी खोई विश्वसनीयता पुनः प्रतिष्ठित हो सके।

पाँचवीं आवश्यकता यह है कि संदिग्ध नेताओं व व्यक्तियों द्वारा पंथ की वेदी का दुरुपयोग तुरन्त रोका जाए और विदेश में बैठे उग्रवादियों की हरकतों का मुँह तोड़ उत्तर देकर उस राष्ट्रभक्ति को फिर पुनर्जीवित किया जाए जिसके बल पर सरदार अजीत सिंह, ऊधम सिंह, भगत सिंह आदि सिख शहीदों ने शहादत का जाम पिया था।

छठी आवश्यकता यह है कि पारस्परिक भाई-चारे की पुनः स्थापना के लिए हिन्दू-सिख परिवारों में वैवाहिक सूत्रों की प्राचीन परम्परा विकसित की जाए और हिन्दुओं का गुरुद्वारों में तथा सिखों का मंदिरों में जाना पहले की तरह फिर शुरू हो ।

सातवीं आवश्यकता यह है कि सिख व हिन्दू विद्वान भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन कर यह सिद्ध करें कि दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है, एक ही सत्य के दो पहलू हैं ।

आठवीं आवश्यकता यह है कि सिख अपनी मांगें निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से विधान सभा व लोकसभा में रखें और वहां जो निर्णय हो उसे सहज भाव से स्वीकार करें, न कि उन मांगों को आन्दोलनों के माध्यम से सड़कों पर घसीटते फिरें ।

नौवीं आवश्यकता यह है कि उग्रवादी विचारों का प्रसारण करने वाले साहित्य, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं पर कड़ा प्रतिबंध लगे और विदेशों में उनकी गतिविधियों पर सार्थक रोक हो ।

दसवीं आवश्यकता यह है कि हम में यह सोच पैदा हो कि मजहब, भाषा, क्षेत्रीयता और कौम का अपना महत्व है, किन्तु राष्ट्र को सर्वोपरि मानने में ही यह महत्व चिरस्थायी, सार्थक और कल्याणकारी बन सकेगा ।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघ चालक मा. स. गोलवलकर के 'हिन्दुत्व' से भले ही कोई व्यक्ति सहमत न हो, किन्तु इस दिशा में उनका निम्न दिशा-बोध राष्ट्रवासियों को सही चिन्तन देने की क्षमता रखता है । इसी दिशा से पंजाब की धरती पर एक बार फिर वारिस शाह की हीर, जोकि प्रेम का प्रतीक है, सांझे भाईचारे की प्रतीक है, गूँज सकती है, पंचनद से उठने वाली बयार पंजाब के क्रोध आक्रोश और शोक का शमन करने में सफल हो सकती है:–

"इतिहास का निष्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे गलत समझने की कोई गुंजाइश नहीं है । राष्ट्रीय चेतना तथा एक ही राष्ट्र-शरीर के अंग होने की अवयवी भावना का अभाव तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परस्पर विनाशक कलह, इन्हीं ने गत सहस्र वर्षों से अपने राष्ट्र के मर्म स्थान को ग्रस लिया है । मुसलमान अथवा अंग्रेज हमारे शत्रु नहीं थे, बल्कि हम स्वयं हीअपना विनाश कर रहे थे । गीता में कहा है:–

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ।

– अर्थात् हम ही अपने मित्र हैं, हम ही अपने शत्रु हैं । खेद है कि हमारे संबंध में इस उक्ति का अन्तिम अर्धांश ही सत्य हुआ है ।

इसलिए हम कहते हैं कि अपने पतन तथा विनाश के कारणों के लिए बाह्य आक्रामकों को कोसने से कोई लाभ नहीं है । आखिरकार दुर्बल देशों पर आक्रमण करना, उन्हें लूटना तथा उनका विनाश करना, यह लुटेरे राष्ट्रों की प्रकृति होती है । यदि सांप किसी व्यक्ति को काटता है तो उसका दोष नहीं है । काटना तो उसकी प्रकृति में ही है । दोष तो उस आदमी का है जो सर्तकता नहीं बरतता और सम्भाव्य खतरे से अपना बचाव नहीं करता । दुर्भाग्य से अपने गत सहस्र वर्षों में अपना अपमान तथा विपत्तियों के बार-बार घटित होने वाले इतिहास के अनुभवों के बावजूद हम एक आधारभूत शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके कि हम स्वयं ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं और जब तक हम अपने में से उस प्राणघातक दुर्बलता को नहीं मिटा देते, हम एक राष्ट्र के रूप में जीवित बने रहने की आशा नहीं कर सकते ।

हमारे समाज में प्रत्येक विषय में, चाहे वह भाषा, पंथ, सम्प्रदाय अथवा पार्टी किसी से संबंधित हो, गंभीर दरार बनती जा रही है । कोई भी व्यक्ति खड़ा हो जाता है और कहता है कि उसे अपनी भाषा के लिए अथवा अपने सम्प्रदाय के लिए एक राज्य चाहिए और यदि वह

संघ में बने रहने के लिए तैयार है तो वह चाहता है कि वह एक ढीले तौर से बांधा गया संघ हो जिसमें उसके राज्य को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हों तथा केन्द्रीय सत्ता नाममात्र के लिए लागू हो।

परस्पर घृणा तथा विद्वेष का वही अभिशाप, जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को गत एक सहस्र वर्षों में कसाईखाने में बदल दिया था, अब भी प्रान्त, दल, भाषा, पंथ, सम्प्रदाय आदि के नए वेश में अपना मृत्यु-नृत्य किए जा रहा है। क्या हम कह सकते हैं कि इस भूमि से जयचन्दों तथा मानसिंहों की जाति समाप्त हो गई है?"

पंजाब कैसे बचेगा?

आज का ज्वलंत प्रश्न यह है कि लपटों में झुलसी पंजाब की शस्य श्यामला भूमि की हरियाली कैसे लौटेगी? सतलुज, व्यास, रावी, चनाब और जेहलम की ठंडी हवाओं में घुला जहर कैसे दूर होगा? शशि-पुन्नु, हीर-रांझा, सोहनी-महिवाल और मिर्जा-साहिबां की प्रेम कहानियों से ओतप्रोत रहने वाले पंचनद में वैमनस्य और घृणा की जो दरारें पड़ गई हैं, वे कैसे पाटी जाएंगी। शाह हुसैन, बुल्ले शाह, वारस शाह, सुन्दर दास आराम, इन्द्रजीत मुंशी, चन्द्रभान, आनन्दराम मुखलिस, नन्दलाल गोइया, राय रामजीलाल हातिफ, मुंशी रामजस मुहीत, गोकुल लाहौरी, मुंशी त्रिलोक चंद महरूम, रामप्रसाद खोसला नाशाद, लभूराम जोश, अर्श मलसियानी, मखमूर जालंधरी, जगन्नाथ आजाद आदि ने अपनी शायरी से पंजाब में मुहब्बत भाईचारे और साम्प्रदायिक सौहार्द से जो समां बांधा था, वह टूट गया है। वह फिर कैसे जुड़ेगा?

सैनिक कार्रवाई के पश्चात् भी स्थिति यथावत् बनी हुई है। अपराधियों के हाथ रुक गए हैं, किन्तु उनकी मनोवृत्ति नहीं बदली। ऐंठन बनी हुई है, रीढ़ टूट चुकी, पर मुँह वाली जहर की थैली बरकरार है। प्रायश्चित्त के स्थान पर प्रतिशोध सीना ताने खड़ा है। जोश बढ़ रहा है, होश गायब है। यह मांग उठती जा रही है कि पंजाब से सेना हटाओ, गुरुद्वारों को बंधन-मुक्त करो। यह काम तो देर-सबेर होना ही है। पर ऐसी मांग करने वालों की बुद्धि पर तरस आता है कि उन्होंने फूटे मुँह से अभी तक यह नहीं कहा कि आतंकवादियो! हथियार डाल दो, आंदोलनकारियो! आंदोलन वापिस लो। उन्होंने सैनिक कार्रवाई की तो निन्दा की है, किन्तु आतंकवादी गतिविधियों के बारे में विश्व सिख सम्मेलन में मुँह नहीं खोला।

इस मानसिकता के रहते पंजाब से सेना वापिस बुलाना अदूरदर्शिता होगी, राष्ट्र अहित की बात होगी। जब तक पंजाब का अन्तिम आतंकवादी आत्म-समर्पण नहीं कर देता, जब तक शिरोमणि अकाली दल अपने गुनाहों को कबूल नहीं कर लेता, जब तक शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी राष्ट्र से क्षमायाचना नहीं करती और भविष्य के लिए गारंटी नहीं देती, तब तक उनके प्रति किसी प्रकार की दया दिखाना राष्ट्र हित में नहीं होगा। यह आंदोलन केवल राजद्रोह नहीं, एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र था जिसमें अनेक विदेशी सरकारें शामिल रही हैं, अतः इसे व्यापक संदर्भ में लेकर इसके खतरों को समझना होगा।

पंजाब की जिस उर्वरा भूमि में इस्लाम पनपा, सिख पंथ का उदय हुआ, फरीद की वाणी गूँजी, ब्रह्म समाज और देव समाज ने लोगों का सम्मान अर्जित किया, अहमदिया सम्प्रदाय ने जन्म लिया, आर्य समाज ने जीवन-शक्ति प्राप्त की, सनातन धर्म ने चेतना की अंगड़ाई ली, आज वह अकालियों

के एक झटके से बांझ होने की पीड़ा भुगत रही है। उसका यह दुःख कैसे दूर होगा?

सरकार अपना कार्य करे, धार्मिक संस्थाएं अपना धर्म निभाएं, शायर और कवि अपनी अदाकारी का चमत्कार दिखाएं, जनता संगठन-शक्ति का राष्ट्र हित में परिचय दे तो राजगुरु-सुखदेव-भगत की कुर्बानियों का मूल्य चुकाया जा सकता है, लाजपतराय के बलिदान की अदायगी हो सकती है, यदि पंजाब के चप्पे-चप्पे से सरदार अमर सिंह की यह यह वाणी गूँज उठेः–

आजाद हम न होंगे जब तक रहे–वतन में
इक-इक न मर मिटेगा पीरो जवां हमारा।
'मनसूर' दार पर भी मुँह से सदा यह निकले
''हिन्दोस्तां के हम हैं, हिन्दोस्तां हमारा।।''

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेत्री, पंजाब की धरती की तथा मानवीय संवेदना की अपनी कृतियों द्वारा चतुर चितेरी, पंजाब की ही प्रतिभाशाली पुत्री, प्रसिद्ध साहित्यकार अमृता प्रीतम ने लिखा है:–

''हमारी ही दुनिया के कुछ आदिवासियों में एक कहानी चली आ रही है कि पुराने वक्तों में आसमान बहुत नीचा हुआ करता था–इतना नीचा कि धरती का इन्सान कभी सिर उठाकर नहीं चल सकता था। तब धरती पर इतना अंधेरा था कि कुछ खाने के लिए इन्सान घुटनों के बल चलता हुआ कुछ जड़ी-बूटियां भर खोज लेता था ...। कहते हैं कि तब पंछियों को यह ख्याल आया कि अगर किसी तरह आसमान को धकेल कर कुछ ऊँचा कर दिया जाए, तो धरती के इन्साऩ सिर उठाकर चल सकेंगे ...। और कहते हैं कि पंछियों ने लम्बे-लम्बे तिनके इकट्ठे किए और जोर लगाकर आसमान को ऊपर उठाना शुरू किया। आसमान सचमुच ऊपर उठ गया और जो घुटनों के बल चल रहे थे, सिर उठाकर चलने लगे ...। साथ ही आसमान की ओट में छिपा हुआ सूरज सामने आ गया और धरती पर रोशनी हो गई।

यह कहानी पुराने वक्तों की होते हुए भी मेरी नजर में हर काल की कहानी है–आज की भी।

हमारी दुनिया में कितनी ही तरह के अंधेरे हैं, जिनमें लोग गुमराह होते हैं, भटकते हैं और उनकी वह शक्ति जो सकारात्मक हो सकती थी, नकारात्मक हो जाती है।

लेकिन जो वक्त के चिन्तनशील लोग होते हैं, दूर अंदेश होते हैं, जो अपनी धरती को और अपने लोगों को प्यार करते हैं, वे अपने-अपने चिन्तन को, अपनी-अपनी आवाज को, अपनी-अपनी कलम को इतना ऊँचा उठाते हैं कि आसमान सचमुच ऊपर उठ जाता है ...। यह हर काल की और हर देश की हकीकत है ...।

आज, हम अपने देश में सिर उठाकर चल सकें, इसीलिए हमें चिन्तन का आसमान ऊँचा करता होगा।

हमारे देश में कितनी ही तरह के वाद या एतकाद हैं–लेकिन हमें एकता के सूरज की रोशनी चाहिए, ताकि उस रोशनी में हम अपने देश में सिर ऊँचा करके चल सकें।''

हमें विश्वास है कि अंधेरा दूर होगा।
नया सवेरा आएगा।
अवश्य आएगा

१५ जिसकी सांसों से महका था सारा चमन

आखिर अनहोनी हो ही गई।

जिसकी सांसों से सारा चमन चमन महका था उस बुलबुल को लहू-लुहान करके सैयाद ने चमन से हटा दिया।

छत्तीस साल पहले भी एक इसी प्रकार की अनहोनी घटना हुई थी। तब भी हर क्षण उसकी सम्भावना थी, पर उस सम्भावना को रोकने के लिए कोई सरजाम नहीं था। तब महात्मा गांधी की हत्या हुई थी।

इस बार सुरक्षा पहरेदारों के तीन-तीन घेरों के बावजूद, जहां बिना इजाजत के परिन्दा भी पर नहीं मार सकता था, वहां खुद के पहरेदारों ने ही इतना बड़ा हादसा कर दिया कि सारा संसार स्तब्ध रह गया। हादसा देखने में बहुत छोटा, पर इतना भयंकर कि इतिहास भी क्या याद करेगा !

अक्तूबर मास के अंतिम दिन का वह सवेरा।

सवेरे के नौ बजे थे। संसार की सबसे अधिक लोकप्रिय राजनेता, विश्व के महानतम लोकतंत्र की नियन्ता और सर्वाधिक शक्तिशाली समझी जाने वाली प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी अपने निवास स्थान १ सफदरजंग रोड से निकल कर निकट ही अपने सरकारी कार्यालय १ अकबर रोड की ओर चली।

१ सफदरजंग रोड से १ अकबर रोड कुछ ही मिनटों का रास्ता है। बीच में बोगनवेलिया की सुर्ख फूलों से लदी झाड़ियां पड़ती हैं। उन्हीं झाड़ियों में एक साँप छिपा था। रास्ता संकरा था इसलिये वैयक्तिक सुरक्षाधिकारी दिनेश भट्ट दो कदम पीछे चल रहा था। दिनेश भट्ट को किसी ने आवाज दी। उसने मुड़ कर देखा। जब तक उसने वापिस नजर घुमाई, तब तक वहीं ड्यूटी पर तैनात बेअन्तसिंह और सतवन्तसिंह अपनी गोलियों से इन्दिरा गांधी का शरीर छलनी कर चुके थे।

इन्दिरा गांधी के राजनीतिक सलाहकार माखनलाल फोतेदार ने एक सफेद एम्बेसेडर कार तैयार करवाई और सोनिया गांधी अपनी सास का सिर गोद में रखे कार में पीछे बैठी। कार आल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट की ओर तेजी से भाग चली। डाक्टरों ने अपनी ओर से स्थिति संभालने का पूरा प्रयत्न किया।

डाक्टरों ने आपरेशन किया तो यह देख कर घबरा गये कि दायां फेफड़ा एकदम छलनी हो चुका है। छोटी आंतों में १३ सुराख हैं और गोलियों से सारे रक्तकोष फट चुके हैं। हृदय अलबत्ता सुरक्षित है, लेकिन एक फेफड़ा बिल्कुल नाकारा हो चुका है। एक्सरे से पता लगा कि रीढ़ की हड्डी पूरी तरह

टूट गयी है और भुजाओं के ऊपर की अस्थियां चकनाचूर हो चुकी हैं। ऐसी हालत में सर्जरी कुछ भी नहीं कर सकती थी।

अन्त में जब डाक्टरों ने देखा कि पलकें ज्यों की त्यों स्थिर हैं और नब्ज भी चलनी शुरू नहीं हुई, तो २ बजे उन्होंने हार मान ली और उन्हें मृत घोषित कर दिया।

दोपहर १२ बजे के प्रसारण में बी. बी. सी. ने श्रीमती गांधी की मृत्यु की घोषणा कर दी थी। संवाद समितियों ने भी दोपहर को ही उनकी मृत्यु का समाचार टेलिप्रिंटर पर प्रसारित कर दिया था और दैनिक अखबारों ने दोपहर तक अपने परिशिष्ट निकाल कर मृत्यु की पुष्टि कर दी थीं।

बिजली की सी तेजी से राजधानी में खबर फैल गई और मैडिकल इंस्टिट्यूट में भीड़ जमा होने लगी। शाम होने तक तो इतनी भीड़ जमा हो गई कि उधर जाने वाले सब रास्ते अवरुद्ध हो गए।

दोपहर के ४ बजे के लगभग राजीव गांधी कलकत्ता से वहां पहुँचे। लिफ्ट में ऊपर चढ़ते हुए उन्होंने पूछा – 'क्या समाचार है?' उत्तरदाता ने सिर झुका लिया। वे समझ गए। खेल खत्म हो चुका था।

आपरेशन कक्ष से कोई ५० गज की दूरी पर दूसरे कमरे में तत्काल मंत्रिमंडल के और कांग्रेस के उपस्थित वरिष्ठ नेताओं की बैठक हुई और स्थिति पर विचार करके भावी प्रधानमंत्री के सम्बन्ध में निश्चय किया गया। तब तक सरकारी तौर से श्रीमती गांधी की मृत्यु की घोषणा इसीलिए नहीं हुई थी। शाम को साढ़े पाँच बजे राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह अपनी यमन की यात्रा अधूरी छोड़ कर हवाई अड्डे से सीधे मेडिकल इंस्टिट्यूट पहुँचे। कुछ लोगों ने उनके विरुद्ध नारे लगाए और उनकी कार पर पथराव भी किया। राष्ट्रपति केवल २० मिनट ही मेडिकल इंस्टियूट में रहे। इधर शाम को ६ बजे रेडियो से श्रीमती गांधी की मृत्यु का समाचार प्रसारित हुआ, उधर उसके तत्काल बाद राष्ट्रपति ने राजीव गांधी को नए प्रधानमंत्री की शपथ दिलाई।

उपद्रवों की आग

मेडिकल इन्स्टीट्यूट के बाहर इकट्ठी भारी भीड़ श्रीमती गांधी की मृत्यु पर सहसा विश्वास नहीं कर सकी। कुछ ही देर में यह अविश्वास क्षोभ और आक्रोश में बदल गया। भीड़ ने टैक्सियों, स्कूटरों और बसों को आग लगानी शुरू कर दी। जब भीड़ को यह पता लगा कि कुछ सिखों ने इंदिरा गांधी की मृत्यु पर खुशी मनाई है और मिठाई बाँटी है, तब उसके आक्रोश का ठिकाना न रहा। रोष की यह लहर राजधानी से होती हुई देश भर में फैल गई। १ नवम्बर से अनेक शहरों में सिखों के मकान-दुकान लूटने, उन्हें जलाने और मारने की खबरें आने लगीं।

उपद्रव अधिकतर उत्तर भारत में हुए। इसमें सिखों के जानमाल की भारी हानि हुई। संसार में जहाँ भी कहीं उपद्रव होते हैं वहाँ असामाजिक तत्वों का हाथ सबसे अधिक होता है। यहाँ भी वही हुआ। अगर ये उपद्रव केवल साम्प्रदायिक होते तो उत्तर भारत से सिखों का सफाया हो जाता, पर ऐसा नहीं हुआ। हुआ यह कि हिन्दुओं ने अपनी जान पर खेल कर पड़ौसी सिखों की रक्षा की। इन उपद्रवों की पंजाब में भीषण प्रतिक्रिया हो सकती थी, पर वह इसीलिए नहीं हुई।

३ नवम्बर १९८४.

अपने पिता के साथ जिस भवन में कभी श्रीमती गांधी घर की संरक्षिका बन कर रहीं, उसी तीन मूर्ति भवन से उनकी अंतिम विदाई होगी, यह किसने कब सोचा होगा।

वातावरण उदासी से बोझिल था। १०४ देशों के विशिष्ट व्यक्ति उस दिन यमुनातट पर विराजमान थे। उनमें राजा थे, राज्याध्यक्ष थे, निर्गुट और संगुट देशों के प्रधानमंत्री थे। सब एक खास बाड़े में बैठे थे और उनकी सुरक्षा के लिए भारी संख्या में कमांडो तैनात थे, क्योंकि उनमें से अनेक को किसी भी हत्यारे की गोली का भय था। मार्गरेट थैचर तो कुछ ही सप्ताह पूर्व बम फटने से बाल बाल बची थीं। अंत्येष्टि का यह दिन एक और दृष्टि से भी विशेष और अनुपम था – एक प्रधानमंत्री अपने पूर्ववर्ती प्रधानमंत्री की अंतिम क्रिया कर रहा था। राजीव गांधी को अपनी माँ से अपने परिवार का मुखिया होना ही विरासत में नहीं मिला था, सरकार का मुखिया होना भी विरासत में मिला था।

पुत्र होने के नाते अपनी माँ की अंतिम क्रिया करते हुए राजीव का हृदय रो रहा था, पर प्रधानमंत्री का पद आँसू बाहर निकालने से रोकता था। कैसा अन्तर्द्वन्द्व था। जब बेटे ने परिक्रमा करके चन्दन की चिता में अग्नि दी, तब उसके चेहरे पर गम्भीरता थी, पर इस दृश्य को देखने वालों की आँखें भर आईं। कितने ही विदेशी रूमाल से आखें पोंछते देखे गए।

धीरे धीरे चिता की अग्नि प्रज्वलित होकर आसमान की ओर उठने लगी। उधर इस दृश्य को देखने में असमर्थ सूर्य भी अस्ताचल की ओर जाने लगा। श्रीमती गांधी धराधाम से परमधाम की ओर चल पड़ीं। इतिहास-निर्मात्री स्वयं इतिहास बन चली।

जिस राजनीति की जादूगर ने १६ वर्ष तक देश पर शासन किया, जिसकी भृकुटि से पाकिस्तान और बंगलादेश कांपते थे, जो एक क्षण महाशक्तियों को लताड़ती थी और दूसरे क्षण राष्ट्रविरोधियों को, जो एक क्षण कठोर कदम उठाने का आदेश देती थी तो दूसरे क्षण अत्यंत नाजुक मसलों को हल करने का निर्णय लेती थी, वह साहस, निर्भीकता और अदम्य पौरुष की पुतली, युग-मानवी क्या इस तरह, इतनी जल्दी चली जाएगी ?

नहीं, यह एक नेता का अन्त नहीं था, यह एक युग का अंत था।

आखिर सूर्य अस्त हो गया।

पर ऐसा सूर्य आज तक कभी अस्त नहीं हुआ जो अगले दिन सूर्योदय की भविष्यवाणी न कर गया हो।

क्रौंचवध को देखकर आदिकवि वाल्मीकि के हृदय से करुणा का स्रोत और मुख से सृष्टि का पहला श्लोक निकल पड़ा था। उन्होंने बहेलिये को "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः"–अरे निषाद ! अब तू जन्म जन्मान्तर तक, सैंकड़ों हजारों सालों तक, कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करेगा–यह कह कर शाप दिया था। यहाँ बेअंत और सतवंत ने न केवल इन्दिरा गांधी की हत्या की थी, बल्कि एक विश्वास और मानवीय आस्था की भी हत्या की थी। अब सारे संसार की मानवात्मा इस विश्वासघात के लिए उन्हें शाप न दे, तो क्या करे !

इंदिरा गांधी ने सिखों के लिए क्या किया –

१. इंदिरा गांधी ने शासन सूत्र संभालते ही पंजाब का विभाजन स्वीकार किया। उसे हरियाणा और पंजाबी सूबे में बदल दिया। पं. नेहरू के सामने पंजाबी सूबे की मांग के लिए आमरण अनशन और आत्मदाह तक की धमकियां आई थीं। पर वे टस से मस नहीं हुए थे।

२. इंदिरा गांधी ने अपने अवार्ड में चण्डीगढ़ पंजाब को देने का फैसला किया जबकि शाह आयोग ने चंडीगढ़ हरयाणा को देने की सिफारिश की थी। स्वयं चंडीगढ़ निवासी चंडीगढ़ पंजाब को देने के हक में नहीं हैं। वहां से चुनकर आया संसद सदस्य हर बार इसी मत का होने के कारण चुनाव जीत कर आता रहा है।

३. इंदिरा गांधी ने ज्ञानी जैलसिंह को राष्ट्रपति बनाया। जिस राष्ट्रपति पद पर कभी डा. राजेन्द्र प्रसाद और डा. राधाकृष्णन जैसे दिग्गज और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान रहे हों उस आसन तक पहुंचने का ख्वाब खुद ज्ञानी जी ने सात जन्म में नहीं देखा होगा (बाद में, पंजाब में उग्रवाद की समस्या को उलझाने/सुलझाने में ज्ञानी जी का जो हाथ रहा है वह अब सबको मालूम है)।

४. इंदिरा गांधी ने सिखों की सब जायज-नाजायज धार्मिक मांगें मानने की इकतरफा घोषणा की।

५. इंदिरा गांधी ने संविधान के २५वें अनुच्छेद में संशोधन करने की बात भी मानी – विना संसद से पूछे। यह अलग बात है कि स्वयं सिख इस अनुच्छेद में क्या संशोधन चाहते हैं – यह कभी नहीं बता सके और सिखों ने इंदिरा गांधी के साथ क्या किया ?

पर सिखों ने इंदिरा गांधी के साथ क्या किया ?

शास्त्रकारों ने सब पापों के प्रायश्चित्त का विधान किया है। अगर किसी पाप का प्रायश्चित्त नहीं है, तो वह है – कृतघ्नता। "कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः" – कृतघ्न के लिए कोई प्रयश्चित नहीं है।

कुछ खरी खरी

पुस्तक में बार बार यह कहा गया है कि सिख हिन्दुओं से अलग नहीं हैं। तत्वज्ञान, सिद्धान्त, आचार-विचार, सामाजिक बन्धन, रहन-सहन; बोलचाल और वेश-विन्यास आदि किसी भी दृष्टि से सिख हिन्दुओं से अलग नहीं कहे जा सकते। परन्तु अपने मन में एक काल्पनिक भय, मिथ्या अहम्, और अलग पहचान का आग्रह पालकर वे अपने आपको हिन्दू समाज से पृथक एक अल्पसंख्यक समुदाय मानकर चलना चाहते हैं। इसकी उन्हें पूरी आजादी है ! कोई उन्हें हिन्दू कहने को बाध्य नहीं करता। यदि वे बहुसंख्यक समुदाय का अंग बन कर रहना चाहते हैं तो सारा हिन्दुस्तान उनका है। आखिर देश ने ज्ञानी जैलसिंह को राष्ट्रपति बनाया ही है। परन्तु यदि वे अल्पसंख्यक ही बन कर रहना चाहते हैं तो उन्हें अल्पसंख्यकों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से निर्धारित मर्यादाओं का पालन करना होगा। अल्पसंख्यक होना कोई वरदान नहीं है, न ही बहुसंख्यक होना कोई अभिशाप है। जो

स्वयं दूसरे दर्जे का नागरिक नहीं बनना चाहते वे बहुसंख्यकों के बारे में वैसा कैसे सोच सकते हैं ? सिखों को अपना विशिष्टतावाद छोड़ना होगा ।

दूसरी बात यह कि यदि सिख भिंडरांवाले और उसके कृत्यों से सहमत नहीं थे तो उन्होंने उसके विरोध के लिए क्या किया ? उनके मौन को सहमति के सिवाय क्या समझा जाए ? जिस प्रकार के जत्थे और मोर्चे सरकार के विरुद्ध जरा जरा सी बात पर निकाले गए क्या उस प्रकार का एक भी मोर्चा भिंडरांवाले के विरुद्ध लगा ? कोई आमरण अनशन, कोई आत्मदाह, कोई सत्याग्रह–कहीं कुछ तो होता । पंजाब नहीं, तो पंजाब के बाहर के सिख वैसा कुछ कर सकते थे । भिंडरांवाले के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सबसे अधिक दण्ड तो उन्हीं को भुगतना पड़ता । सिख जिस केन्द्रीय सरकार को 'हिन्दू सरकार' कहते हैं उसी हिन्दू सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी प्रखर हिन्दुत्ववादी संस्था पर प्रतिबन्ध लगाया था । क्या सिखों ने सत्ता में होने पर भी कभी सिख साम्प्रदायिकता के विरुद्ध कोई कदम उठाया ?

कल तक सिखों की देशभक्ति पर किसी ने शंका नहीं की । देश की रक्षा की बागडोर सिख प्रतिरक्षा मंत्री या तीनों सेनाओं के सिख सेनाध्यक्ष या उपसेनाध्यक्षों के हाथों में सौंपने में कभी संकोच नहीं किया गया । पर प्रश्न यह है कि भिंडरांवाले जैसे राष्ट्रद्रोही को सन्त बनाते समय वह देशभक्ति कहां चली गई ? स्वर्णमन्दिर को राष्ट्र से ऊपर और भिंडरांवाले को सब कायदे-कानूनों से परे मानना तथा अलग संविधान, अलग राज्य, अलग झण्डा–ये सब कौन से राष्ट्र की भक्ति के परिचायक हैं ? जिस जनरल डायर ने जलियांवाले बाग का हत्याकाण्ड किया था उसका बदला एक देशभक्त सिख ने लिया था । ब्रिटेन में जाकर जनरल डायर को गोली मारी थी । पर अब राष्ट्रद्रोहियों को सबक सिखाने के लिए कोई सिख क्यों तैयार नहीं होता ? लोंगोवाल, तोहड़ा और बादल क्यों भिंडरांवाले समर्थक बनते चले गए ? उनमें देशभक्ति का वह उबाल क्यों नहीं आया जिसके लिए करतारसिंह सराबा, भगतसिंह और ऊधमसिंह जैसे सिखों का नाम देशभक्ति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं ? जो इतने बलिदानी, देशभक्त और क्रान्तिकारी होते थे वे साम्प्रदायिकता के गढ़े में कैसे गिर गए ? देश के बाहर से खड़े तमाशा देखने वाले और निरन्तर भारत के विरुद्ध विष-वमन करने वाले चौहानों और ढिल्लों को सबक सिखाने वाला क्या कोई सिख नहीं ? सिखों को अपनी इस परिवर्तित मानसिकता के कारणों पर विचार करना चाहिए ।

तीसरी बात यह कि अब सिख जिस चौराहे पर पहुँच गए हैं वहां से उन्हें कौन से रास्ते पर चलना है, यह फैसला खुद उन्हीं को करना है । अब तक सिख नेता एक साथ अनेक नावों पर सवार होने का प्रयत्न करते रहे हैं । भविष्य में उन्हें एक नाव चुननी होगी । अनेक उत्थान-पतन देखने वाले पांच नदियों के प्रदेश पंजाब से ही भारत की राजनीति में वे दो रास्ते उभरे हैं । एक रास्ता भिंडरांवाले का है और दूसरा भगतसिंह का ।

यदि सिख समुदाय भगतसिंह का रास्ता अपनाता है तो सारे राष्ट्र के सिरमाथे । पर यदि वह भिंडरांवाले का रास्ता अपनाता है, तो भारत के ६८ करोड़ लोग एक ओर होंगे और दो करोड़ दूसरी ओर । ३१ अक्तूबर, १९८४ के बाद चार दिन तक देश में जो उपद्रव हुए उनमें आत्मीयता के कारण यह तो स्वाभाविक था कि पड़ौसी पड़ौसी की मदद करे । परन्तु यदि सिख किसी भिंडरांवाले को अन्दर बिठाकर स्वर्ण मन्दिर को राष्ट्र से मुठभेड़ की मुद्रा में खड़ा करना चाहेंगे और सोचेंगे कि सम्बन्धों की घनिष्टता को कोई आंच नहीं आनी चाहिए, तो यह सोचना गलत होगा । यदि पंजाब में सही राजनीति नहीं पनपी और पंजाब के बाहर बसे सिख संगठित होकर पंजाब को उसके लिए मजबूर

रुग्ण मानसिकता का प्रमाण

इन्दिरा गांधी की हत्या से लगभग १५ दिन पहले देश के समस्त सिखों में गुरमुखी में लिखा एक गुमनाम पर्चा गुमनाम तरीके से वितरित किया गया था। उससे पता लगता है कि इन्दिरा गांधी की हत्या में कौनसी जहरीली मानसिकता कारण थी। उस पर्चे में कहा गया था –

शहीदां दे सिरताज श्री गुरू अरजन देव जी दे शहीदी गुरपरब ३ जून १९८४ नूं जालम जकरीए दा रूप धारन कर चुका इस हिन्दू समराज दी डैण इंदरा ने पूरे पंजाब अते चण्डीगढ़ विच करफिऊ लगाके श्री हरमंदर साहिब अमृतसर नूं फौज दे घेरे विच लै लिया। फौजी कार्रवाई दौरान सरकार ने आधुनिक हथियारां, बखतरबंद गड्डीआं अते टैंका दे नाल श्री गुरू रामदास लंगर दी इमारत, श्री गुरू राम दास सरां, गुरू नानक निवास, समुंदरी हाल अते सभ तों उओ भगती दे शकती दे सांमे श्री हरिमंदर साहिब नूं बहुत भियानक नुकसान पहुंचाइया अते राजसी प्रभुसत्ता दे प्रतीक श्री अकाल तखत साहिब ने तोपां, टैंका नाल उड़ाके ढेर ढेरी कर दित्ता। इस फौजी कारवाई दौरान श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी दीआं पवित्तर बीड़ां, कुत्ते फौजीआं ने (जोकि जुत्तीयां पाके शराबां ते सिगरटां पीके अंदर आए सन) अगन भेंट कर दित्ता। इस तों इलावा सिख रफरस लाइब्रेरी जिथे सिखी इतिहास दी गौरव-मई बहुमुलीआं कितावां अते गुरू गरंथ साहिब जी दे सरूप बीड़ां पहयां सन नूं आप अग लाके सुआह दा ढेर कर दित्ता। तोसा खाना जित्थे करोड़ां अरबां रुपये दी चांदनी, सोने दीआं कहीआं, बाए अते होर बेअंत कीमती जल्लो दा समान पिया सी.तोपां नाल उड़ाके ढहि ढेरी कर दित्ता। पुरातन शशतर जोकि दसमें पातशाह श्री गुरू गोबिंदसिंह जी दी निशानी दे तौर ते रखे गए सन ओह वी तहिस नहिस कर दित्ते।

उस पर्चे में इन्दिरा गांधी, तथा भारतीय सेना के प्रति जो अपशब्द प्रयुक्त किए गए हैं, उन्हें नजरन्दाज कर दें, तब भी, कुछ प्रश्न साफ साफ उभरते हैं –

१. सैनिक कार्रवाई से पहले स्वर्ण मन्दिर के अन्दर जो कुछ हुआ, उसका उल्लेख करने की जरूरत क्यों नहीं समझी गई ?

२. स्वर्ण मन्दिर के बाहर सारे पंजाब में जो निर्मम हिंसाकाण्ड चलता रहा, उसका उत्रदायित्व किस के सिर पर है ?

३. क्या भिंडरांवाले के कुकृत्यों के चलते अकाल तख्त और स्वर्ण मन्दिर की पवित्रता बनी रही थी ?

४. पहले से भी अधिक भव्य रूप में करोड़ों रु. की लागत से पुनर्निमित अकाल तख्त को स्वीकार क्यों नहीं किया गया ?

फिर उस पर्चे में कहा गया था –

(१) जिस सरकार ने छेवें पातिशाह श्री गुरू हरगोविंद साहिब जी वलों, बाबा बुढ़ा जी वलों अते भाई गुरदास जी वलों उसारे गए पवित्तर श्री अकाल तखत साहिब नूं ढहि ढेरी कर दित्ता, की ऐसी जालम सरकार नूं असीं मानता देंदे हां ?

(२) की साडे लहें दिल्ली दा तखत पहिलां है जा अकाल तखत ?

(३) की साडे लई झूठ फरेब दे आधार ते बणिया होइया संविधान कोई महता रखदा है ?

(४) की ऐसे संविधान नूं मन्नणा गुरू घर नाल धोखा नहीं जिस विच श्री गुरू ग्रंथ साहिब दे सरूप अते पवित्तर गुरधामां नूं तबाह करन लहें याचनावां रखवा गहैयां हन ?

(५) की पंजाब दे सिख जोकि हिंदू राशटर नूं कणक, बिजली, अते पाणी दे रहे हन उह इहनां दी तोपां अते टैंकां दे शिकार बणन लहें ही। इन्हां नू तदे वी असीं कणक, बिजली अते पाणी हिंदू राशटर नूं देणा है ?

नहीं खालसा जी, इह खालिस्तान राशटर दी मलकीयत है। इहनां नूं बाहर नहीं जाण देणा।

(६) की असीं उहनां हिंदू सामराज नाल रहिणा कदे वी पसंद करांगे जिन्नां ने हरमिन्दर साहिब ते होए फौजी हमले उपरंत बेअंत प्रकार दीआं मिठाइयां अते शराबां मिलटरी अते सी आर पी एफ नूं वंडके जशन मनाए ? खालसा जी सोचो कि एह कुत्ते हिंदू गुरू घर दे ढहि-ढेरी होण उपरंत खुशीयां मनाण ते फेरी वी बेदोशे अते बे-गुनाह मन्ने जाण ?

(७) गुरू घर दी बीड़ दी बे-अदवी ते हजारां बे-कसूर सिंहां दे शहीद होण उपरंत की अते वी असीं देश भगती लई देश दीयां सरहदां दे रखवाले बण के बैठणा है ? इन्हां सारे सवालां दा जुवाब खालिसतान दी स्थापना ही है। खालेसे नूं तां हर सिख लई गुरू घर पहिलां है बाद विच इह देश अते इस दा संविधान है। हर सिख भावें उह फौज विच है, एअर फोरस, नेवी, पुलिस, बी ऐस ऐफ, सी आर पी एफ, सरकारी नौकरी, गैर-सरकारी नौकरी, दुकानदार, पेशा करन वाला वां मजदूर है उसदा इह फरज है कि ईस जालम सरकार तों बदला लए उसदे तखत नूं उसे तरां उड़ा दित्ता जाए जिवें कि साडे गुरू साहिबान दे बखशे होए अकाल तखत नू उडाइ दिता गिरा है। अते मस्से रंगड़ वांग कुत्ती, डैण इंदरा अते गुरू घर दे लूण हरामी जलील जैले नूं सुखा सिंह अते महिताब सिंह बण के गड्डी चढ़ा दित्ता जाए। हिंदू सामराज दा हर हिंदू ही गुरूं घर दा दोखी है, निचंक है, उसे तरां हमेशा दी नींद सुआ दित्ता जावेगा जिस तरां इस जालम सरकार दे पिठूवां ने बे-कसूर सिंह सिंघणीआं अते बच्चियां दे हत्थ बन्हके गोलीआं नाल भुन्न के हमेशा दी नींद सुआ दित्ते। गुरू दा हुकम है

जिस पिआरे सिऊ नेहु, तिस आगे मरि चलिए।

यहां फिर निम्न प्रश्न पैदा होते हैं जिन पर प्रत्येक समझदार व्यक्ति को विचार करना होगा –

१. यदि अकाल तख्त भारत के तख्त से ऊपर है तो क्या सिख जामा मस्जिद और तिरुपति के मन्दिर को भी वही दर्जा देने को तैयार हैं ?

२. यदि भारतीय संविधान झूठ और फरेब से भरा है तो उसी संविधान के अन्तर्गत चुनाव लड़ना और सत्ता-सुख भोगने की क्या संगति है ?

३. भारत को हिन्दू साम्राज्य मान लेने पर क्या अपने आपको गैर-हिन्दू कहने वाले ये सिख स्वयं दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रहने को तैयार हैं ?

४. सब सिखों को सरकार से बदला लेने के लिए हिंसा के लिए उकसाना क्या स्वयं सिखों के हित में है ?

५. पंजाब का गेहूँ, बिजली और पानी केवल पंजाब की मिल्कियत है, तो शेष भारत के किसी भी हिस्से में पैदा होने वाली किसी भी चीज में तो उनका कोई हिस्सा नहीं है न ?

६. बदला लेने की बात करने वालों को पंजाब के बाहर देश के अन्य भागों में बसे सिखों की कोई हित-चिन्ता है क्या ?

७. क्या गुरु नानक की आध्यात्मिकता का और गुरुवाणी का यही संदेश है ?

स्वयं सिखों को, और अन्य देशवासियों को भी, ठण्डे दिमाग से, इन प्रश्नों पर विचार करना होगा, क्योंकि इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर है – स्वयं सिखों का भविष्य भी।

हताहत नागरिक और बरामद हथियार

श्वेत-पत्र के अनुसार ३० जून तक पंजाब में आतंकवादियों के खिलाफ की गई कार्रवाई में कुल ६४६ लोग मारे गए, जिसमें ९२ सैनिक व सैनिक अधिकारी थे। ४७१२ आतंकवादी या उनके समर्थक गिरफ्तार किए गए। सबसे अधिक हताहत स्वर्ण-मन्दिर परिसर में हुए हैं, जहां ४९३ नागरिक और ८३ सैनिक व उनके साथी मारे गए। बरामद हथियारों की सूची भी काफी बड़ी है, जिसमें मशीनगनें, राइफलें और ट्रांसमीटर भी मिले हैं।

३० जून ८४ तक हताहत नागरिकों और सैनिकों तथा बरामद हुए हथियारों व गोला बारूद का विवरण

	स्वर्ण मंदिर क्षेत्र में	अन्य धार्मिक स्थानों पर	अन्य क्षेत्रों में कर्फ्यू उल्लघंन/घेरा डालने और तलाशी में	कुल
१	२	३	४	५
१. हताहत नागरिक/आतंकवादी				
क. मारे गए	४९३	२३	३८	५५४
ख. घायल	८६	१४	२१	१२१
२. हताहत सैनिक				
क. मारे गए				
१. अधिकारी	४			४
२. जे.सी.ओ.	४			४
३. अन्य रैंक	७५	१	८	८४
ख. घायल				
१. अधिकारी	१२	३		१५
२. जे.सी.ओ.	१७	२		१९
३. अन्य रैंक	२२०	१९	१४	२५३
३. गिरफ्तार किए गए नागरिक/आतंकवादी	१५९२	७९६	२३२४	४७१२

४. बरामद हुई वस्तुएं				
(क) लाइट मशीन गनें	४१	–	–	४१
(ख) स्टेन गनें	५७	७	३२	९६
(ग) पायन्ट ३०३ राइफलें	३७७	५	५०	४३२
(घ) ७.६२ एम एफ सेल्फ लोडिंग राइफलें	८३	–	१५	९८
(ङ) १२ बोर गनें	८८	५१	२०४	३४३
(च) ७.६२ एम एफ चीनी राइफलें	५२	–	–	५२
(छ) अन्य प्रकार की राइफलें	७१	२१	३६	१२८
(ज) सभी प्रकार के रिवाल्वर	४९	१५	२५	८९
(झ) सभी प्रकार के पिस्तौल	३३	१०	६५	१०८
(ञ) १२ बोर की देशी पिस्तौल	६१	१७	११	८९
(ट) आर. पी. जी. (एंटी टैंक हथियार)	२	–	–	२
(ठ) देशी २ इंच के मोरटार			३	३
(ड) माइन	१२८	–	–	१२८
(ढ) गोलाबारूद/विस्फोटक	बहुत बड़ी संख्या में बरामद हुए हैं।			
(ण) एच. एफ. ट्रांसमीटर रिसीवर	१			
(त) सोना	५.४ किलो			
(थ) चांदी	१.१४ किलो			
(द) अमूल्य रत्न	१.४४२ किलो			
(ध) नकदी	३० लाख से ऊपर	–	१,५३,५५९ रु.	३१,५३,५५९ रुपए से ऊपर
(न) ग्रेनेड मैनुफैक्चुरिंग प्लांट	१			
(प) स्टैन पार्ट्स मैनुफैक्चुरिंग शाप	१			
(फ) पाक मुद्रा	–	–	१,२९,९६६ रु.	१,२९,९६६ रु.
(ब) नकाब	–	५	–	५